समग्र ग्राम-सेवा की ओर

धीरेन्द्र मजूमदार

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, काशी

पहली बार : ५,०००
मार्च, १९६०
मूल्य : ढाई रुपया

मुद्रक :
ओमप्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५५८९-१६

प्र का श की य

'समग्र ग्राम-सेवा की ओर' पुस्तक के पहले दो खण्ड हमारे पाठक पढ चुके हैं। उन दोनो खण्डो में श्री धीरेन्द्रभाई ने अपने वीस साल के ग्राम-सेवा के अमूल्य अनुभव दिये थे। प्रस्तुत तीसरा खण्ड उसीके वाद की कड़ी है।

विश्व की राजनीति तथा अर्थनीति में वहुत परिवर्तन हो चुका है, परन्तु भारत की ग्रामीण समस्याएँ आज भी वैसी ही वनी हुई है, जैसी पहले थीं। भूदान-आन्दोलन ग्राम-स्वराज्य की मंजिल तक पहुँच चुका है। उसकी सफलता के लिए सर्वांगीण दृष्टि से सेवा-योजना वनाये विना काम न चलेगा।

हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत पुस्तक में श्री धीरेन्द्रभाई ने अपने आज तक के प्रयोग, परिणाम और सुझाव देकर इसे अद्यतन वना दिया है। ग्राम-सेवा के इच्छुक प्रत्येक भाई-वहन को इस पुस्तक से अवश्य ही प्रेरणा मिलेगी।

अनुक्रम

द्वितीय अध्याय

समग्र
ग्राम-सेवा की ओर

o

तीसरा खण्ड

o

प्रयोग - परिणाम - सुझाव

सिंहावलोकन

: १ :

अभय-आश्रम, बलरामपुर
१६-७-५७

प्रिय आशा बहन,

१५ साल बीत गये। सन् '४२ के जेल-प्रवास से ग्राम-सेवा की आखिरी कहानी लिख भेजी थी। पिछले १५ सालो मे देश और दुनिया मे इतने अधिक परिवर्तन हो गये कि ऐसा लगता है, मानो सैकडो वर्ष बीत गये। देश आजाद हुआ। लोगो ने बडी धूमधाम से आजादी की खुशियाँ मनायी। फिर कुछ दिन इसी खुशी मे मस्त रहे। उसके बाद लोग एक दूसरे की शिकायत करने लगे, जैसे किसी हारी हुई टीम के खिलाडी किया करते है।

देखते-देखते भारत के आसपास के देशो मे भी आजादी की लहर उठी। सारी एशिया मे नव-जीवन की नव-चेतना का सचार हुआ और चारो तरफ राष्ट्र-निर्माण की योजनाओ की धूम मची। वह धूम आज भी मची हुई है।

एशिया मे नवचेतना

एशिया के देशो की आजादी से पश्चिमी देशो के लिए शोषण का अवसर घटता चला गया। फलस्वरूप उनके जीवन-सघर्ष की समस्या उठ खडी हुई। इससे इन देशो की आपसी कशमकश बढी। युद्ध तो समाप्त हुआ, पर इस कशमकश ने शान्ति स्थापित नही होने दी। युद्ध के दिनो मे जो राष्ट्र मित्र-राष्ट्र थे, वे ही एक-दूसरे के साथ होड करने लगे। फिर भी सबको शान्ति की चाह थी। वह इसलिए नही कि वे शान्तिवादी या शान्ति-प्रिय हो गये थे, बल्कि इसलिए कि युद्ध की समाप्ति इतिहास की एक विशिष्ट घटना से हुई।

१९४५ मे जापान के हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराया गया, जिससे पलभर मे वे दोनो नगर ध्वस्त हो गये। इसे देखकर सारा विश्व स्तम्भित हो उठा। वह किंकर्तव्यविमूढ हो गया और इसी किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति मे युद्ध की समाप्ति हुई। यह बात तो इतिहास ही बतायेगा कि वस्तुतः युद्ध की समाप्ति हुई या युद्ध स्थगित हुआ। लेकिन इस घटना ने समस्त मानव-समाज की विचारधारा तथा इतिहास की दिशा ही बदल दी। १९४५ की इस घटना से पहले का सारा इतिहास युद्ध का ही इतिहास रहा। वीर-गाथा इस इतिहास की एक मुख्य सम्पत्ति मानी जाती थी। इतना ही नही, मानव-समाज के काव्य और महाकाव्य भी युद्ध-केन्द्रित ही रहे है। अपनी रामायण और महाभारत को ले, चाहे ईरान की रुस्तम और सोहराब की कहानी ले या यूनान और इटली की पुराण-कथा ले, सबमे आदि से अन्त तक युद्ध की ही कहानी भरी पडी है।

अणुबम का विस्फोट

अणु-शक्ति के आविष्कार ने तथा हिरोशिमा और नागासाकी के अनुभव ने मानव के नेत्रो के समक्ष यह बात स्पष्ट कर दी है कि भविष्य का इतिहास युद्ध का नहीं, शान्ति का ही होगा। अगर ऐसा नही हुआ, तो सम्पूर्ण सृष्टि इतिहास की विडम्बना से ही मुक्त हो जायगी। यही कारण है कि १९४५ से १२ साल का जो यह युग बीत गया, इसका इतिहास समस्त ससार द्वारा शान्ति की निष्फल खोज का इतिहास हुआ। निष्फल होने पर भी यह निष्क्रिय नही है। चिन्तन जारी है, उसके साथ-साथ युद्ध का खतरा भी अपनी जगह पर कायम है।

आज जब हम नयी क्रान्ति और नयी शान्ति की बाते करते है, जब लोगो की क्रान्ति मे निहित शान्ति और शान्ति मे क्रान्ति की अनिवार्यता की ओर सकेत करते है, तो देहाती लोग हमसे पूछते है कि क्या कभी हमारे बाप-दादो ने ऐसा किया था, जो आप इस तरह की बात करते है? और विद्वज्जन हमसे इतिहास की नजीर माँगते है। वे पूछते है कि इतिहास के सन्दर्भ म इस विचार का स्थान कहाँ है? वे भूल जाते है कि

बाप-दादो ने जिस पृष्ठभूमि मे अपना जीवन-यापन किया था, वह पृष्ठभूमि सम्पूर्ण बदल गयी है और विज्ञान ने पुराने इतिहास को बदलकर नये इतिहास के निर्माण की ऐतिहासिक आवश्यकता उत्पन्न कर दी है।

यह मैने थोडे मे आज की स्थिति का सिंहावलोकन किया। इस इतिहास को ठीक बनाने के लिए बापू ने हमे किस किस काम का इशारा किया, उस पर अब हमे नजर डालनी चाहिए। तुम तो उन दिनो सेवाग्राम की जगह-जमीन, बचा कचा अगोरे माँ बनी बाहर ही बैठी रही। इसलिए देश और दुनिया की सारी हलचलो को प्रत्यक्ष देखती रही। तुम्हे मालूम ही है कि किस हालत मे बापू जेल से छूट आये।

सेवाग्राम मे नेताओं का जमघट

बापू के एक महीने बाद मै भी जेल से छूटकर बाहर आया। बाहर आते ही बीमार हालत मे सेवाग्राम पहुँचा। आराम करने के लिए उन्होने जब मुझे एक महीने के लिए रोक लिया, तो तुम्हारे ही मकान पर ठहरने का मुझे सौभाग्य मिला। उन दिनो देशभर के जेल से छूटे नेताओ के पास कोई काम था नही। बापू के पास सबका जमघट लगा रहता था। तुम लोगो के स्नेहभरे आतिथ्य के कारण सबका जमाव तुम्हारे यहाँ ही होने से मुझे सीखने और समझने का बडा मौका मिला, क्योंकि हमेशा गॉव के कोने मे बैठकर सेवा करने के कारण पहले कभी इतने लोगो का सत्सग नहीं मिला था। सच तो यह है कि उस समय तुम्हारे यहाँ मैने जो दो मास बिताये, वे मेरे जीवन की सबसे बडी पूँजी है। नायकम्‌जी के और तुम्हारे स्नेह के साथ साथ 'मितु' का प्यार भूलने की वस्तु नही है। वह तो अपने-आपमे एक बडी सम्पत्ति है ही। लेकिन जो बात आज मै कहना चाहता हूँ, वह यह है कि उन्ही दो महीनो मे मुझे बापू की क्रान्ति का प्रत्यक्ष दर्शन मिला और मेरे सामने यह स्पष्ट हुआ कि हम किसलिए है और हमारे मार्फत बापू करना क्या चाहते है।

उससे पहले मै इतना ही समझता था कि देश को आजाद करने के लिए गॉव-गॉव मे जन-सम्पर्क करना है और जो कुछ करना है, उसे

एकाग्र और शाश्वत रूप मे करना है। ग्राम-सेवा के अनुभव के कारण समाज के शोषण का कुछ धूमिल दर्शन अवश्य हुआ था। पर वह सारा दर्शन और सारा विचार अत्यन्त अस्पष्ट था। न तो कोई स्पष्ट मार्ग ही दीखता था और न उसकी खोज के लिए कोई बाहोश चेष्टा ही की थी। काम के दौरान मे महज रूप से जो कुछ छिटपुट विचार आ जाते थे, उन्हीके आधार पर कुछ चिन्तन हो जाता था।

शोपण का धूमिल दर्शन

'४१-'४२ के पत्रो मे मैने 'भलमनई' और 'चमार-सियार' रूपी दो वर्गो के परस्पर व्यवहार का वर्णन किया था। उसीसे शोषण के स्वरूप का ध्यान किस तरह आया और मेरी भावनाएँ तथा सहानुभूति किस प्रकार इन 'चमार सियार' लोगो की ओर बढी, यह भी मै बता चुका हूँ। उन्ही लोगो के घरो मे मेहमान बनने के कारण उनके साथ बाते करते हुए उनके काम के स्थान पर चले जाना और काम मे उनके साथ शामिल हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ सहज रूप से विकसित होती गयी। इन प्रवृत्तियो के पीछे उन दिनो मे 'श्रम-प्रतिष्ठा' या 'श्रममूलक समाज-रचना' के विचार की कोई बुनियाद नही थी। मानो भगवान् नेपथ्य मे ही मेरे भीतर इन विचारो की नीव डाल रहे थे। बाद मे रणीवॉ मे मै किस प्रकार श्रम का आग्रह रखता रहा, उसकी भी कहानी लिख चुका हूँ। यद्यपि उस समय श्रम की अनिवार्य आवश्यकता महसूस करता था, फिर भी उस समय तक श्रम-आधारित व्यवस्थित समाज रचना की कल्पना नहीं उठी थी।

श्रम-प्रतिष्ठा की पूर्वभूमिका

जेल से छूटने के बाद तुम लोगो के साथ जो दो महीने बिताये, उसी बीच मुझे एक नयी दृष्टि मिली और शोषण-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज का मानो स्पष्ट चित्र मेरी ऑखो के सामने आ गया। यह सब किस प्रकार हुआ, उसकी कहानी फिर किसी दिन लिखूँगा। ● ● ●

समाधान की झलक : २ :

अभय-आश्रम, वलरामपुर
१७-५-'५७

सन् १९४१ मे मै आगरा सेंट्रल जेल मे नजरबन्द था। मेरी बैरक मे दो-तीन भाइयो के सिवा बाकी सब कम्युनिस्ट जवान थे। उनसे मेरा अच्छा स्नेह-सम्बन्ध हो गया था। वे सब मुझे 'दादा' कहकर पुकारते थे। उन्ही दिनो मै तुम्हारे पास अपनी ग्राम-सेवा के अनुभव लिख भेजता था। उन पत्रो को हमारे कम्युनिस्ट साथी पढा करते थे। मेरा 'भलमनई' वाला विचार वे बहुत पसन्द करते थे।

कम्युनिस्टो से सम्पर्क

मेरी बातचीत से कम्युनिस्ट भाइयो को ऐसा लगता था कि मै उनके साथ हो सकूँगा। अत. वे अपना साहित्य पढने का मुझसे आग्रह करते रहते थे। लेकिन तुम्हे मालूम ही है कि पढने-लिखने से मेरा कभी वास्ता रहा नही। मै उनकी किताबे ले तो लेता था, पर दो चार पन्नो से अधिक पढ नही पाता था। किन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके विचारो मे दिलचस्पी आने लगी और गपशप मे मैने उनसे सारा विचार जानने की कोशिश भी की। वे सब मुझे बडे भले भी लगते थे। लेकिन उनमे कही कुछ ऐसी बाते थी, जिनसे उनके सिद्धान्त मेरे दिल मे जमते नही थे। दूसरो को अपने विचार समझाने के उनके तौर तरीके भी मुझे पसन्द नहीं थे। बाद मे सन् '४२ का आन्दोलन शुरू होने पर जब फिर से मै नजरबन्द हुआ और इलाहाबाद सेण्ट्रल जेल मे पहुँचा, तो वहाँ के कुछ कम्युनिस्टो से मेरा परिचय हुआ। ढाई साल मे धीरे-धीरे मैने उनकी पाँच-सात किताबे भी पढ डाली। उन किताबो से कार्ल मार्क्स के दार्शनिक विश्लेषण मे मुझे कुछ सार तो मालूम हुआ, परन्तु ऐसा लगा कि उनका समाधान अधूरा-

सा ही है। तात्कालिक विषम परिस्थिति के निराकरण का उन्होने एक सामयिक-सा हल मात्र निकाला है।

कम्युनिस्टो का जो थोडा-सा साहित्य मैने पढा, उसमे मुझे एक और कमी महसूस हुई। मुझे ऐसा लगा कि उनके विचार तर्कपूर्ण तो है, लेकिन उनके पीछे मानव-सस्कृति की बुनियाद का अभाव है। उनमे मानवीय भावनाओ का निरादर है, यद्यपि मानव-सन्ताप का निराकरण ही उनके दर्शन का एकमात्र आधार है। इन कारणो से मेरा आकर्षण इनके विचारो की ओर से घटता चला गया। वस्तुतः उस समय मुझमे इतनी वैचारिक क्षमता नही थी, जिससे मै मार्क्सवादी दर्शन का ठीक से विश्लेषण करता, उस पर विचार करता और उसके फलस्वरूप उसे अग्राह्य मानता। लेकिन स्पष्ट वैचारिक भूमिका न होते हुए भी मेरा आकर्षण सहज ही हट गया। तुम अगर पूछोगी, तो मै उसका कोई कारण नही बता सकूँगा। यह बात मैने इसीलिए लिखी है कि यदि तुम लोग तात्त्विक बहस करना चाहो, तो मै उसके लिए असमर्थ हूँ, यह बात तुम्हे मालूम हो जाय। सच तो यह है कि मनुष्य की जीवनधारा के निर्णय के पीछे हमेशा तर्क ही नही रहता। उसके पीछे स्वभाव, स्वधर्म तथा सस्कृति भी काम करती है। मनुष्य तर्क इनकी शोध मे करता है। यह अवश्य है कि कभी तर्क से किसी का अन्तर्निहित स्वभाव प्रस्फुटित होता है और कभी कोई स्वभाव से ही तर्क करता है। मेरे जीवन मे तर्क से स्वभाव ही मुख्य स्थान रखता आया है, यह सब तुम जानती ही हो। हालाँकि आजकल लोग तर्क के कारण ही मेरे तरफ आकर्षित होते है। तो कम्युनिस्टो के विचार के प्रति अत्यन्त आकर्षण होने के बावजूद मै जो उससे विमुख हुआ, उसका कारण मेरा स्वभाव और सस्कृति ही है, ऐसा मानना चाहिए।

कम्युनिस्ट-विचार मे कमी

इसी समय से मेरे भीतर विचार मन्थन जाग्रत हुआ। मै सोचने लगा कि ये लोग कहते तो ठीक है। समाज की सम्पत्ति का निर्माण करने मे जो लोग खून-पसीना एक करते है, उन्हे दोनो जून खाने का साधन नहीं

और जो सम्पत्ति के उत्पादन मे एक बूँद भी पसीना नही बहाते, वे मौज करते है। इस अन्यायपूर्ण और अनुचित स्थिति का निराकरण होना चाहिए। इतना ही नही, सामाजिक प्रतिष्ठा भी उलटी है। जो लोग कमाकर दुनिया को खिलाते है, वे छोटे माने जाते है और जो उनके कन्धे पर बैठकर आराम करते है, वे भद्र लोग—'भल्मनई'—है। यह स्थिति कहाँ तक उचित है? इसके साथ-साथ मै यह भी सोचता था कि अगर इन लोगो के विचार के पीछे सास्कृतिक भूमिका या मानवीय भावना नही है, तो किस विचार के आधार पर ऐसी हास्यास्पद परिस्थिति का निराकरण किया जा सकता है? मै यह सब सोचता रहा, लेकिन मन को किसी भी प्रकार समाधान नहीं मिला। चिन्तन के दौरान मे कुछ थोडा विचार अवश्य कर लेता था, जिसकी झलक मेरे सन् '४२ वाले पत्रो मे तुम्हे मिलती होगी।

तीव्र विचार-मन्थन

ऐसी उधेडबुनवाली मानसिक स्थिति मे सन् ४५ मे जेल से निकला। मेरे सेवाग्राम पहुँचने के कुछ ही दिन पहले से बापू कार्यकर्ताओ के बीच रचनात्मक कार्य के वर्तमान स्वरूप तथा भावी परिकल्पना पर चर्चा कर रहे थे। चरखा सघ के नव-सस्करण पर सात दिनो तक बापू-जाजू सवाद हो चुका था। कार्यकर्ताओ मे उसकी बडी चर्चा थी। जिस दिशा मे मेरी मानसिक उथल पुथल चल रही थी, उसी दिशा मे बापू के विवेचन की बात सुनकर मुझे बडी राहत मिली। चिन्तन के लिए एक दिशा मिल गयी। उन्होने कहा कि "अग्रेज जा रहे हैं। शायद हम जितनी जल्दी सोच रहे है, उससे भी जल्दी वे चले जायँ। अब हम सबको इस श्रद्धा का दर्शन करना है कि चरखा शोषण-निराकरण और अहिसक समाज स्थापना का साधन है।" बापू की ये सब बाते मानो आँखो के सामने एक नयी ज्योति प्रकट कर रही थी। उन्होने तालीमी सघ के सामने कहा कि "गर्भ से मृत्यु तक तालीम का क्षेत्र हो और नयी तालीम मे युग-युग की समस्याओ के समाधान की शक्ति निहित रहे।" कस्तूरबा-ट्रस्ट के सदस्यो के सामने

बापू की क्राति-कारी विचारधारा

उन्होने लोकतन्त्र की नयी तथा क्रातिकारी व्याख्या पेश की तथा देश के सामने समग्र ग्राम-सेवा का सर्वांगीण एव बुनियादी कार्यक्रम रखा और उसके लिए सात लाख ऐसे नौजवानो का आह्वान किया, जो अपने श्रम से स्वावलम्बी बनकर सेवा कर सके। बापू की इन बातो ने हमारे सामने एक नये दर्शन का द्वार खोल दिया।

बापू के समग्र ग्राम-सेवा के कार्यक्रम तथा उसके लिए शरीर-श्रम से गुजारा करनेवाले सात लाख जवानो के आह्वान का मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पडा। ऐसा लगा, मानो जिस वस्तु की खोज

आह्वान का असर

मे मै इतने दिनो से व्याकुल था, वह बिलकुल हाथ मे आ गयी। वर्ग-विषमता का निराकरण होना चाहिए—यह बात मुझे ही नही, बल्कि सारे आधुनिक विचारो को मान्य थी। लेकिन वर्ग-सघर्ष से इसका निराकरण नही होगा, ऐसा मै मानता था। जेल मे मै कम्युनिस्टो से बहस भी करता था। उनसे कहता था कि सघर्ष की प्रक्रिया यदि अनन्त है, यदि सामन्तवाद से सघर्ष कर पूँजीवाद उसे समाप्त करता है और पूँजीवाद से सघर्ष कर 'प्रोलेटेरियटवाद' उसे समाप्त करता है, तो वह कौन-सी वस्तु होगी, जो इस प्रोलेटेरियटवाद से सघर्ष कर इसे समाप्त करेगी?

बापू ने शोषणहीन समाज कायम करने के लिए नयी क्रान्ति मे नये वाहको का जो आह्वान किया और उनके लिए जो यह शर्त रखी कि वे अपने पुरुषार्थ से स्वावलम्बी बनकर श्रमिक-वर्ग मे

नयी विचार-दृष्टि

विलीन हो जायँ, शोषण-निराकरण की उनकी इस विचारधारा ने एक नयी क्रातिकारी दिशा खोल दी। वर्ग सघर्ष नही, वर्ग-परिवर्तन ही वर्ग-भेद के निराकरण का सही मार्ग है, यह स्पष्ट हो गया। जेल मे कम्युनिस्ट मित्रो से तर्क करते समय मै उन्हे बताता था कि बेहोश शरीर-श्रमिको का शोषण ये बुर्जुआ-वर्गवाले करते है। अतएव श्रमिको को होश दिलाकर इन बुर्जुओ को खतम करने से उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि आखिर होश कौन दिलायेगा?

वाहोश-वर्ग मे से ही आप जैसे नेता उनमे असन्तोष फैलाकर दूसरे बुर्जुओ का खातमा करेगे। फिर आप जैसे नेता लोग ही उनकी छाती पर बैठकर किसी न किसी बहाने उनका शोषण करते रहेगे। तो आप लोग एक नये प्रकार के बुर्जुआ बनेगे। इस बात का वे खण्डन करते थे और खूब तर्क-पूर्ण खण्डन करते थे। मै उनका जवाब ठीक से नहीं दे पाता था। लेकिन मन मे अपनी बात पर श्रद्धा कायम रहती थी। वर्ग-सघर्ष के पीछे मानव-सस्कृति की हत्या की जो कल्पना सामने आ जाती थी, उस कारण भी मेरी तबीयत उनकी दलीलो को स्वीकार करने मे झिझकती थी। उन दिनो मेरे सामने वर्ग-निराकरण का दर्शन स्पष्ट नही था। आज जिस प्रकार हुजूर-मजूर के तत्त्व का विश्लेषण करता हूँ, उतना उन दिनो नही कर पाता था। लेकिन उस दिशा मे दिमाग घूमता रहता था। चरखा-सघ के नव-सस्करण की बातचीत से निश्चित दिशा मे विचार चलने लगा।

बापू की समग्र ग्राम-सेवा की परिकल्पना और उसके लिए नौजवानो के आवाहन के फलस्वरूप बहुत-से नौजवान इस काम के लिए अपना नाम भेजने लगे। ऐसा निर्णय हुआ कि इन जवानो का सेवाग्राम मे एक शिविर चलाया जाय, जिसमे उन्हे नव-सस्करण के तत्त्व समझाये जा सके। उस शिविर मे मुझे भी बोलना पडा। उन दिनो श्रेणी विषमता की समस्या मेरे दिमाग मे भरपूर थी। बीस साल पहले फैजाबाद जिले के देहातो मे घूमते समय भलमनई यानी बाबू लोगो और 'चमार-सियार' यानी मजदूर लोगो के आपसी सम्बन्ध के कारण दिमाग की जो परेशानी थी, इतने दिनो बाद उसका समाधान पाकर मैं प्रफुल्लित था। ऐसी मनोदशा मे मैने समाज के शोषण के स्वरूप का जो विश्लेषण किया, उससे सेवाग्राम के लोग बहुत प्रभावित हुए। जो लोग मुझे जानते थे, वे मेरे मुँह से उन बातो को सुनकर कुछ चकित भी हुए, क्योकि पढने-लिखने से मेरा सम्बन्ध नही है, यह उन्हे मालूम था। मैने

सेवाग्राम का शिविर

कम्युनिस्टो के दर्शन की असारता का जो विवेचन किया, उसे सुनने के लिए वे तैयार नही थे। 'हुजूर' और 'मजूर' शब्द उस शिविर मे ही निकले। कुछ साथियो पर मेरी बातो का उलटा असर हुआ। वे कहने लगे कि यह गाधीवाद नही है। कुछ लोग तो यह भी कहने लगे कि मालूम होता है, जेल मे धीरेन भाई पर कम्युनिस्टो का असर हुआ है और अब तो वे प्रच्छन्न कम्युनिस्ट जैसे लगते है। ● ● ●

बराँव का केन्द्र

: ३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१७-७-'५७

सेवाग्राम मे डेढ महीने रहते समय जैसी वैचारिक स्पष्टता हुई, उसका सक्षिप्त विवरण पिछले पत्र मे लिखा था। बापू के नये विचार को लेकर मै अपने प्रदेश मे लौटा। गाधी आश्रम के साथियो से उसकी चर्चा की। उन्हे विचार तो ठीक लगा, लेकिन बापू की सलाह के अनुसार खादी-काम मे आमूल परिवर्तन को उन्होने कुछ अव्यावहारिक माना। विचित्र भाई ने मुझसे-कहा कि मै यह विचार आश्रम के सभी कार्यकर्ताओ से कहूँ और इसके लिए आश्रम के केन्द्रो मे जाकर चर्चा करूँ। तदनुसार मैने एक महीने तक आश्रम के केन्द्रो मे घूमकर चरखा-सघ के नव-सस्करण के बुनियादी तत्त्वो को समझाने की कोशिश की। आश्रम के भाइयो को मैने समझाया कि बापू के बताये हुए तरीके से खादी का काम करने पर ही 'चरखा अहिसा का प्रतीक' सिद्ध हो सकेगा। इस प्रकार से हम जनता मे प्रवेश कर शोषण-निराकरण का कार्यक्रम अगर नहीं चलायेगे, तो बापू के कहे अनुसार भले ही अग्रेज जल्दी चले जायॅ और देश मे राष्ट्रीय सरकार बन जाय, लेकिन वह सरकार शोषक-वर्ग के हाथ मे ही चली जायगी और वह निहित स्वार्थ का ही सरक्षण करेगी। फिर शोषण-निराकरण का कार्यक्रम दूर की चीज बन जायगा। हम यदि उस कार्यक्रम को चलाना भी चाहेगे, तो वह कठिन होगा। इतिहास कहता है कि विदेशी सरकार किसी देश के नागरिको पर जितना दमन-चक्र चला सकती है, स्वदेशी सरकार अपने विरोधियो का उससे अधिक दमन कर सकती है, क्योकि जहॉ विदेशी राज्य मे देश की सारी जनता कम से कम मन से विरोध मे शामिल रहती है, वहॉ स्वदेशी राज्य मे देश

का वह वर्ग, जिसका सरक्षण सरकार करती है, उसके दम्न-कार्य मे साथ देता है।

इस प्रकार से मै महीनेभर प्रचार कार्य करता रहा। लेकिन आश्रम ने यह निर्णय किया कि मै अलग से आश्रम के ही मातहत कही बैठकर समग्र ग्राम-सेवा का प्रयोग करूँ और आश्रम अपना काम पूर्ववत् चलाता रहे।

ग्राम-सेवा का प्रयोग

समग्र ग्राम-सेवा के काम मे जो लोग मेरे साथी बने, उनके लिए यह आवश्यक था कि वे इस विचार को स्वीकार करे और उसके लिए कुछ त्याग करे। श्रम-आधारित जीवन के लिए उनकी तैयारी होना भी जरूरी था। इसके लिए मैने आश्रम के सभी कार्यकर्ताओ के नाम एक आवाहन-पत्र लिखा, जिसे विचित्र भाई ने अपने सिफारिशी पत्र के साथ सभी कार्यकर्ताओं के पास भिजवा दिया। उसमे मैने कार्यकर्ताओ से यह मॉग की थी कि जो लोग समग्र ग्राम-सेवा के काम मे मेरा साथ देना चाहे, वे आश्रम के वेतन-मान से २५ प्रतिशत कम वेतन पर अपना गुजारा कर इस काम मे आगे बढे। मेरे आवाहन पर करणभाई, बद्रीभाई, प्रयागदत्त भाई, हरिराम भाई आदि कुछ साथी इस काम के लिए आगे आये। आश्रम ने उन्हे अपनी पुरानी जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया और वे मेरे साथ आ गये।

उस समय रणीवॉ-आश्रम सरकार द्वारा जब्त था। इसलिए यह प्रश्न हुआ कि इन साथियो को लेकर मै किस स्थान पर बैठूँ। बनारस के पास एक स्थान का सुझाव आया कि जब तक रणीवॉ-आश्रम सरकार द्वारा वापस न मिले, तब तक वहॉ रहकर हम नये विचार से काम करे। तदनुसार बनारस जिले के साथियो की एक बैठक गाधी आश्रम, काशी मे रखी, क्योकि मै चाहता था कि नया काम स्थानीय मदद से हो। लेकिन ऐयरभाई ने मुझे यह खबर भिजवायी कि बनारस के अधिकारी मुझे जिले मे प्रवेश करने नहीं देगे। मैने कहा कि "अधिक-से-अधिक वे मुझे गिरफ्तार ही तो करेगे। और क्या करेगे?" मै चलने को तैयार हो रहा था।

इस पर इलाहाबाद के प्रमुख कार्यकर्ताओ ने मुझसे कहा कि इस समय काग्रेस के सभी लोग रचनात्मक काम करना चाहते है। बापू भी अगले मोर्चे की तैयारी मे देश को समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम दे रहे है। ऐसे समय आपको खामखाह जेल मे जाकर नही बैठना चाहिए। उन्होने आपस मे सलाह कर इलाहाबाद के पास, बरॉव नामक स्थान तय कर दिया, जहॉ बैठकर मै बीच के दिनो मे काम करूँ। बरॉव मे काम जमानेवालो मे वहॉ के कुँवर साहब तथा इलाहाबाद के डाक्टर कैलासनाथ काटजू, लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती पूर्णिमा बनर्जी मुख्य थे। उनका कहना था कि जब तक मै वहॉ रहूँ, तब तक मै वहॉ का आश्रम जमा दूँ। बाद मे वे लोग उसे चलाते रहे। देश को अपेक्षा से बहुत पहले ही स्वराज्य मिल गया और सभी बडे नेता राज्य-व्यवस्था मे चले गये। फलस्वरूप मेरे बरॉव से हट जाने के बाद वह केन्द्र नही चल सका।

बरॉव मे केन्द्र खुला

समग्र ग्राम-सेवा की बुनियाद तालीम ही हो सकती है, क्योकि ग्राम-सेवा का असली उद्देश्य ग्रामीणो की सेवा है। सन् १९४१ मे आगरा जेल से सरकारी ग्राम सुधार-विभाग के पचायतघरो की योजना पर टिप्पणी करते हुए मैने तुम्हे लिखा था कि पहले पच बनेगा, बाद मे पचायत बन सकेगी और पचायत के बनने पर ही पचायतघरो की आवश्यकता होती है। शुरू से ही मेरी मान्यता यह रही है कि ग्राम-निर्माण ग्रामवासी के निर्माण से ही हो सकता है। इसलिए सारी सेवा तालीम के माध्यम से ही सम्भव है। तदनुसार मैने बरॉव मे बुनियादी शिक्षा की व्यापक योजना बनायी।

शिक्षा का प्रधान उपादान शिक्षक ही होता है। इसलिए पहले मैंने अपने साथियो को शिक्षक की ट्रेनिग देने की बात सोची। तदनुसार उनके बच्चो तथा उस गॉव के कुछ और बच्चो को शिक्षा देने का काम हाथ मे लिया, जिससे साथियो को नयी तालीम की पद्धति का ज्ञान करा सकूँ। नयी तालीम के काम मे मेरा भी कुछ अभ्यास नही था। फिर भी विचार और दृष्टि स्पष्ट होने के कारण मै उनका मार्ग-दर्शन कर लेता था।

इस सिलसिले में मैंने महसूस किया कि शिक्षकों को नियमित रूप से कुछ शिक्षा-शास्त्र का अभ्यास कराना भी आवश्यक है। अतः करण के साथ सभी साथियों को एक बार तुम्हारे पास सेवाग्राम भेज देने का विचार किया। अपने साथ एक भाई को रखकर बाकी सबको वहाँ भेज दिया। मैं उनकी पत्नियों और बच्चों के साथ बरॉव रह गया।

मैंने पहले ही कहा है कि इस बार बापू से मुझे सबसे बड़ी प्रेरणा वर्ग-परिवर्तन की दिशा में मिली थी। इसीलिए हमने निश्चय किया कि बरॉव के कुँवर साहब से सामान लेकर हम लोग अपना मकान अपने हाथ से बना लें। सब भाई-बहनों ने मिलकर ईंट पाथना शुरू किया और मकान के लायक आवश्यक ईंटें पाथ लीं। मकान में राज-मिस्त्री, बढ़ई और कुछ मजदूर तो अवश्य लगाये, परन्तु बाकी सारा काम अपने हाथों किया। इससे सब लोगों का उत्साह खूब बढ़ा। साथ-साथ सबका आत्म-विश्वास भी बढ़ा। कुछ दिनों के बाद कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की कारामुक्ति हुई। उसके कुछ दिन बाद रणीवॉ-आश्रम हमें वापस मिल गया। पूर्वयोजना के अनुसार बरॉव के काम को स्थानीय लोगों के हाथ सौंपकर हम लोग रणीवॉ चले गये।

रणीवॉ को प्रस्थान

रणीवॉ जाकर देखा कि पुलिस ने उसे बिल्कुल उजाड़ दिया है। कुछ मकान इधर-उधर खड़े थे। हमने उन्हींकी मरम्मत कर उन्हें साफ कर लिया और आसपास के गाँवों का पुनर्संगठन करने की कोशिश करने लगे। रणीवॉ में यह सुविधा थी कि हम वहाँ आन्दोलन से पहले छह साल काम कर चुके थे। लोगों से स्नेह-सम्पर्क था। कुछ नौजवान हमारे सम्पर्क से आन्दोलन में जेल भी गये थे। मैं वहाँ के देहातों में घूमकर लोगों से मिला और मैंने उन नौजवानों से भी काम लेना शुरू किया। मेरी दृष्टि यह थी कि हम गाँव के स्वाभाविक नेतृत्व का विकास करके ग्राम-सेवा का काम करें। इस बारे में मैं १९४१ के पत्रों में भी तुम्हें काफी लिख चुका हूँ। मन में आया कि यह अच्छा अवसर है। हमने छह साल काम करके

यहाँ अनुकूल वातावरण बनाया है, कुछ स्थानीय नौजवानो को तैयार किया है। आश्रम जब्त होना तथा सबका जेल चला जाना—ऐसी घटना थी, जिससे हमारी ओर आसपास की जनता की सहानुभूति काफी बढी हुई थी। ऐसे समय यदि हम यहाँ की जनता से कहे कि अब आप लोग यहाँ का काम चलाये और हमे छुट्टी दे, तो यह एक बहुत बडा प्रयोग होगा।

नेतृत्व-स्वावलम्बन का प्रश्न

बापू ने जब सात लाख गॉवो के लिए सात लाख नौजवानो की मॉग की थी, तो मैं अपने साथियो से कहा करता था कि सात लाख नौजवान दूसरे गॉव मे जाकर काम करे, इसके बदले हम यह क्यो न कहे कि सात लाख गॉवो मे सात लाख नौजवान तैयार होने चाहिए। तभी हमारा भावी आन्दोलन जनता के स्वाभाविक नेतृत्व से चल सकेगा। आखिर स्वावलम्बन का मतलब क्या? अगर हमारे कार्यकर्ता किसी गॉव मे रुई की गॉठ लेकर बैठे, लोगो को चरखा चलाना सिखाये, कुछ को बुनाई सिखा दे और फिर सूत कतवा और कपडा बुनवाकर सबको कपडा दे दे, जिससे गॉव के किसी आदमी को बाहर से कपडा न लाना पडे, तो क्या हम उस गॉव को स्वावलम्बी कह सकते है? गॉव के सब लोग अपना अन्न-वस्त्र पैदा कर ले, इतने मात्र से ग्राम स्वावलम्बन नही हो सकता। अत. मै अपने साथियो से कहा करता था कि जब तक गॉव मे नेतृत्व-स्वावलम्बन और व्यवस्था-स्वावलम्बन नही होगा, तब तक गॉव परमुखापेक्षी ही बना रहेगा। अतएव अपने विचार के अनुसार प्रत्यक्ष प्रयोग का अवसर उपस्थित होने पर मैने इस दिशा मे गम्भीर विचार करना शुरू किया।

● ● ●

सेवापुरी और रणीवाँ : ४ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१९-७-'५७

इलाहाबाद जेल मे मैंने खादी-काम के द्वारा समग्र ग्राम-सेवा की एक दशवर्षीय योजना बनायी थी। उसे सब लोगो ने पसन्द भी किया था। मैं चाहता था कि उस प्रकार का कोई प्रयोग करूँ और सेवक-प्रशिक्षण के लिए कोई विद्यालय कायम करूँ, जिससे आसपास के देहातो मे सेवा का प्रत्यक्ष काम हो सके। मैंने उसकी एक योजना बना डाली और उसे बापू को दिखलाया। बापू ने उसे बहुत पसन्द किया और उसके लिए मुझे आशीर्वाद भी दिया। गाधी आश्रम ने चालू खर्च आश्रम-कोष से देना स्वीकार किया। लेकिन शुरुआत मे मकान, जमीन आदि के लिए पूँजी-खर्च की शक्ति उसमे नही थी। बापू ने यह खर्च कही से देने को कहा।

इससे प्रोत्साहित होकर उत्तर प्रदेश के सारे कार्यकर्ताओ के सामने मैंने अपनी योजना रखी। साथ-ही-साथ मैंने यह भी कहा कि जो जिला मुझे ५० एकड जमीन और ५० हजार रुपया देगा, उस जिले मे मै अपना केन्द्र खोलूँगा। बनारस और कानपुर जिलो के मित्रो ने मेरी शर्त स्वीकार कर मुझे आमन्त्रित किया। बनारस से मेरा पुराना सबध होने के कारण मेरा सहज झुकाव उसी जिले की ओर हुआ और मैंने सेवापुरी का क्षेत्र चुना।

सेवापुरी का चुनाव

सेवापुरी की जमीन ऊसर-जगल थी। उस पर मकान आदि बनाने के लिए मेरे पास पैसे की कमी थी। तुम कहोगी कि जब बापू ने मकान आदि के लिए पूरा खर्च देना स्वीकार किया था, तो धन का अभाव कैसे हुआ?

अभाव इसलिए था कि मै शुरू से ही बाहर से पैसा लाकर आश्रम बनाने का पक्षपाती नही था। बनारस जिले के लोग चन्दा बटोरने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन तब तक वे कुछ नही कर पाये थे। मेरा विचार था कि पहले स्थानीय साधन से कुछ पैसा खडा कर लूँ, फिर बापू का धन खर्च करूँ।

स्थानीय साधनो का प्रश्न

वहाँ मिली हुई जमीन पर आश्रम का मकान न बनाने का एक कारण और भी था। शुरू से ही मेरी दृष्टि यह रही है कि अगर ग्राम-सेवा के लिए ग्रामवासियो से स्नेह-सम्पर्क करना है, तो पहले गाँव के अन्दर उन्हीके दिये हुए स्थानो मे रहकर उनके साथ सम्पर्क जोडा जाय और धीरे-धीरे आश्रम खडा किया जाय। आश्रम बनाने मे भी शुरू शुरू मे यह आवश्यक है कि ग्रामीण जनता से सामान माँगकर झोपडियाँ खडी की जायँ और फिर आश्रम-निर्माण का काम धीरे-धीरे बढाया जाय। ऐसा न करने से ग्रामीण जनता आश्रमवासियो को स्वजन नही समझ पाती। आश्रम के आन्तरिक कार्यक्रम की वृद्धि तो होती है, पर ग्रामीण जनता के हृदय मे उनका प्रवेश नही हो पाता। रणीवाँ-केन्द्र भी उसी तरह बना था। फलस्वरूप वह केन्द्र आज उसी गाँव के युवको द्वारा ही सचालित हो रहा है और गाँव की जनता आज भी हमारे साथ कुटुम्बी जन जैसा ही व्यवहार करती है।

यद्यपि बापू से धन मिलने की स्वीकृति मिल गयी थी और बनारस के मित्रो ने भी कुछ देने का वादा किया था, फिर भी मैने जिस प्रक्रिया से रणीवाँ का काम शुरू किया था, यहाँ भी उसी प्रक्रिया को अपनाया। मै लालसिंह और दो साथियो के साथ वहाँ गया और गाँव के लोगो ने अपने घरो के जो हिस्से हमे दे दिये, उन्हीमे हम सब रहने लगे। सब लोग एक ही घर मे नहीं रहते थे, बल्कि कई स्थानो मे बँटकर रहते थे और उस क्षेत्र मे सम्पर्क स्थापित करते थे।

सेवापुरी-आश्रम का श्रीगणेश

धीरे-धीरे जब लोगो का प्रेम बढने लगा और हमे उनकी सहानुभूति प्राप्त होने लगी, तो हमने उनसे सामान मॉगकर वहॉ की प्राप्त भूमि पर कुछ झोपडियॉ डाल दीं। इस तरह सेवापुरी-आश्रम का श्रीगणेश हुआ।

पिछले पत्र मे मैने लिखा था कि रणीवॉ-आश्रम का पुनर्निर्माण स्थानीय लोगो के नेतृत्व और व्यवस्था मे करना चाहिए, ऐसा मै महसूस करता था। मै सोचता था कि अगर ऐसा कर सकूँगा, तो समग्र ग्राम-सेवा तथा स्वराज्य का एक अच्छा प्रयोग हो जायगा। इस विचार से रणीवॉ तथा आसपास के कुछ मित्रो को मैने बुलाया। मैने उन्हे बताया कि बापू का कहना है कि अग्रेज शायद जल्दी ही भारत से चले जायॅ। लेकिन उनके चले जाने से ही स्वराज्य नही होता। स्वराज्य तब होता है, जब देश की जनता अपना काम अपने-आप ही चला ले। इस देश की जनता का मतलब है, देहाती जनता। इग्लैण्ड और हिन्दुस्तान की तुलना करके मैने उन्हे बताया कि जहॉ इग्लैण्ड मे १०० मे ८९ व्यक्ति शहरो मे बसते है, वहॉ हिन्दुस्तान मे १०० मे ८४ व्यक्ति देहातो मे बसते है। तो जैसे इग्लैण्ड एक शहरी देश है, वैसे हिन्दुस्तान एक देहाती देश है। आपका स्वराज्य तब होगा, जब आप लोग अपना काम अपने-आप ही चलाये। रणीवॉ-आश्रम आप ही लोगो का है। इसलिए इसे भी आपको ही चलाना चाहिए।

रणीवॉ का पुनर्निर्माण

ईश्वर की महिमा अपार है। जिन पण्डित लालताप्रसादजी ने मुझे आमन्त्रित कर अपने गॉव मे बुलाया था, उनके मन मे भी उन दिनो ऐसा ही विचार उठता था। वे कहने लगे कि मैने तो यही निश्चय किया था कि इस बार धीरेन भाई आये, तो उनसे कह दूँगा कि अब बाहर से पैसा लाकर यहॉ का आश्रम न चलाये। इसी इलाके के लोगो से अनाज मॉगकर उसे चलाना चाहिए। लेकिन मेरे प्रस्ताव के लिए वे भी प्रस्तुत नही थे। वे भी इतना ही सोचते थे कि बाहर से पैसा न लाया जाय। वे

स्वावलम्बन का विचार

इतना नही सोच पाये थे कि हम लोग कोई वहाँ न रहें और वहाँ का सारा काम उन्हे ही चलाना पडे। किन्तु मेरा प्रस्ताव सुनकर उन्होने इसे स्वीकार कर लिया। लेकिन वे इतना अवश्य चाहते थे कि भले ही हम सब साथियो को सेवापुरी भेज दे परन्तु मै खुद कुछ दिन वहाँ रहकर वहाँ के युवको को प्रशिक्षित कर दूँ। ०००

अंग्रेजों के जाने पर : ५ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-२-'५८

रणीवॉ के नौजवानो मे भाई रामलाल मिश्र उन दिनो गाधी आश्रम के कार्यकर्ता बन चुके थे और वे मेरठ के दफ्तर मे काम करते थे। मैने उनसे पूछा कि क्या वे वहॉ का काम छोडकर मेरे प्रयोग मे शामिल हो सकते है ?

रणीवॉ मे प्रयोग शुरू

उन दिनो गाधी आश्रम का वेतन-मान अच्छा था। अवध के निम्न-मध्यम श्रेणी की हालत बहुत खराब थी। जिस परिवार मे कोई आदमी बाहरी नौकरी नही करता था, उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। वैसी हालत मे रामलाल के परिवार के सामने यह प्रस्ताव कठिन परीक्षा का था। एक तरफ मेरे प्रति प्रेम और दूसरी तरफ गरीबी मे निश्चित मासिक आमदनी का त्याग। दो मे से प्रेम को चुनना कठिन था। स्वतन्त्रता के सग्राम मे नौकरी छोडना जितना कठिन था, उससे यह त्याग कठिन था। उन दिनो सरकारी या अर्ध-सरकारी सस्था मे काम करना देश-द्रोह माना जाता था, तो पैसा छोडने पर बदले मे कम से-कम देश-भक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा तो मिल जाती थी। गाधी आश्रम का काम छोडकर रणीवॉ के प्रयोग मे शामिल होने मे, बदले मे ऐसा कुछ मिलने की सम्भावना नही थी, क्योकि गाधी आश्रम का काम भी त्याग और देश-भक्ति का काम माना जाता था। आखिर रामलाल वह काम छोडकर आ गया और विचित्रभाई ने तुरन्त उसे मुक्त कर दिया।

रामलाल के आ जाने पर इस प्रयोग के लिए तीन-चार नौजवान और भी साथ हो लिये। उनकी मार्फत उस क्षेत्र का रचनात्मक काम

करने की योजना सोचने लगा। सबसे पहली आवश्यकता साधन की थी। आसपास के लोगो ने हमे रहने के लिए टूटे हुए मकान दिये। उनकी मरम्मत कर ली। उन्होने खलिहानो से थोडा-थोडा गल्ला निकालकर भी आश्रम चलाने के लिए लालताप्रसादजी के हाथ मे दे दिया। चार-पॉच नौजवानो की श्रद्धा तथा पडित लालताप्रसाद की निष्ठा की पूॅजी लेकर मैने रणीवॉ का नया अध्याय शुरू किया। स्थानीय नेतृत्व, साधन तथा व्यवस्था से एक केन्द्र चलाने के अवसर से मुझे बडी खुशी हुई।

तालीम का काम ही ग्राम-निर्माण का करीब-करीब एकमात्र काम है और उसीके जरिये गॉव के सारे कार्यक्रम चल सकते है, यह मान्यता मेरी शुरू से ही रही है। लेकिन नयी तालीम की पद्धति की स्पष्ट धारणा इन नौजवानो मे नही थी। उनमे उसकी योग्यता भी नही थी। उधर उस इलाके मे शिक्षा की चाह बढ रही थी। यह देखकर मैने उनसे एक हाईस्कूल खोलकर चलाने को कहा। उस स्कूल का नाम 'स्वावलम्बन विद्यालय' रखने के लिए कहा। स्वावलम्बन का अर्थ यह लगाया कि विद्यार्थी अपने उद्योग से कमाकर अपनी फीस अदा करे। मैने समझा कि काम के साथ साथ पढाई चलेगी, तो धीरे-धीरे नयी तालीम का वातावरण बनेगा। साथ ही वहॉ के तरुण मित्रो को उसके लिए आवश्यक 'सिखाई' हासिल करायी जा सकेगी।

स्वावलम्बन-द्यालय

इस प्रकार सेवापुरी मे बुनियादी शिक्षा का पूरा रूप और रणीवॉ मे उसका अधूरा रूप लेकर प्रयोग मे लग गया। इसी बीच विलायत से हिन्दुस्तान मे 'केबिनेट मिशन' आया और आम चुनाव के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश मे फिर से कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बना और मुझे फिर से फैजाबाद जिले की विकास-समिति का अध्यक्ष बनना पडा।

विकास-समिति का अध्यक्ष

कैबिनेट मिशन के रुख पर से देशवासियो को स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि अब स्वराज्य दूर नही है। गॉवो मे भी अप्रत्यक्ष रूप से इसका भान

होने लगा। फलस्वरूप सरकारी विभागो के कर्मचारी १९३८ मे मेरी बात जितनी सुनते थे, इस बार उससे अधिक सुनने लगे। इसलिए अपनी कल्पना के अनुसार ग्राम-विकास का काम करने का अधिक अवसर मिला।

को-ऑपरेटिव विभाग के बारे मे १९३८ के मन्त्रिमडल के समय मेरा अनुभव अच्छा नहीं था। लेकिन इस बार सारा काम को आपरेटिव के मार्फत चलाया जाय, इस विचार के आधार पर मैने काम करना शुरू किया, क्योकि पिछले दिनो के अनुभव से मै मानने लगा था कि जब तक गॉव के लोग मिल-कर किसी काम को नहीं उठाते है, तब तक देहातो मे कोई काम नहीं हो सकता। इस विचार से मैंने पडित लालताप्रसाद तथा रामलाल को रणीवॉ के आसपास के गॉवो मे सहयोग-समितियॉ बनाने की सलाह दी। उन दिनो जीवन की आवश्यक वस्तुओ पर कण्ट्रोल रहने के कारण सहयोग-समितियो को काम भी काफी मिल गया, लेकिन क्रमश मैने यह देखा कि कुछ गॉवो के अलावा ये समितियॉ गॉव के किसी किस्म के उत्पादन के काम मे दिलचस्पी नहीं लेतीं। मैं इसका कारण ढूँढने लगा।

सहयोग-समितियॉ

मैने देखा कि जितनी सहकारी समितियॉ बनी थीं, वे गॉवभर के लोगो की नहीं थीं। वे भी 'भलमनइयो मे से कुछ ऊपर के तबके के लोगो की चीज बनकर रह गयी थी। इन समितियो के मुख्य लोग वे ही थे, जो अग्रेजी साम्राज्यवाद के दलाल रहे थे। वे ही लोग आज भी सरकार की ओर से होनेवाले सारे कामो पर कब्जा कर लेते है और उसके जरिये अपनी स्थिति मजबूत करते हैं। इस स्थिति का और भी गहराई से अध्ययन करने के लिए मै जिलेभर के देहातो मे घूमने लगा। जितनी ही गहराई मे गया, उतना ही मुझे लगा कि हम लोग सुधार का जो कुछ भी काम करते है, वह सब गॉव के शोषक तथा अत्याचारी-वर्ग को मजबूत करने मे ही लग जाता है। पुलिस और अधिकारी भी उसी वर्ग के

इन समितियो के दिलचस्पी मे कमी का कारण

होने के कारण अन्याय मे उनका ही साथ देते है। काग्रेस का राज्य था, मै काग्रेस का प्रमुख कार्यकर्ता था, मन्त्रिमडल मे तथा विधानसभा मे सब मेरे मित्र थे, मेरे प्रति उन सबका आदर था, तत्कालीन मुख्य मत्री पन्तजी का मेरे प्रति विशेष स्नेह था, लेकिन देहाती अन्यायो का निराकरण करने मे मै असमर्थ था। बीच-बीच मे डॉक्टर काटजू साहब तथा सरकार के दूसरे मित्रो से चर्चा करता, लेकिन कोई समाधान नही मिलता था। मैं सोचता था कि अभी तक पक्का स्वराज्य नही है, इसलिए अधिकारियो पर हमारा उतना दखल नही है। लेकिन एक दो माह के भीतर ही पक्का स्वराज्य हो जाने के बाद भी परिस्थिति मे कोई परिवर्तन नही दिखलाई पडा। कोशिशे बहुत की, पर सब निष्फल रही।

अग्रेजी राज्य मे काग्रेस की ओर से हम लोग किसान और मजदूरो को न्याय दिलाने की कोशिश करते थे। उस कोशिश मे अग्रेजी सरकार हमारा

देहाती जनता की मुसीबत

दमन करती थी। फिर भी देहाती अन्यायो के प्रतिकार मे हम जितनी मदद कर सकते थे, उतनी भी मदद आज हम अपने हाथ मे राज्य प्राप्त करके भी नहीं कर पा रहे थे। इससे मुझे बडी ग्लानि होती थी। अग्रेजी राज्य मे देशभर मे काग्रेस कमेटियॉ थी। गरीब जनता दौडकर हमारे यहॉ आती थी। हम लोग जन-शक्ति का सगठन करके उसकी तकलीफो को दूर करने की कोशिश करते थे। हम लोग एक प्रकार से उस शोषित वर्ग के मॉ बाप बन गये थे। लेकिन अग्रेजो के हटते ही उनकी जगह पर हम पहुॅच गये। वे ही कर्मचारी, वही कार्य-पद्धति और इस कारण वही परिस्थिति। मैने देखा कि जो लोग देहातो मे गरीब जनता पर अत्याचार करते थे और उसके निराकरण की कोशिश करने पर अधिकारियो से मिलकर हमी पर दमन-चक्र चलाते थे, वे ही लोग अब काग्रेस के सदस्य बनने लगे। मैंने देखा कि हमारे पुराने साथी अधिकारारूढ होकर जनता से पूर्वसम्पर्क खो रहे हैं और उनकी तकलीफो के प्रति उदासीन हो रहे हैं। इन तमाम कारणो से देहात की पीडित जनता एक प्रकार से असहाय

हो गयी। फलस्वरूप विदेशी राज्य से स्वदेशी राज्य मे गरीब जनता को अधिक पीडित होना पडा। मै अपनी असमर्थता देखकर सोचने लगा कि ऐसी हालत मे इसमे रहकर क्या करूँ? निश्चिन्त होकर नयी तालीम के प्रयोग मे लग जाऊँ, तो मेरी शक्ति का पूरा-पूरा सदुपयोग हो।

भाई केशवदेव माल्वीय उन दिनो विकास-विभाग के पार्लियामेटरी सेक्रेटरी थे। यद्यपि डॉक्टर काटजू साहब उस विभाग के मन्त्री थे, फिर भी भाई केशवदेव ही उस काम को देखते थे। लखनऊ जाकर मै उनसे मिला और उनसे अपनी मुक्ति चाही। उन्होने कहा : "ग्राम विकास के काम मे आप ही लोग हमारी मदद नहीं करेगे, तो हम इसे कैसे चलायेगे? अब तक हम लोगो ने काग्रेस कमेटियाँ चलायी, आन्दोलन चलाया और अब जब रचनात्मक काम करने का मौका आया, तब आप लोग अलग हो जायँगे, तो कैसे काम चलेगा?"

भाई केशवदेव के कहने से मै विकास-समिति का अध्यक्ष बना रहा। कुछ उनके कहने से, कुछ यह भी सोचकर कि अभी-अभी हमे स्वराज्य मिला है, इस समय यदि हम सबकी शक्ति इधर-उधर बिखर जायगी, तो सभव है, उससे देश का नुकसान हो। यह समझकर मैने इस दिशा मे फिर से कोई आग्रह नहीं किया और काम चलाता रहा। जहाँ तक सम्भव था, मै इस प्रयत्न मे लगा रहता था कि काम मे गाँव के अधिक-से-अधिक लोगो का सहकार मिले।

सहकार का प्रयत्न

सब कुछ हुआ, लेकिन ज्यो-ज्यो परिस्थिति का अध्ययन बढने लगा, त्यो-त्यो मेरी यह मान्यता दृढ होने लगी कि यह स्वराज्य कहीं जनता का राज्य होने के बजाय किसी ऐसे गुट का राज्य न हो जाय, जो देश की लोकशाही को मारकर तानाशाही का रूप पकड ले। देश के पूँजीपति तथा गाँव के शोषक लोग अपना सगठन दृढ करने लगे। हमारे अच्छे-अच्छे साथी, जो एक दिन बहादुरी के साथ आजादी के सग्राम मे जूझ रहे

भयकर स्थिति

थे, वे भ्रम, मोह या लालचवश उनके चगुल मे फँसते जा रहे थे। इस परिस्थिति को देखकर मै घबडा गया। मुकाबला करने की सामर्थ्य नहीं थी। भागना पलायनवाद होता। ऐसी हालत मे मेरी समझ मे नही आया कि मै क्या करूँ? दो-तीन माह ऐसा अनिश्चित चिन्तन चलता रहा।

दिसम्बर १९४७ मे मैने महसूस किया कि जनता को परिस्थिति का सीधे-सीधे दिग्दर्शन कराना चाहिए। शुरू मे मै कुछ हिचका। ऐसा लगने लगा कि कही हमारे पुराने साथी इस कार्यक्रम से परेशान न हो। अन्त मे विकास-समिति के अध्यक्ष की हैसियत से जिलेभर का तूफानी दौरा करने का मैने निश्चय किया। १९३८ के मन्त्रिमण्डल के दिनो मे मैने ग्राम-सुधार का जो काम किया था, उससे मुझे जिले की जनता का स्नेह प्राप्त था। इस बार कोई ८० सार्वजनिक सभाओ का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम को गॉव-गॉव के काग्रेस-जनो ने बडे उत्साह से अपनाया। सरकारी विभागो के कर्मचारियो तथा काग्रेस-जनो ने मिलकर उस दौरे को खूब सफल बनाया। हर सभा मे तीन से पॉच हजार तक की भीड होती थी। स्त्रियॉ भी बडी सख्या मे आती थी।

जनता को चेतावनी

इन सभाओ मे मै गरीब जनता को चेतावनी देता था कि अग्रेजो के चले जाने से ही उनका स्वराज्य नही हो जाता है। अग्रेजो के चले जाने पर भी केवल एक स्वदेशी राज्यमात्र होकर रह सकता है, जिससे उनके शोषण का निराकरण नहीं हो सकता। मै जनता को बताता था कि एक चतुर्भुज राक्षस पैदा होकर इस स्वराज्य को अपने कब्जे मे कर सकता है। मै समझाता था कि अगर अपना काम-काज सॅभालकर अपने स्वराज्य को अपने हाथ मे नही करेगे, तो धोखा खाना पडेगा। मै कहता था: "जैसे खेत के मुकदमे मे अपने खेत की अदालती डिगरी अपने हक मे रहने पर भी कब्जा न मिलने का खतरा बना ही रहता है, उसी तरह इग्लैण्ड की पार्लमेण्ट से आपके हक मे स्वराज्य की डिगरी मिलने पर भी आपके लिए कब्जा न मिलने का खतरा बना हुआ है।

अगर आप सतर्क नही होगे, तो विदेशी पूँजीपति स्वदेशी पूँजीपतियो के साथ गुट बनायेगे और गॉव-गॉव मे मौजूद पुराने साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के दलालो के साथ मिलकर अब तक जो आपके तरफदार देशभक्त रहे है, उन्हे खरीदकर या दूसरे उपायो से अपने चगुल मे फॅसा लेगे। फिर जब वह राक्षस अपनी चारो भुजाऍ आगे बढाकर प्रेम से आपका आलिगन करेगा, तो वह धृतराष्ट्र का ही आलिगन होगा।"

जिले की अस्सी सभाओ मे जब मैने ऐसा भाषण किया, तो सारे जिलेवालो के सामने एक नयी रोशनी आ गयी। गॉव-गॉव मे इन बातो की जोरदार चर्चा होने लगी। लेकिन कठिनाई यह थी कि एक तरफ तो मै अकेला था और दूसरी तरफ देश की सारी शक्तियॉ थी। फलतः इस दौरे का कोई स्थायी असर नहीं रहा।

इस दौरे में असेम्बली के मेम्बर और विभिन्न विभागो के कर्मचारी मेरे साथ रहते थे। मैने देखा कि उन्हे इससे कोई परेशानी नहीं होती थी,

'किसानो को चेतावनी' पुस्तक

बल्कि वे खुश होते थे और बीच-बीच मे जिन बातो की जानकारी मुझे नहीं थी, उसे सुझा भी देते थे। जिला को-आपरेटिव अफसर ने उन भाषणो के सार के साथ अपना एक लेख जोडकर को-आपरेटिव विभाग की ओर से 'किसानो को चेतावनी' नाम की एक पुस्तिका भी छपवा दी। लेकिन प्रान्तीय अफसर लोग इससे भडक उठे और उस अफसर का फैजाबाद जिले से तबादला कर दिया गया।

तब से आज की स्थिति मे कितना अन्तर है! आज नीचे का कोई भी अफसर ऐसी हिम्मत नही करेगा, क्योकि इन दस सालो मे नीचे से ऊपर तक कडी पूरी हो चुकी है। आज बड़े-बडे नेता चाहते हुए भी कुछ नही कर पाते, क्योकि समाज की बागडोर उन्हीं लोगो के हाथ मे चली गयी है।

महीना बीतते न बीतते बापू चले गये! यह अच्छा ही हुआ। ईश्वर को यह मजूर नही था कि ऐसी महान् आत्मा इन बातो को देखे।

वापू के चले जाने पर तुम लोगो ने मुझे जवर्दस्ती चरखा-सघ का अध्यक्ष
बनाया। नयी जिम्मेदारी से मै घबडाया जरूर,
भविष्यवाणी सही लेकिन देहात की विवशताभरी स्थिति से दूर चले
उत्तरी जाने से मन को कुछ राहत जरूर मिली। १९५४ मे मै
एक बार फैजाबाद गया था। इतने दिनो के बाद
जिले मे पहुँचने पर सभी पुराने साथी मिलने आये थे। मिलते ही सबकी
जबान पर एक ही बात थी . "भाईजी जो कुछ कहकर गये थे, वह सब
आज बिल्कुल सामने दिखाई दे रहा है।" ● ● ●

चरखा-संघ का अध्यक्ष : ६ :

श्रमभारती, खादीग्राम

१४-३-'५८

वापू के जाते ही ऐसा लगा, मानो देश से रोशनी निकल गयी। सब लोग किंकर्तव्यविमूढ हो उठे। वापू के राज्यकर्ता साथियों के सामने अनेक कार्यक्रम थे। देश की कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ थीं। इसलिए वापू के अभाव का अन्धकार उन्हे कम महसूस हुआ, लेकिन वापू के रचनात्मक कामो को चलानेवाले हम लोग तो बिल्कुल ही दिक्-हारा हो गये थे। समझ मे ही नहीं आता था कि आगे का कदम क्या हो। जो लोग राज्य-सचालन कर रहे थे, उनसे जब हम चरखा आदि कार्यक्रम की बात करते थे, तो वे नाक सिकुडने जैसा भाव प्रकट करते थे। चोटी के कुछ नेता तो यहाँ तक कहते थे कि चरखा, ग्रामोद्योग आदि कार्यक्रम स्वराज्य की लड़ाई को सगठित करने के लिए ठीक थे, लेकिन आज की दुनिया के लिए वे बेकार हैं। वापू ने जो सस्थाएँ बनायी थीं, उनके प्रति नेताओ के मन मे हेय-भाव था। उनकी ये भावनाएँ वापू के सामने ही प्रकट होने लगी थीं। उनके चले जाने पर हम लोग तो एकदम अनाथ ही हो गये।

दूसरी ओर जब मै रचनात्मक सस्थाओ की ओर दृष्टि डालता था, तो मुझे कुछ विशेप उत्साह नहीं मिलता था। ऐसा लगता था कि ये सस्थाएँ बँधी हुई लीक पर लक्ष्यहीन गति से चलती जा रही वापू की सलाह की है। तुम जानती ही हो कि चरखा-सघ का नव सस्करण अवहेलना करने का वापू का प्रयास किस तरह असफल रहा। '४५ मे गाधीजी के पास से लौटकर मैंने नव-सस्करण का विचार आश्रम के साथियों के सामने रखा था, पर उसमे मै सफल नही हो

सका था। मै अलग कही प्रयोग करूँ, इसके लिए उनकी मजूरी थी। आश्रम के कार्यक्रम मे किसी भी प्रकार का हेरफेर करने के लिए वे तैयार नही थे। मै अलग से प्रयोग करने को तैयार तो हुआ, लेकिन जल्दी ही मैंने महसूस किया कि एक ही सस्था के अन्तर्गत भिन्न दृष्टि से काम चलाना सम्भव नही है, विशेषकर तब, जब सस्था के मुख्य कार्यकर्ताओ की दृष्टि भिन्न रहती है। गाधी आश्रम ही नही, देश की अधिकाश खादी-सस्थाओ ने बापू की सलाह को रद्दी की टोकरी मे फेंक दिया।

बापू चरखा-सघ के अध्यक्ष थे। इसलिए चरखा-सघ ने बापू का प्रस्ताव अवश्य स्वीकार किया, किन्तु रुपयो मे दो पैसे की कीमत सूत के रूप मे अदा करने के नियम को लागू करने के अलावा विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की दिशा मे कोई सक्रिय कदम नही उठाया। इस प्रकार चरखा सघ ने भी प्रकारान्तर मे वही किया, जो दूसरी खादी-सस्थाओ ने किया था। वह भी उत्पत्ति-बिक्री के रूप मे शुद्ध व्यापारिक कार्य चलाता रहा।

इन तमाम कारणो से रचनात्मक सस्थाओ से भी मेरा समाधान नही होता था। गाधी आश्रम के मातहत मै सेवापुरी मे कुछ कर सकूँगा, इसका भी भरोसा नही हो रहा था। मुझमे स्वय इतनी शक्ति नही थी कि स्वतन्त्र रूप से नयी दिशा मे कुछ कर सकूँ। मै सोचता रहता था कि एक ओर तो देश के नेता सरकार को अपने हाथ मे लेकर प्रतिकूल दिशा मे चलते रहे और दूसरी ओर हमारे जैसे मुट्ठीभर रचनात्मक कार्यकर्ता, जिनके सामने कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य भी न हो, कही पर चरखा चल्वाते रहे, कही एकाध घानी-केन्द्र खोल दे या कही बुनियादी शाला चलाते रहे, तो इनमे से क्या परिणाम निकलनेवाला है और ये काम कितने दिन चलेंगे?

विचार-मन्थन

बहन सुचेता के आग्रह से उन दिनो रणीवॉ मे कस्तूरबा-ट्रस्ट का काम जमाने मे लगा था। मै मानता था कि वह एक महत्त्व का काम है। उस सिलसिले मे भी मैंने देखा कि इस रूढिग्रस्त समाज मे स्त्रियो का

काम करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी आवश्यक मानकर उसे चलाता रहा।

ये सब काम मै कर रहा था और बडी दिलचस्पी और लगन के साथ कर रहा था, फिर भी दिमाग मे असमाधान बना रहा। इसलिए दिशा की खोज मे मेरा चिन्तन चलता रहा। कुछ ही दिनो मे मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि इन सस्थाओ के भीतर से ऐसी कोई नयी दिशा नहीं निकलेगी, जिससे चरखा-सघ के नव-सस्करण के रूप मे बापू ने जो स्वप्न देखा था, उसकी पूर्ति हो। बीच बीच मे यह खयाल भी जोरो से आता था कि सस्थाओ के बाहर क्यो न निकलकर किसी गॉव मे चला जाऊँ और बापू की उस सेना मे क्यो न भरती हो जाऊँ, जिसके लिए बापू ने सात लाख नौजवानो की मॉग की थी और चरखा-सघ ने जिनके लिए पॉच साल की यह सुविधा रखी थी कि पहले-पहल पूरे वेतन से शुरू करे, धीरे-धीरे घटाते हुए पॉचवे वर्ष मे उसे समाप्त कर दे। लेकिन गाधी आश्रम के साथियो का प्रेम तथा सस्था का मोह मुझे मजबूत रस्सी से जकडे हुए था। इसलिए उसके लिए हिचक थी। सस्था की ओर से सेवापुरी की जिम्मेदारी भी थी। वह भी मुझे रोकती थी।

आखिर मैने यह निश्चय कर ही लिया कि किसी गॉव मे बैठकर पूरे गॉव को ही आश्रम का रूप देने की कोशिश करूँ। एकाध ऐसा छोटा गॉव भी मेरी नजर मे था। उन दिनो ग्रामदान का स्वप्न देखना भी सभव नहीं था, और न आज की तरह ग्रामशाला का कोई स्पष्ट विचार ही मेरे सामने था। लेकिन सारा गॉव मिलकर गॉव की योजना बनाये, मिल-जुलकर अपनी उन्नति करे, इस उन्नति की प्रक्रिया मे बच्चे भी हो और उसीमे से नयी तालीम निकले आदि स्फुट विचार मेरे मन मे आते थे। क्या निकलेगा मै जानता नहीं था, लेकिन बैठने पर कुछ सूझेगा, ऐसा मेरा विश्वास था। ऐसी मनोदशा मे सेवापुरी से रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन मे शामिल होने के लिए वर्धा को रवाना हो गया।

गॉव मे बैठने का विचार

रास्तेभर इसी बात पर चिन्तन चलता रहा। सेवापुरी की जिम्मेदारी का खयाल आया, लेकिन मैने सोचा कि जिस तरह रणीवॉ मे बैठकर अब तक सेवापुरी का सचालन करता रहा, उसी तरह उस गॉव मे रहते हुए भी मैं बीच-बीच मे सेवापुरी जा ही सकता हूॅ। मेरे साथ सेवापुरी का 'अमरनाथ' था। सेवापुरी की बुनियादी शाला उसीके चार्ज मे थी। मैने उसे अपने मन की बात बतायी और पूछा कि क्या वह मेरे साथ बैठ सकता है ? उसने अपनी तैयारी बतायी, तो मैने करीब-करीब फैसला ही कर लिया।

सन् -'४८ के मार्च का महीना था। देश के कोने कोने से रचनात्मक कार्यकर्ता जुटे थे। पडित जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र बाबू आदि नेता भी पधारे थे। बापू के निधन के बाद 'पहला रचनात्मक कार्यकर्ता-सम्मेलन' होने के कारण देशभर की निगाह इस पर थी। सेवाग्राम पहुॅचते ही तुम लोगो की जोरदार तैयारी देखकर मै खुश हुआ। क्षणभर के लिए खयाल आया कि मै जितनी निराशाजनक स्थिति समझे हुए था, शायद उतनी निराशा नही है। बडे नेताओ के आगमन से कुछ आशा अवश्य बॅधी।

रचनात्मक कार्य-कर्ता-सम्मेलन

मैं तुम्हारे घर ठहरा और पहुॅचते ही बीमार पड गया। फलस्वरूप सम्मेलन की कार्यवाही मे उपस्थित न हो सका। बुखार कुछ उतर जाने पर आखिरी दिन मैं उसमे पहुॅचा। उस समय बडे नेता चले गये थे। केवल दादा (आचार्य कृपालानी) मौजूद थे। वहॉ जाकर देखा कि सारा सम्मेलन विनोबा की ओर देख रहा है। विनोबा ने भी लोगो की आशा की पूर्ति की। सर्वोदय-समाज की स्थापना का जो सुझाव उन्होंने दिया, वह मौलिक था। इतिहास मे किसी भी युग-पुरुष के शिष्य द्वारा इस प्रकार सगठनहीन सगठन की कल्पना नही की गयी थी। समाज रहे, सघ भी रहे, लेकिन तन्त्र न रहे। विचार का आदान-प्रदान

सर्वोदय-समाज की स्थापना

हो, आचार-विचार शासन पर छोड दिया जाय, यह एक मौलिक कल्पना थी। इतिहास मे शासनहीन समाज की कल्पना की गयी है। अराजकता की बात भी काफी हो चुकी है। लेकिन उसके सक्रिय स्वरूप और विकास के मूल आधार का स्पष्ट चित्र इससे पहले कभी किसीने नहीं रखा था। विनोबाजी के सुझाव का अच्छा स्वागत हुआ। मुझे भी अच्छा लगा। दो-तीन दिन पहले बीमारी हालत मे मित्रो ने मुझसे कहा था कि आप भी अपना कुछ सुझाव भेजिये, तो मैंने लिख भेजा था कि "जो भी सगठन हो, वह सचालक न होकर मार्ग प्रदर्शक मात्र हो।" इसलिए भी जो कुछ तय हुआ, उससे मुझे बडा सन्तोष मिला। सोचा कि इस दिशा मे नेतृत्व संभवतः विनोबा ही लेगे। इससे पिछली ग्लानि भी बहुत कुछ मिटी।

अध्यक्ष बनना स्वीकार

दूसरे दिन चरखा-सघ के ट्रस्टी मडल की बैठक हुई। बापू के बाद अध्यक्ष कौन हो? सब लोगो ने विनोबा पर जोर दिया कि यह जिम्मेदारी वे ही उठाये, लेकिन विनोबा ने इसे स्वीकार नहीं किया। तीन दिन तक अध्यक्ष की खोज होती रही। अन्तत. कृष्णदास भाई ने कहा: "अगर बडे आदमी नहीं मिलते हैं, तो कार्यकर्ताओ मे से ही कोई हो जाय।" उन्होने मेरा नाम सुझाया। मैं अवाक् रह गया। मैंने कहा कि "बापू के चरखा-सघ को इस तरह हलका नहीं बनाना चाहिए। देश में मुझे जानता ही कौन है?" लेकिन धोत्रेजी तथा अन्य लोगो ने इस बात पर जोर दिया कि यह परम्परा कायम कर ही दी जाय। मेरे सामने सेवापुरी और रणीवॉ की जिम्मेदारी थी ही, और मै गाधी आश्रम का कार्यकर्ता होने के नाते स्वतन्त्र भी नहीं था। साथियो ने कहा कि "विचित्र भाई यहॉ हैं ही, पूछ लीजिये और आप अध्यक्ष का स्थान सेवापुरी भी बना सकते हैं।" विचित्र भाई से पूछा। उन्होने भी स्वीकृति देने की सलाह दी। फलत. मैने उस जिम्मेदारी को स्वीकार कर लिया। ● ● ●

देशव्यापी दौरा

सोनपुर स्टेशन (ट्रेन पर)
१९-३-'५८

चरखा-सघ का अध्यक्ष बन गया। बहन सुशीला पै को लिखा कि अब कस्तूरबा टस्ट की जिम्मेदारी लेना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे उत्तर प्रदेश के काम को खुद ही सीधे सँभाल ले। सेवापुरी की जिम्मेदारी मुझ पर थी ही, वहीं मै अपना मुख्य स्थान बनाऊँ, यह छूट चरखा-सघ के साथियो की ओर से रही। अत' मैं वहाँ से सेवापुरी लौट आया। इस बीच मे सेवापुरी का भी काफी कायापलट हुआ।

बापू ने काग्रेस को सलाह दी थी कि आजादी के बाद वह सत्ता मे न जाय, बल्कि अपने को 'लोक सेवक-सघ' के रूप में रूपान्तरित करके जनता मे फैल जाय और प्रत्यक्ष जन-शक्ति का निर्माण कर लोकतन्त्र की सही शक्ति की स्थापना करे। बापू होते, तो शायद उनके अनुयायी इस दिशा मे कुछ करने की हिम्मत करते और काग्रेस का काफी बडा हिस्सा इस सुझाव पर अमल करता होता। लेकिन ऐसा नही हो सका और गाधीजी चले गये। काग्रेसवालो ने अग्रेजों द्वारा मिली हुई राज्य-सत्ता को जनता के हाथों मे छोडने की हिम्मत नहीं की। युग-युग मे और देश-देश मे हुआ है, स्वतन्त्रता-सग्राम। लेकिन ससार मे कही भी ऐसी मिसाल नहीं है कि स्वाधीनता-सग्राम में जूझनेवाले दल ने विजय प्राप्ति के बाद सत्ता को अपने हाथ मे न लिया हो। इसलिए सत्ता को अपने हाथ मे लेकर देश की स्वतन्त्रता को सगठित करने की बात सोचना काग्रेस के लिए परम स्वाभाविक था। ऐतिहासिक लीक को छोडकर नयी दिशा में चलने की हिम्मत बापू जैसा युग-पुरुष ही कर सकता था।

बापू की अन्तिम सलाह

दूसरो के लिए यह निर्णय कठिन था। अत. काग्रेस के नेतृत्व ने जो किया, वह परम्परा के हिसाब से ठीक ही था।

यद्यपि काग्रेस के नेताओ ने अपनी मर्यादाओं के अन्तर्गत जो किया, वह ठीक ही था, लेकिन उनमे से बहुतों के मन मे यह बात खटकी। जो लोग बापू के विचार को गहराई से समझते थे तथा उनके अधिक नजदीकी थे, उनमे इसकी ग्लानि भी थी। दादा (आचार्य कृपालानी) ऐसे लोगो मे मुख्य थे। उन्होने उत्तर प्रदेश में 'लोक-सेवक-सघ' की स्थापना का नेतृत्व लिया। उत्तर प्रदेश मे रचनात्मक काम के लिए सब लोग एकत्रित हुए और उन्होने 'लोक-सेवक-सघ' की स्थापना का निर्णय किया। दादा उसके अध्यक्ष हुए और भाई सादिक अली मन्त्री। उसमे उत्तर प्रदेश विधानसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री टडनजी, राज्य के मुख्य मन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त तथा अन्य मन्त्री लोग भी शामिल थे।

उत्तर प्रदेश में लोक-सेवक-संघ

लोक-सेवक-सघ का मुख्य केन्द्र लखनऊ ही रखा गया, क्योंकि राजधानी होने के नाते सभी नेता वहीं रहते थे। शीघ्र ही महसूस किया गया कि जिस परिकल्पना के अनुसार लोक-सेवक-सघ की स्थापना हुई, उसका प्रधान केन्द्र शहर के एक मकान मे दफ्तर के रूप मे रहना नहीं जँचता है। उसका स्वरूप किसी आश्रम का होना चाहिए। दादा ने गाधी आश्रम मे प्रस्ताव किया कि सेवापुरी-आश्रम लोक-सेवक सघ को दे दिया जाय और उसीको उसका प्रधान केन्द्र माना जाय। आश्रम ने प्रस्ताव करके ऐसा कर दिया। इस तरह सेवापुरी लोक-सेवक-सघ के अन्तर्गत हो गया। सेवापुरी की जिम्मेदारी लेने के लिए लोक-सेवक-सघ ने एक उप समिति बनायी और मन्त्री के नाते सादिक भाई आश्रम का सचालन करने लगे। इस तरह गाधी आश्रम की ओर से सेवापुरी की जिमेदारी का बन्धन मुझ पर से ढीला हो गया। मैने सादिक भाई से पूछा कि उन्हे मेरी हाजिरी की कितनी आवश्यकता होगी। उन्होने आश्वासन दिया कि

अब वे खुद आश्रम के भीतरी कामो को देख लेगे और करण भाई सर-कारी सम्पर्क को सँभाल लेगे। मै कभी-कभी एकाध बार आता रहूँ, तो परामर्श के लिए काफी होगा। रणीवॉ केन्द्र भी अब एक रजिस्ट्री शुदा सस्था हो गया था तथा रामलाल और उसके साथी योग्यता के साथ उसे चलाने लगे थे। अत. मैं वहॉ की भी प्रत्यक्ष जिम्मेदारी से मुक्त हो गया था। इस प्रकार मुक्त होकर मैने चरखा-सघ के काम को सँभालने का निर्णय किया और अपना मुख्य स्थान सेवाग्राम बनाया।

सेवाग्राम मे रहते हुए मैंने देखा कि रचनात्मक सस्थाओ और कार्य-कर्ताओं मे कार्य का क्रान्तिकारी लक्ष्य कुछ धीमा पड गया है। निष्ठा और त्याग का अभाव नहीं था, लेकिन दृष्टि राहत प्रस्ताव कार्यान्वित की ही थी। चरखा-सघ की दृष्टि भी गरीबो को रोजी करने का निश्चय देने की ही थी। चरखा-सघ के नव-सस्करण से बापू चरखा द्वारा शोषण-हीन तथा स्वावलम्बी समाज कायम करना चाहते थे, लेकिन सघ के कार्यकर्ताओ मे ऐसी दृष्टि ओर भावना नहीं थी। बापू के चले जाने के बाद ट्रस्टी-मण्डल ने जो प्रस्ताव किया था, उसमें सघ के काम का पुनस्सगठन करने का लक्ष्य था। उस प्रस्ताव मे ऐसा निश्चय किया गया था कि राहत के काम को प्रमाणित सस्थाओ के हाथो मे सौंपकर स्वावलम्बन के आधार पर चरखा-सघ के काम का सगठन किया जाय। इसलिए मैं हिम्मत करके सघ के प्रस्ताव पर अमल करने की दिशा मे सोचने लगा।

किसी भी सघ के प्रस्ताव का अमल तभी हो सकता है, जब कम-से-कम उस सघ के मुख्य कार्यकर्ताओ की आस्था उसके लिए हो। आस्था-निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि कार्यकर्ता विचार को स्पष्ट रूप से समझे तथा उसके अनुसार काम करने की आवश्यकता मह-सूस करे। मैं इस बारे मे अपने साथी भाई धोत्रेजी तथा कृष्णदासजी से परामर्श करता रहा। परामर्श से यह तय पाया कि सेवाग्राम मे हर प्रदेश के दस-दस मुख्य कार्यकर्ताओ को लेकर एक विचार शिविर चलाऊँ।

तदनुसार सेवाग्राम में शिविर चला। उस शिविर मे मैंने खादी के पीछे शोषणहीन समाज-रचना की कल्पना को विस्तार से समझाया। मैंने बताया कि शोषण के कारण वर्ग-विषमता पनपी और वर्ग-विषमता के चलते सामाजिक शोषण का एक शास्त्र-निर्माण हो गया, जिसकी परिणति से आज का मानव निश्चित रूप से ध्वस की ओर दौडा जा रहा है। मैंने बताया कि यद्यपि इसका बोध सौ बरस पहले महान् ऋषि कार्ल-मार्क्स को हो गया था और उन्होंने इस भेद के निराकरण के लिए वर्ग-सघर्ष का दर्शन ससार के समक्ष प्रकट किया था, फिर भी इस शोषण-प्रक्रिया मे निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है, बल्कि सघर्षजनित हिंसा और द्वेष का दिन दिन अधिक सगठन होता चला जा रहा है। मैंने यह भी समझाया कि वर्ग-भेद जब तक नहीं मिटेगा और वर्ग-सघर्ष का निष्फल प्रयास छोडकर मनुष्य उसका वैकल्पिक उपाय नहीं निकालेगा, तब तक ससार मे शान्ति नहीं हो सकती है। गाधीजी ने चरखा-सघ के नव-सस्करण की चर्चा मे कार्यकर्ताओं को उत्पादक वर्ग में विलीन होने को कहकर वर्ग-परिवर्तन का विकल्प उपस्थित किया है। उसे साकार रूप देना चरखा-सघ के कार्यकर्ताओ का प्रथम कर्तव्य है, क्योकि बापू ने इस सिद्धान्त के अमल के लिए सबसे पहले चरखा-सघ के सामने ही यह प्रस्ताव रखा था। शिविर में आये सभी कार्यकर्ताओ को ये बाते अच्छी लगीं। वे अपने को कुछ पस्त हुआ मान रहे थे। अब वे महसूस करने लगे कि वे भी किसी क्रान्ति के वाहक हैं। तमिलनाड के मन्त्री भाई रामस्वामी मुझसे अलग भी बहुत-सी चर्चा करते रहे। वे कहने लगे कि "अफसोस है कि वे इन बातों को उस समय नहीं समझे, जब बापू थे, नही तो उनके सामने ही सघ द्वारा बहुत बडी क्रान्ति का वातावरण बनाया जा सकता था।" मैंने कहा : "सभी ईश्वर की माया है। आज भी अगर हम इस दिशा मे कुछ कर सकें, तो बहुत होगा।"

सेवाग्राम मे शिविर

कार्यकर्ताओं की प्रेरणा देखकर कुछ आशा बँधी। इतनी आशा

गाधी आश्रम के कार्यकर्ताओ मे घूमकर नही बँधी थी। महाकोशल के जो कार्यकर्ता आये थे, उन्होने भाई दादाभाई के नेतृत्व मे यह निर्णय ही कर लिया कि अपने प्रदेश मे जगह-जगह प्रमाणित खादी-सस्थाएँ कायम कर खादी के व्यापारिक (उत्पत्ति बिक्री के) काम को उन सस्थाओं के हाथ सौंपकर वे गॉव-गॉव फैल जायँगे और ग्राम-स्वावलम्बन की लक्ष्य-पूर्ति मे चरखे के काम को चलायगे। इन तमाम बातों से मै खूब उत्साहित हुआ।

किशोरलाल भाई का आशीर्वाद

इस काम मे मुझे पूज्य किशोरलाल भाई का भी आशीर्वाद मिला। किशोरलाल भाई से मेरा विशेष परिचय नही था। वैसे रणीवॉ में और सेवापुरी मे बैठकर काम करने के कारण मेरा परिचय बहुत कम आदमियों से था, लेकिन बडे आदमियो मे विनोबाजी तथा किशोरलाल भाई से नहीं के ही बराबर था। वे मुझे जानते अवश्य थे, लेकिन उनसे कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क नही रहा था। दस दिन के शिविर मे जो विवेचना की गयी, उसकी चर्चा वर्धा-परिवार मे काफी थी। कृष्णदास भाई और दूसरे लोग इन चर्चाओ को बीच-बीच मे उनके पास पहुँचाते रहे थे। मुझे मालूम हुआ कि उन्हे इन चर्चाओ मे बड़ा रस है। इससे मुझे बडी राहत मिली।

एक दिन कृष्णदास भाई उनसे मिलने जा रहे थे, तो मै भी उनके साथ चला गया। मेरे पहुँचने पर उन्होने मुझे खूब प्रोत्साहित किया। उन्होने कहा : "दिशा ठीक है और आप इस दिशा मे अवश्य आगे बढे।" उनसे बाते करने से मेरा उत्साह खूब बढा और फिर मै बीच-बीच मे उनसे चर्चा करने के लिए उनके पास जाता रहा। किशोरलाल भाई के साथ चर्चा करने से मेरी दृष्टि अधिक स्पष्ट हुई। बहुत सी बातों के बारे मे मैं सोचता ठीक था, लेकिन मेरे सामने उनकी सिलसिलेवार कोई कडी नहीं थी। उनकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टि ने मुझे बहुत प्रभावित किया, जिससे

और कई प्रश्नो पर मुझमे विचार की स्पष्टता आयी। बाद मे उन्होंने मेरे विचारों को 'हरिजन'-पत्रो के द्वारा प्रसारित करने की भी चेष्टा की।

किशोरलाल भाई की वैज्ञानिक तथा विश्लेषक दृष्टि को देखकर मैं अवाक् हो जाता था। मुझे पश्चात्ताप होता था कि जब जेल से लौटकर सेवाग्राम मे दो महीने तक टिका रहा था, तब उस समय उनके सम्पर्क मे क्यो नही आया! वस्तुतः आज मैं जिन विचारो को व्यक्त करता रहता हूँ, उनका स्पष्ट बोध उन्ही दो महीनो मे हुआ था। यदि उस समय किशोरलाल भाई के सम्पर्क में आया रहता, तो विचार-प्रवाह के बीच-बीच में पडनेवाली गाँठो मे न उलझता और न इधर-उधर ही कही भटकता। लेकिन जैसा कि तुम्हे मालूम ही है, मेरा स्वभाव हमेशा कुछ पीछे रहने का रहा है। इसलिए बिना मतलब मैं कभी बडे आदमियो के पास नहीं जाता था। बापू के पास भी तभी जाता था, जब जरूरत होती। गप्पी तो मैं हमेशा रहा हूँ, लेकिन मेरी गप्प अपनी बराबरी के साथियो के तथा छोटे बच्चो के साथ ही चलती थी। इसी कारण १९४५ मे मैं इतने महान् दार्शनिक के सम्पर्क मे नहीं आ सका। आज वे नही है। यदि वे होते, तो आज सर्वोदय का विचार जिस प्रकार से विकसित हुआ है, उसकी गूँज वैज्ञानिक भाषा में सारी दुनिया मे पहुँची होती!

सेवाग्राम का शिविर समाप्त हुआ और लोग अपने-अपने प्रदेश मे चले गये। उसके बाद जयपुर-काग्रेस का अधिवेशन था। सघ के प्रमुख कार्यकर्ता वहाँ की प्रदर्शनी के सगठन में लग गये।

जयपुर-कांग्रेस में

जयपुर-काग्रेस अधिवेशन मे प्रदर्शनी के बहाने देशभर के रचनात्मक कार्यकर्ता एकत्र हुए थे। उन लोगो का आग्रह था कि उनके बीच मे चरखा-आन्दोलन की नयी दृष्टि स्पष्ट करूँ और प्रतिदिन प्रार्थना के बाद उसका विवेचन करूँ। तदनुसार मैं सुबह की प्रार्थना के बाद गाधी-विचार का विवेचन करने लगा। इससे रचनात्मक कार्यकर्ताओ का उत्साह बढा। उनका आग्रह हुआ कि मैं एक अखिल भारतीय दौरा करूँ। चरखा-सघ के साथियो की भी ऐसी राय रही

कि केवल रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे ही नही, बल्कि जनता मे भी इस बात का विवेचन होना चाहिए।

जयपुर-कांग्रेस से लौटते ही मै अखिल भारतीय यात्रा के लिए निकल पडा। मुझमे इसके लिए बडी हिचक थी। सोचता था कि पता नहीं, मै लोगो के सामने अपना विचार ठीक-ठीक रख सकूंगा या नहीं। अपने कार्यकर्ताओ के साथ बैठकर चर्चा करना एक बात है और चरखा-सघ के अध्यक्ष के नाते देश-भर का दौरा करना दूसरी बात है।

देशव्यापी दौरा

तदनुसार मैंने गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मैसूर, आन्ध्र तमिलनाड तथा केरल प्रान्तो का दौरा कर डाला। दौरे के बीच मैंने अपने सारे विचार लोगो के सामने रख दिये। मैने बताया कि 'हुजूर' और 'मजूर' के रूप मे उत्पादक-वर्ग तथा व्यवस्थापक-वर्ग के वर्गीकरण का निराकरण जब तक नही होगा, तब तक दुनिया से शोषण तथा निर्दलन का अन्त नही हो सकता और न ससार मे शान्ति की स्थापना ही हो सकती है। मैं यह भी कहता था कि इस वैज्ञानिक युग मे यदि शान्ति की स्थापना न हुई, तो मनुष्य-जाति का अस्तित्व ही खतरे मे पड जायगा।

इतिहास तो मैंने पढा नही है, लेकिन तुम जैसे साथियो से जो कुछ सुन रखा था, उसके आधार पर मै इस 'हुजूर-मजूर' के तत्त्व का कुछ ऐतिहासिक विवेचन भी करता था। बन्दर और बिल्ली की कहानी के उदाहरण से मानव-समाज के शोषण का इतिहास बता डालता था। मनुष्य ने आपसी प्रति-द्वन्द्विता जनित अशान्ति के निराकरण के लिए राज-पद का कैसे आविष्कार किया, राजपद की जिम्मेदारी चरितार्थ करने के बहाने किस तरह राजकर्मचारी-वृन्द का जन्म हुआ और साथ साथ सामन्तवाद का सगठन हुआ, बाद में औद्योगिक क्राति के सिलसिले मे कारखाने तथा व्यापार की वृद्धि के कारण किस तरह पूंजीवाद का सगठन

'हुजूर-मजूर' का विवेचन

हुआ और अन्त मे पूँजीवाद तथा राज्यवाद के गठबन्धन से समाज की बागडोर किस तरह अनुत्पादक-वर्ग के हाथ में चली गयी और आगे चलकर एक दुर्लंघ्य मैनेजरवाद की सृष्टि हो गयी— इन सब बातो की विवेचना से मै यह बताने की कोशिश करता था कि जिस तरह बन्दर ने रोटी कमानेवाली बिल्लियो को सेवा देने के बहाने उनकी पूरी की पूरी रोटी हड़प ली और बिल्लियो को भूखा रखा, उसी तरह राज्य, पूँजी तथा व्यवस्था की सस्था चलाने के बहाने हम लोग, जो कि शुद्ध मेहनत से एक भी रोटी का उत्पादन करने मे असमर्थ हैं, समाज की सम्पत्ति के अधिकाश का उपभोग कर लेते हैं, और वे श्रमिक, जो उस रोटी के उत्पादन मे निरन्तर पसीना बहाते रहते हैं, रोटी के लिए मुहताज ही बने रहते हैं। इसी सिलसिले में वर्ग-परिवर्तन की मीमासा भी स्पष्टतर होती गयी।

इस दौरे से मेरे विचार मे भी स्पष्टता आती गयी। इस सिद्धान्त की बुनियाद पर मै आर्थिक तथा राजनीतिक मीमासा भी करने लगा।

त्रिविध तत्त्व का शास्त्र

अहिंसक समाज की रचना के लिए राज्य-सस्था का लोप होना चाहिए, शासन-मुक्ति के बगैर हिसा मुक्ति सम्भव नहीं है, शासन-मुक्ति शोषण मुक्ति के बिना असम्भव है और वर्ग-विषमता के चलते शोषण-निराकरण हो ही नहीं सकता है। इस त्रिविध तत्त्व का एक शास्त्र ही बना डाला, जिससे रचनात्मक कार्यकर्ताओ को अत्यधिक प्रेरणा मिली। ससार की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया वर्ग-निराकरण से ही आरम्भ होती है। वर्ग-सघर्ष के विकल्प के रूप मे वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया का चित्र पाकर गाधीवादी कार्यकर्ताओ को बहुत उत्साह मिला। इस दौरे ने रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे से पराजय की भावना निकालकर एक नया उत्साह पैदा कर दिया।

सारे देश की रचनात्मक सस्थाओ मे गाधी विचारधारा के क्रान्तिकारी पहलू के चिन्तन ने उनकी दृष्टि को समग्रता की ओर आकर्षित किया। चरखा-सघ के कार्यकर्ता भी इस दिशा में सोचने लगे। इससे

चरखा-सघ के नव-सस्करण की ओर कदम बढाना आसान हो गया।

नव-संस्करण की दिशा में

मार्च सन् '४८ की बैठक मे चरखा-सघ ने विकेन्द्रीकरण का जो प्रस्ताव किया था, उसका अमल आसानी से होने लगा और विभिन्न प्रान्तो के रचनात्मक कार्यकर्ता अपने-अपने प्रदेश मे नयी-नयी सस्थाएँ बनाकर खादी का काम अपने हाथ मे लेने लगे।

यह सब तो हुआ, लेकिन इस निरन्तर दौरे से मेरा स्वास्थ्य बिलकुल टूट गया। बात-बात में हाथ-पॉव कॉपने लगे और चक्कर आने लगे।

उरुली में विश्राम

सेवाग्राम लौटते ही साथियो ने मुझे उरुलीकाचन भेज दिया। वहॉ बालकोबाजी के स्नेह के आश्रय मे चार-पॉच महीने रहा। इसी बीच मैंने चरखा-सघ के कार्यकर्ताओ को पत्र लिखे। उनके जरिये मैंने देश के मध्यम-वर्ग को यह चेतावनी दी कि यदि वे समय रहते वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति मे शामिल नही होते, तो वर्ग-सघर्ष की आग मे जलकर खाक हो जायँगे। इसी समय मैंने 'आजादी का खतरा' शीर्षक एक पुस्तिका भी लिखी, जिसमे करीब-करीब उन्हीं बातों का विवेचन था, जिन्हे मै अपने दौरे मे कहा करता था। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद गाधीजी के विचार के अनुसार अगर देश का सगठन नही हुआ, तो आजादी ही देश के लिए किस तरह खतरा साबित हो सकती है, इसी बात का विवेचन उसमे था। इस पुस्तक से भी चरखा-सघ तथा दूसरी सस्थाओं के कार्यकर्ताओ को प्रेरणा मिली।

ooo

रचनात्मक कार्य और राजनीतिक दल : ८ :

उरुलीकांचन, पूना

२६-३-'५८

इस प्रकार मै चरखा-सघ के नव-सस्करण को अमल मे लाने के लिए विचार-प्रचार द्वारा अनुकूल वातावरण पैदा करने में डेढ वर्षों तक पूरी एकाग्रता से लगा रहा। इस बीच सेवापुरी के जीवन मे भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। मैं बीच-बीच मे वहॉ जाता अवश्य था, सलाह भी देता था. लेकिन मेरा चिन्तन सदा चरखे की नयी दृष्टि की ओर ही रहा। सेवापुरी-आश्रम लोक-सेवक-सघ के मातहत भाई सादिक अली के सचालन मे चलता रहा और दादा (कृपालानीजी) उसका प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन करते रहे। परन्तु यह सिलसिला अधिक दिनो तक नहीं चल सका।

उत्तर प्रदेश मे लोक-सेवक-सघ की स्थापना बडे जोर-शोर से हुई थी। दादा के नेतृत्व मे उत्तर प्रदेश के ऐसे सभी नेता उसके सदस्य बन गये थे, जो बापू के भक्त रहे हैं। बापू की अन्तिम इच्छा को पूरा करने मे इन लोगो मे व्याकुलता तथा गाभीर्य की कमी नहीं थी। फिर भी उसके काम मे विशेष प्रगति नहीं हुई। कुछ बैठके हुई, लेकिन फल कुछ नही निकला।

मृत्यु के एक दिन पहले बापू ने जिस प्रकार के लोक-सेवक-संघ की स्थापना की सलाह दी थी, उस प्रकार का सगठन उत्तर प्रदेश मे नहीं हुआ। उन्होने काग्रेस का स्वरूप बदल करके

बापूकी कल्पना उसे लोक-सेवक सघ मे रूपान्तरित करने को कहा था। उन्होने कहा था कि काग्रेस राजसत्ता अपने हाथ मे न ले और वह 'लोक-सेवक-सघ' के रूप मे गॉव-गॉव मे जनता के बीच फैल जाय तथा उनकी सेवा करके प्रत्यक्ष लोक-शक्ति का निर्माण करे।

बापू की लोक-सेवक-सघ की कल्पना के बारे मे उनके अनुयायी तरह-तरह के विचार रखते हैं। पर मुझे तो इस कल्पना के पीछे राजनीति-शास्त्र का एक नया अध्याय दिखाई पडा। राजतन्त्र की समाप्ति के बाद लोकतन्त्र की स्थापना हुई। विभिन्न देशो मे विभिन्न सविधानो के अनुसार विधानसभाएँ बनीं। विरोधी दल के रूप मे शासकीय दल के सशोधन की बात भी सोची गयी। लेकिन समाज मे प्रत्यक्ष लोकशाही की स्थापना नही हो सकी। विधानसभा राजनीतिक दलो का अखाडा बनी, राज्य-व्यवस्था नौकरशाही की वज्रमुष्टि मे बनी रही। दर्शक की हैसियत से कभी इस राजनीतिक दल को, तो कभी दूसरे दल को प्रोत्साहित अवश्य करती रही, पर सत्ता पर उसका प्रत्यक्ष नियत्रण नही रह सका। निस्सन्देह बापू जैसे युग पुरुष की दृष्टि से यह परिस्थिति ओझल नहीं रही होगी। उन्होने लोक-सेवक-सघ की कल्पना द्वारा राजशाही के स्थान पर वास्तविक लोकशाही की स्थापना का दिशा निर्देश किया ही होगा, इसमे सन्देह नहीं। वस्तुत' बापू की लोकशाही की परिभाषा ही ऐसी थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि इग्लैंड, जर्मनी, फ्रास, अमेरिका आदि तथाकथित लोकतान्त्रिक देशों मे कही भी सच्ची लोकशाही नही है और जनता के कुछ लोग शासन-सत्ता मे चले जायँ, इतने मात्र से लोकशाही नहीं होती है, बल्कि जहॉ पर जनता प्रत्यक्ष रूप से अधिकार के दुरुपयोग को रोक सके वहीं लोकशाही होती है। अब प्रश्न यह है कि दुरुपयोग के अवसर पर जनता किसके नेतृत्व मे विद्रोह करे? देश के सभी जन-सेवक सत्ता के अग हों, तो जनता की स्वतन्त्र लोकसत्ता का नेतृत्व कौन करे और आवश्यकता पडने पर विद्रोह का नायक कौन बने? निस्सन्देह इसके लिए ऐसा नेतृत्व आवश्यक है, जो पक्षातीत हो, जो सेवा करने के बावजूद सत्ता का आकाक्षी न हो, जिसके बारे मे जनता निस्सन्देह हो कि सेवा ही इसका एकमात्र धर्म है, जो जनता के किसी एक अश मात्र का प्रतिनिधित्व न करके सम्पूर्ण जनता का सेवक हो तथा उसके आह्वान के पीछे दलगत स्वार्थ न हो। पुराणो मे सत्ताधारी इन्द्र को कौन चुनौती

दे सकता था ! वही, जो इन्द्र के बराबर अथवा उससे अधिक तपस्या करने पर भी इन्द्रासन का आकांक्षी न होकर गण-देवता के रूप मे गण के साथ ही रहता था।

लोकतन्त्र के पुराने विचार के अनुसार विधानसभा के विरोधी दल को ही आवश्यकता पड़ने पर गण-विद्रोह का नायक बनना चाहिए।

विरोधी दल की स्थिति

लेकिन वह ऐसा कैसे बन सकेगा ? जन-विद्रोह उसे कहते हैं, जिसमें सारी जनता शरीक हो। विरोधी दल सारी जनता को कैसे शरीक करे ! वह जनता के अल्पमत का प्रतिनिधि है याने उस पर बहुमत का भरोसा नहीं है। तो सारी जनता का नायकत्व वह कैसे करेगा ? इसलिए चालू लोकतन्त्र का विरोधी दल स्वतन्त्र लोकसत्ता का जामिन नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि लोकसत्तात्मक राजनीति मे गणतन्त्र की रक्षा के लिए नयी खोज हो। लोक-सेवक-सघ के रूप में तृतीय शक्ति की कल्पना पेश कर गाधीजी ने जनतन्त्र की रक्षा के लिए नयी सस्था का आविष्कार किया। यह सस्था निरन्तर जनता की सेवा करने पर भी सत्ता की आकाक्षा रखनेवाली न हो और न सत्ताधारी सस्था का कोई अग ही बने। वह जनता के पक्षविशेष की प्रतिनिधि न हो। उसका अधिष्ठान समग्र जनता के सेवक के रूप मे ही रहे, ताकि समस्त जनता उसका विश्वास कर सके। तुम्हे शायद यह मेरी मनगढन्त कल्पना लगे, पर बात ऐसी नहीं है। उसके पीछे आधार है। मुख्य आधार तो बापू-विचार ही हैं। जेल से छूटने के बाद से ३० जनवरी १९४८ तक बापू के सान्निध्य में रहने का मुझे जो अवसर मिला है, उसका आधार भी बड़े महत्त्व का है। मैं कह चुका हूँ कि उनके इन्हीं दिनों के सम्पर्क से मेरे विचार मे स्पष्टता आयी थी।

इस बीच की एक चर्चा विशेष उल्लेखनीय है। सन् '४७ के अन्तिम दिन थे। बापू के घनिष्ठ सम्पर्क के लोग दिल्ली में एकत्र थे। बापू की सभी रचनात्मक सस्थाओ के कार्यकर्ता भी वहाँ थे। दादा (कृपालानीजी),

शकररावजी, डॉ० जाकिर हुसेन, प्रफुल्ल वाबू आदि नेता वहॉ उपस्थित थे। विभिन्न चर्चाओ में मुख्य चर्चा यह रही कि

महत्त्वपूर्ण चर्चा

स्वराज्य तो हो गया है, पर अब राष्ट्र निर्माण की दिशा क्या हो। काग्रेस के राज्यकर्ता नेताओ ने गाधीजी के आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों को न तो अपनाया था और न वे उन्हें अपनाना ही चाहते थे। प्रश्न यह था कि ऐसी हालत मे उन लोगो का क्या कर्तव्य है जो निष्ठापूर्वक यह मानते थे कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद वापू की वतायी दिशा में राष्ट्र-निर्माण-कार्य हो सकेगा। आम राय यह थी कि गाधीवादी पक्ष को सत्ता में जाकर उसका उपयोग करना चाहिए। चर्चा गम्भीर थी और गाधीवादी नेता इस चर्चा मे शामिल थे। मैं यद्यपि केवल श्रोता ही था, तो भी अपने स्वभाव के अनुसार मैं इन चर्चाओं मे से वैचारिक खुराक लेता रहा।

पर्याप्त चर्चा हो चुकने के वाद बापू पधारे। नेता लोगो ने वापू के सामने अपने मन की परेशानी जाहिर की। वापू ने सव सुना और अपनी दृष्टि उनके सामने रखी। उसका सार यही था कि इसके लिए सत्ता मे जाने की आवश्यकता नहीं है, वल्कि सत्ता मे जाना नही चाहिए। वास्तविक शक्ति सत्ता के हाथ मे नहीं रहती, वह तो जनता के हाथ मे रहती है। जनता को इसका वोध होना चाहिए और वोध कराने का यह काम रचनात्मक कार्यकर्ताओं का है। जनता को आत्मशक्ति का वोध कराकर उसका सगठन ही रचनात्मक कार्य का ध्येय है।

यह सव कैसे हो सकेगा, उसकी प्रक्रिया और कार्यक्रम क्या होगा, इत्यादि प्रश्नों पर भी पर्याप्त चर्चा हुई। तय यही हुआ कि सेवाग्राम में फरवरी '४८ के प्रथम सप्ताह में देशभर के रचनात्मक

विधि का विधान

कार्यकर्ताओं का सम्मेलन हो और वापू वहॉ अपनी योजना रखे। किन्तु विधि का विधान कुछ और था। ३१ जनवरी को वापू दिल्ली से रवाना होनेवाले थे, लेकिन ३० को ही चले गये!

बापू तो गये, लेकिन दिल्ली की बैठक से मुझ पर यह छाप पडी कि बापू राज्य-सत्ता से भिन्न किसी प्रकार की स्वतन्त्र लोकशक्ति की खोज मे थे। यही कारण है कि बापू के लोक-सेवक-सघ की कल्पना के सम्बन्ध मे मेरी ऐसी धारणा बनी।

उत्तर प्रदेश मे जो 'लोक-सेवक-सघ' बना, उसके पीछे ऐसी दृष्टि नही थी, यह मै कह ही चुका हूँ। बापू ने तो उन लोगो के द्वारा लोक-सेवक-सघ की स्थापना की बात कही थी, जो सत्ता मे न जायँ और सत्ता के अतिरिक्त तीसरी शक्ति का निर्माण करें। लेकिन इस लोक-सेवक-सघ मे तो वे लोग ही थे, जो पहले से ही सत्ता मे मौजूद थे। सत्तानिष्ठ तथा सत्ता मे बैठे हुए व्यक्तियो द्वारा सत्ता-निरपेक्ष लोक-सेवा के कार्य से स्वतन्त्र लोकशक्ति का निर्माण कैसे हो सकता है ? अतः उत्तर प्रदेश के लोक-सेवक-सघ की असफलता स्वाभाविक थी।

स्वतत्रता मिल जाने पर राजनीतिक दलो द्वारा रचनात्मक काम शायद नहीं हो सकेंगे। बापू का कुछ ऐसा ही खयाल था। उनकी एक दिन की बातो से मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ।

तुम्हे याद होगा कि दादा जब काग्रेस के अध्यक्ष हुए थे, तो उन्होने अत्यन्त उत्साह के साथ काग्रेस-सगठन द्वारा रचनात्मक काम करने की कोशिश की थी। काग्रेस की रचनात्मक उप-समिति बनी और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्तरो पर रचनात्मक विभाग भी बने। कुछ और छोटी छोटी समितियाँ बनी, जो सरकार को रचनात्मक कामो के बारे मे योजना देती। शिक्षासम्बन्धी योजना के लिए जो कमेटी बनी, उसमे डॉ० जाकिर हुसेन और आर्यनायकम्जी थे।

कांग्रेस द्वारा रचनात्मक कार्य

१९४७ की बात है। बापू पटना आये हुए थे। स्वभावतः सभी रचनात्मक कार्यकर्ता वहाँ एकत्र थे। चरखा-सघ, तालीमी सघ आदि तमाम रचनात्मक सस्थाओ की बैठक रखी गयी थी। कई दिन बैठके चलीं। और सस्थाओ का काम हो चुका था, चरखा-सघ की बैठक जारी

थी। हम लोग चर्चा कर ही रहे थे कि इस बीच आर्यनायकम्‌जी बापू से विदा लेने आये।

बापू ने पूछा : "इतनी जल्दी क्यो?" जवाब मे नायकम्‌जी ने यह सूचना दी कि काग्रेस रचनात्मक समिति की ओर से उन्हे केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मन्त्री से मिलकर शिक्षा के बारे मे योजना देनी है।

उनके पूछने पर नायकम्‌जी ने दादा की योजना कह सुनायी। बापू मुस्कराये। उन्होने कहा : "प्रोफेसर से कहो कि रचनात्मक काम करने के लिए वह जगह नहीं है।" आगे चर्चा नही चली, लेकिन समझने के लिए बापू का इतना इशारा ही काफी है। तुम्हे मालूम है कि दादा द्वारा प्रतिपादित काग्रेस रचनात्मक विभाग विशेष कुछ कर नही सका और आगे चलकर वह समाप्त हो गया।

ढेवरभाई का प्रयत्न

१९५५ मे ढेबर भाई काग्रेस-अध्यक्ष बने। वे पुराने रचनात्मक कार्यकर्ता हैं। इस काम के लिए उनकी निष्ठा सर्वविदित है। काग्रेस-अध्यक्ष बनते ही वे भी काग्रेस के रचनात्मक विभाग का सगठन करने मे जुट गये। जिस समय उनका नाम काग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए आया था, उस समय मैं सौराष्ट्र के सनोसरा मे होनेवाले अखिल भारतीय नयी तालीम-सम्मेलन मे था। उसी समय उनसे मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। उनके मीठे स्वभाव ने मुझे आकर्षित किया और पहले परिचय मे ही मित्रता हो गयी। स्वभावत रचनात्मक विभाग के सगठन के बारे मे वे मुझसे चर्चा करते रहे।

इन चर्चाओ के बीच एक बार मैंने ढेबर भाई से कहा कि काग्रेस-सस्था पक्षगत राजनीति मे इस तरह डूबी है कि उसके जरिये रचनात्मक काम के किये जाने मे मुझे सन्देह है। लेकिन उनकी निष्ठा अटल थी। उन्होने कहा : 'काग्रेस सस्था से ही तो रचनात्मक काम हो सकेगा।" मैंने दादा कृपालानीजी की असफलता का जिक्र किया, तो उन्होने कहा कि "उस समय की परिस्थिति से आज की परिस्थिति भिन्न है।"

मैंने भी अधिक चर्चा न करके यथासम्भव सहयोग देने की ही कोशिश की। लेकिन पिछले तीन सालो का अनुभव यही बताता है कि ऐसा प्रयत्न सफल नहीं होता।

ऐसे अनुभव पर मन में एक विचार आता है। आखिर रचनात्मक काम का उद्देश्य क्या है? अगर इसका उद्देश्य पिछड़े हुए देश का निर्माण मात्र है, तो कांग्रेस-दल के हाथ में सत्ता रहते हुए अलग से रचनात्मक काम करने की उसे क्या आवश्यकता है? राज्य होने के कारण जिस संस्था के हाथ मे देशभर के साधन मौजूद हैं, वह जिस रचनात्मक काम को करना चाहे, उसे सरकारी तंत्र द्वारा तो चला ही सकती है, तो उसे अलग से रचनात्मक कार्यक्रम बनाने की क्या जरूरत है? अगर कांग्रेस संस्था यह समझती है कि सरकार जिस ढंग से चलाती है, वह ढंग ठीक नहीं है, तो सत्ताधारी दल द्वारा ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? अगर वह मानती है कि सरकार जो कुछ भी चला रही है, वह ठीक है, तो अलग कार्यक्रम न बनाकर उसी सरकारी कार्यक्रम को मजबूत बनाने में उसे हाथ बँटाना चाहिए। शासनारूढ राजनीतिक संस्था द्वारा अलग से रचनात्मक काम की योजना बनाने के पीछे कुछ अन्तर्विरोध है, ऐसा मुझे लगता है। इस अन्तर्विरोध के रहते सफलता कैसे मिल सकती है?

सफलता क्यों नहीं मिलती?

अब रही विरोधी राजनीतिक पक्ष की बात। वे लोग भी रचनात्मक काम करने की बात करते हैं, लेकिन कहीं कुछ होता नहीं दीखता है। इसके कारणो का भी पता लगाने की आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि विरोधी दल की बुनियाद क्या है? विरोध वैचारिक है या व्यक्तिगत? अगर वैचारिक है, तो विचार-भेद की बुनियाद क्या है? इंग्लैंड में 'कन्जरवेटिव दल' तथा 'लेबर दल' के रूप मे दो दल हैं। उनमे आर्थिक बुनियाद पर विचार-भेद है। कभी-कभी विचारगत और व्यक्तिगत—दो मे से एक भी न होकर—राज्य चलाने के बारे में मतभेद पर भी पक्ष बन

विरोधी पक्षों की स्थिति

सकते है। जैसे, इग्लैंड के 'कन्जरवेटिव दल' और 'लिबरल दल' या अमेरिका के 'रिपब्लिकन दल' और 'डेमोक्रेटिक दल'।

इस सन्दर्भ मे भारत के विभिन्न दलो पर विचार करने की आवश्यकता है। यहाँ काग्रेस दल, समाजवादी दल, साम्प्रदायिक दल तथा कम्युनिस्ट दल हैं। साम्प्रदायिक और समाजवादी दलों की विभिन्न शाखाओ को मै छोड देता हूँ। काग्रेस के कथनानुसार उनका ध्येय भी समाजवाद है। कम्युनिस्ट दल का ध्येय भी समाजवाद है। पहले कम्युनिस्ट दल शान्तिमय लोकतन्त्रीय तरीके को नहीं मानता था। अब वह उसे मानने लगा है। इस प्रकार काग्रेस, समाजवादी तथा कम्युनिस्ट दलो मे वैचारिक भूमिका मे विशेष भेद नहीं रह जाता है। काम करने के तरीकों मे ही अन्तर है। ऐसी हालत मे जब कम्युनिस्ट दल तथा समाजवादी दल राजकीय काग्रेस दल के विरोधी हैं, तो उनके लिए सरकार द्वारा चलाये जानेवाले रचनात्मक काम को छोडकर और कौनसा रचनात्मक काम हो सकता है? विकेन्द्रित अर्थनीति को काग्रेस तथा समाजवादी दोनों ही विशिष्ट मर्यादा मे मानते हैं। कम्युनिस्ट भी उसे कुछ अश मे मानने लगे हैं। आज भारत मे रचनात्मक काम मुख्यतः आर्थिक प्रश्न को ही लेकर है और वह भी बापू के कारण प्रधानत' चरखामूलक है। कम्युनिस्ट पार्टी को इन बातो मे आस्था नही है। समाजवादी और काग्रेस के लोग करीब-करीब एक राय के हैं। साम्प्रदायिक दलो के सामने समस्या रचना की नही है, बल्कि उनका काम तो शायद उस रचना को सँभालने का है, जो आज काल-प्रवाह से टूट रही है। अत. नयी रचना का प्रश्न उनके सामने नहीं आता। कुछ आर्तजनो की सहायता उनके दायरे मे आ सकती है, लेकिन जन-कल्याणकारी राज्यवाद के युग मे गैर सरकारी राहत के काम का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसी हाल्त में विरोधी दलो के लिए कोई स्वतन्त्र रचनात्मक काम बचता ही नही है।

भारतीय दृष्टि से विचार

तुम कहोगी कि काग्रेस, समाजवादी तथा कम्युनिस्ट दलो के बुनि-

यादी विचार एक होने पर भी कार्य-शैली मे कुछ अन्तर है और उस अन्तर के कारण वे स्वतन्त्र रूप से अपनी पद्धति से रचनात्मक काम कर सकते है और उन्हे ऐसा करना चाहिए। लेकिन ऐसा करने के लिए उनकी मानसिक तैयारी नही है। इस वैज्ञानिक युग मे राज्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र जन-शक्ति द्वारा राष्ट्र-निर्माण का कुछ भी काम हो सकता है, यह बात वे मानते नही हैं। राजनीतिक दल राजनीति पर ही विश्वास करेगे। राज्य के बिना वे कोई नीति निर्धारित कर ही नही सकते। वे मानते हैं कि अपने विचार तथा अपनी नीति के अनुसार राष्ट्र-निर्माण तथा सचालन करने के लिए राज्य-सत्ता का अपने हाथ मे होना अनिवार्य है। अत. राज्य-निरपेक्ष रचनात्मक काम के प्रति रुचि न रहना राज-नीतिक पक्षो का स्वभाव धर्म है। इसलिए उनका समग्र चिन्तन तथा सम्पूर्ण शक्ति सत्ता को हाथ मे लेने के सगठन मे ही लगती है। अपने समय और शक्ति को दूसरे कामो मे लगाकर उसका अपव्यय करना वे नही चाहते।

कार्य-शैली मे अन्तर

तुम कहोगी कि माना, यह बात सही है, फिर भी सत्ता हाथ मे लेने के लिए उनके लिए रचनात्मक काम करना फायदे का होगा। कारण, प्रत्यक्ष रचनात्मक कार्य द्वारा जन-सेवा करने से उनकी लोकप्रियता बढेगी, तो उन्हे वोट भी ज्यादा मिलेगा। तुम्हारा यह विचार टिकनेवाला नही है। यह तब होता, जब व्यक्तिगत लोकप्रियता ही चुनाव की बुनियाद होती। हर पक्ष की यही निष्ठा है कि चुनाव व्यक्तिगत बुनियाद पर न होकर पार्टीगत बुनियाद पर होना चाहिए। वे व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर वोट नही माँगते हैं, बल्कि पक्ष के घोषणा-पत्र के आधार पर माँगते हैं। हर पक्ष के लोग मतदाताओ को समझाते है कि उनके पक्ष की नीति से जनता को लाभ है, इसलिए अपने पक्ष के अदना-सा आदमी को भी वोट देने का वे आग्रह करते हैं।

रचनात्मक कार्य में बाधा क्यो?

तुम्हे याद होगा कि अखिल भारत सर्व-सेवा-सघ ने पहले चुनाव सम्बन्धी अपने प्रस्ताव मे जब यह कहा था कि मतदाता सज्जन व्यक्ति देखकर, न कि पार्टी देखकर वोट दे, तो हर पक्षवाले को इस प्रस्ताव से असन्तोष हुआ था। दूसरे चुनाव मे सर्व-सेवा-सघ ने जब आगे बढकर विभिन्न पक्षो के सदस्यो को यह सलाह दी कि वे अपने पक्ष के खराब आदमी को वोट देने के बजाय वोट एकदम न देना कबूल करे, तो विभिन्न पक्षो के लोगो का असन्तोष पराकाष्ठा पर पहुॅच गया था। ऐसी हाल्त में रचनात्मक कार्य से लोकप्रियता हासिल करना भी दलगत राजनीति के स्वधर्म मे बैठता नहीं। इसलिए रचनात्मक काम के बजाय अपने दल का सगठन तथा वजन बढाने मे लगे रहना उनके लिए अधिक स्वाभाविक है। वजन बढाने का मतलब है, उतने गॉव मे जो लोग वजनदार है उन्हे अपने पक्ष मे करने की चेष्टा। इस पूॅजीवादी, जातिवादी तथा जमीदारी समाज मे किनका वजन है, यह आसानी से समझ सकती हो।

राजनीति में स्वधर्म से बाधा

वस्तुत. रचनात्मक कार्य के बारे मे हमारे देश मे स्पष्ट चिन्तन नहीं है। बापू के प्रति श्रद्धा के कारण हर पक्ष के लोगो का उनके कार्यक्रम के प्रति आदरभाव है। इसलिए वे सब इन कामो के प्रति शुभ कामना रखते है। शायद कुछ सहयोग भी करना चाहते है। लेकिन राजनीति के स्वभाव और स्वधर्म के कारण वे प्रत्यक्ष कुछ कर नही पाते। जो लोग बापू के रचनात्मक कार्यक्रम मे निष्ठापूर्वक लगे हुए है, उन्हे भी स्पष्ट विचार करने की आवश्यकता है।

इसके लिए राज्य-सस्था के इतिहास पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। आरम्भ मे मनुष्य ने राज्य-सस्था का निर्माण इसलिए किया था कि आवश्यकता पडने पर वह उसका इस्तेमाल कर सके। राजा रक्षा के लिए ही था। यज्ञ मे ताडका की तरह कोई विघ्न डाले, तो उस स्थिति मे राज्य का उपयोग था। धीरे-धीरे जनता अपने सुख और सुविधा के लिए राज्य

पर अधिक जिम्मेदारी सौंपने लगी और आज राज्य का स्वरूप रक्षाकारी मात्र न रहकर कल्याणकारी हो गया है। स्वभावतः आज की जनता की अपेक्षा यह है कि उसके समग्र कल्याण की तथा उसकी सारी समस्याओ के समाधान की जिम्मेदारी राज्य की है। जनता का काम केवल इतना ही है कि वह राज्य-सचालक चुन दे और उसके हाथ आवश्यक साधन दे दे।

तुम कहोगी कि जनता केवल राज्य-सचालक नही चुनती है, बल्कि विरोधी दल के रूप मे उनके लिए एक प्रहरी भी चुनती है। पर यह बात सही नही है। जनता प्रहरी चुनने की दृष्टि से किसीको वोट नहीं देती है। वोट राज्य सचालन के लिए ही दिया जाता है। फिर जिस दल के प्रतिनिधि यथेष्ट सख्या मे नही चुने गये, यानी जिस दल को बहुमत ने अयोग्य समझा, वह राज्य-सचालन का प्रहरी बना। भला सोचो तो सही कि तुम यदि किसी काम के लिए अयोग्य हो, तो उस काम के लिए दूसरे योग्य व्यक्ति की निरीक्षिका कैसे बन सकती हो ?

तो, आज का राज्य कल्याणकारी राज्य है। इसलिए जन-कल्याण की जिम्मेदारी उस पर है। जनता उस कल्याण-कार्य के लिए टैक्स देती है। फिर उसी काम के लिए स्वतन्त्र रचनात्मक संस्था की आवश्यकता क्या है ? आखिर हमारा रचनात्मक काम जनता के चन्दे से चलता है। जनता एक ही काम के लिए दुबारा टैक्स क्यो दे ? आज अगर देती है, तो केवल दान-धर्म की परम्परा के कारण, काम की वैचारिक मान्यता के कारण नही। जैसे-जैसे कल्याणकारी राज्यवाद का विचार स्पष्ट होता जायगा, वैसे-वैसे एक ही काम के लिए दुबारा कर देने का सिलसिला समाप्त होता जायगा। यह तो व्यावहारिक पहलू है। सिद्धान्त की दृष्टि से भी जिस जन-कल्याण के काम को सरकार करती है, उसे हम सरकार से बाहर अलग बैठकर क्यो करे ? तुम कहोगी कि सरकारी लोग उसे अच्छी तरह से नहीं कर सकते है, तो फिर हम ही सरकारी लोग बनकर उसे अच्छी तरह से क्यो न चलाये ?

अतएव स्वतन्त्र कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र रचनात्मक कार्यकर्ताओ को अपनी दृष्टि साफ कर लेनी चाहिए। स्वतन्त्र देश मे हर व्यक्ति को इन तीन मे से एक स्थिति स्वीकार करनी चाहिए :

कार्यकर्ता दृष्टि साफ कर लें

(१) अगर वे कल्याण-कार्य को ही मानते है, तो उन्हे कल्याणकारी राज्य मे घुसकर उसे परिपुष्ट करना चाहिए।

(२) अगर वे मानते है कि जो लोग राज्य मे है, उनके रहते यह काम अच्छी तरह से किया नही जा सकता है, तो उन्हे किसी विरोधी दल में शामिल होकर या अपनी दृष्टि से विरोधी दल का सगठन कर राज्य-सत्ता अपने हाथ मे लेनी चाहिए।

(३) इन दोनो बातो मे जिनकी आस्था नही है, उन्हे केवल कल्याण-कार्य मे न लगकर नयी सामाजिक मान्यता को स्थापित करने के काम मे लगना चाहिए।

पुरानी सामाजिक मान्यता के सन्दर्भ मे केवल कल्याण-कार्य के लिए राज्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र सस्था का कोई अर्थ नही है। ० ० ०

सेवापुरी : एक प्रशिक्षण-केन्द्र

: ९ :

अन्नभारती, खादीग्राम
११-४-'५८

सेवापुरी का लोक-सेवक-संघ असफल हुआ। सादिक भाई दिल्ली चले गये और वह केन्द्र फिर से गांधी आश्रम की शाखा बना। इस बीच चरखा-संघ के काम में मैं काफी व्यस्त हो गया। संघ के नये प्रस्ताव के अनुसार मैं विकेन्द्रीकरण की दिशा में लगा रहा। इस सिलसिले में देश का दौरा करने की आवश्यकता थी। सेवापुरी के काम को मैं देखता अवश्य था, लेकिन उसके लिए अपनी जिम्मेदारी मैंने नहीं मानी थी। केन्द्र के आश्रम में लौटने पर भी आश्रम के साथियों ने भी मेरी जिम्मेदारी नहीं मानी थी। लेकिन मैं बराबर वहाँ जाता रहा। करण भाई मुझसे जो भी सलाह चाहते थे, ले लेते थे।

सेवापुरी में प्रशिक्षण-केन्द्र

सेवापुरी के काम के लिए सलाह मैं अवश्य देता था, लेकिन उसके बारे में मैं निर्णय नहीं कर पा रहा था कि इसका स्वरूप क्या हो। चरखा-संघ के नव-संस्करण के पीछे जो दृष्टि थी, गांधी आश्रम की दृष्टि वह नहीं थी। उत्तर प्रदेश में नयी तालीम का काम बिलकुल नहीं हो रहा था। इसलिए मैंने सोचा था कि नयी तालीम का कुछ काम करने के लिए सेवापुरी की उपयोगिता है। लेकिन आश्रम ने उस काम को बन्द कर दिया था। इसके अलावा गांधी आश्रम ने सेवापुरी की कोई विशेष उपयोगिता नहीं समझी और उसने उसके लिए खर्च करना भी उचित नहीं माना। ऐसी हालत में मैंने करण भाई को यह सलाह दी कि वे सेवापुरी को सरकारी ग्राम सुधार के कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण-केन्द्र बनायें। साथ ही साथ गांधी आश्रम अपने काम के लिए कार्यकर्ता-शिक्षण की आव-

श्यकता यदि महसूस करे, तो उन लोगों की ट्रेनिंग भी वहाँ पर हो। इस तरह सेवापुरी एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी केन्द्र न बनकर एक गैर-सरकारी प्रशिक्षण-केन्द्र बन गया। बाद मे गाधी-निधि की ओर से वहाँ नयी तालीम का भी काम चला। लेकिन मैं सोचता रहा कि आखिर इसका बुनियादी उद्देश्य क्या है तथा इसकी स्थिति क्या है? यह जिस सस्था की शाखा है, उसे इसमे कोई दिलचस्पी नहीं। किसी नयी क्रान्ति का यह आधारभूत केन्द्र भी नहीं, इसे सरकारी केन्द्र भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह इसका कोई स्पष्ट स्वरूप नही निखरता है। फिर भी देश के लिए यह उपयोगी सस्था है। यह ठीक से चले, यह चिन्ता मुझे थी। अपने व्यस्त कार्यक्रम मे से जहाँ तक बन पडता था, मैं इसमे समय देता था।

इतने काम के लिए करण भाई की शक्ति पर्याप्त थी। १९३५ से वे मेरे साथ थे। मेरी दृष्टि को वे समझते थे और अपनी शक्तिभर उसे कार्यान्वित करते थे। इसलिए मैं निश्चिन्त था कि करण भाई इस काम को भलीभाँति कर लेंगे।

साथी कार्यकर्ताओं से अपेक्षा

यहाँ साथी कार्यकर्ताओं के बारे मे दो शब्द कह दूँ। करण भाई उस काम को ठीक से चला लेंगे, यह विश्वास मुझे सिर्फ इसलिए नहीं था कि वे पिछले तेरह-चौदह साल तक हूबहू मेरे विचार के अनुसार काम करते रहे और आगे भी करेंगे, बल्कि इसलिए था कि मूल विचार के प्रति वे वफादार थे और काम अपनी समझ से करते थे। कभी-कभी मेरी राय और मेरे विचार के विरुद्ध भी वे जाते थे, लेकिन उसका कारण था स्वतन्त्र चिन्तन। उनके स्वतन्त्र चिन्तन का मुझे विश्वास था।

साथी कार्यकर्ताओं के बारे मे हम अक्सर यह गलती करते हैं कि उनसे हमारी अपेक्षा यही रहती है कि वे हूबहू हमारे निर्देश के अनुसार ही काम करें। दुनिया मे किन्हीं दो मनुष्यों की भी दृष्टि, विचार या राय हूबहू एक नहीं हो सकती। विचार और राय तो दूर की बात है, दो

मनुष्यो के अँगूठो के निशान भी एक-से नहीं होते। इसलिए यह बात मान ही लेनी चाहिए कि एक गोल के कई कार्यकर्ता जब एक साथ काम करते है, तो उनमे कभी एक ही मत या एक ही दृष्टि नहीं हो सकती। 'सम चिन्तन', 'सम-मति' जैसे शब्द एक प्रकार से काल्पनिक ही हैं।

सम-चिन्तन नहीं, सह-चिन्तन

वस्तुत. दो मनुष्यो मे 'सम-चिन्तन' नहीं होता है, 'सह-चिन्तन' ही हो सकता है और 'सम्मति' के बदले मे 'अनुमति' ही हो सकती है। उसे 'सहमति' भी कह सकते है। इस बुनियादी तत्त्व को यदि हम समझ ले, तो कार्यकर्ताओ के बारे में हमारी बहुत-सी समस्याएँ हल हो जायँ।

करण भाई पर जिम्मेदारी

करण भाई मेरे साथ रणीवॉ गये थे। उनका सामाजिक विचार पहले से ही मेरे विचार से भिन्न था। कार्यशैली अलग थी। काम की दिशा भी भिन्न थी। लेकिन हमारा मूल उद्देश्य एक था और वह था—'स्वराज्य-प्राप्ति' और 'राष्ट्र-सेवा'। समाज-क्रान्ति के सन्दर्भ मे इस उद्देश्य मे कोई फर्क नहीं था। उसके लिए वे कोई भी कष्ट उठाने में पीछे नहीं रहते थे। मेरे प्रति उनका व्यक्तिगत प्रेम था और एक अनुज के नाते मतभेद होते हुए भी 'अनुमति' थी। हालॉकि शुरू मे ही मैंने उनसे कह दिया था कि "तुम मेरे साथ चल नहीं सकोगे", फिर भी तेईस साल से हम एक-दूसरे के साथ चलते आ रहे हैं। शुरू मे ही मैंने उनके अन्दर की शक्ति तथा श्रद्धा की भावना देख ली थी और हमेशा उसके विकास की कोशिश करता था। आज वे जिस कोटि की सेवा कर रहे हैं, उससे स्पष्ट है कि उनके बारे मे मेरा मूल्यांकन सही रहा है।

करण भाई सेवापुरी का काम केवल चला ही नहीं लेंगे, बल्कि उसके स्वरूप को विकसित भी कर सकेंगे, इस विश्वास के साथ मैं सेवापुरी का काम उनके जिम्मे छोड़कर चरखा-संघ के नव-संस्करण के काम मे पूरे तौर से लग गया।

● ● ●

रचनात्मक कार्य और कांग्रेस : १० :

श्रम विद्यापीठ, सर्वोदयनगर (पसना)
पो० कोराँव, जि० इलाहाबाद
१३-४-'५८

चरखा-सघ की विकेन्द्रीकरण की योजना के अनुसार भारत के प्रायः सभी केन्द्रो को स्थानीय समितियों के मातहत स्वतन्त्र सस्थाएँ बनाकर उन्हें सौंप दिया गया। तमिल्नाड, केरल और आन्ध्र की स्थानीय समितियाँ जिम्मेदारी उठाने को तैयार न थीं, अत. वे केन्द्र चरखा सघ की देखरेख मे ही रह गये। लेकिन केवल इतने से खादी के काम मे किसी तरह का दिशा-परिवर्तन नही हुआ। कम-से-कम मुझे सन्तोष नहीं हुआ।

नयी सस्थाएँ खादी का उत्पादन और बिक्री का व्यापारिक काम उसी तरह चलाती रहीं, जिस तरह चरखा-सघ चलाता था। चरखा-सघ में ग्राम-स्वावलम्बन, स्वतन्त्र जन-शक्ति आदि वैचारिक विकेन्द्रित व्यवस्था चर्चा होती थी, लेकिन इन सस्थाओ मे तो उसका भी अभाव हो गया। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण का यह तरीका खादी के काम को आगे ले जाने के बजाय पीछे की ओर ही ले गया।

बापू के सामने ही बिहार को लेकर यह चर्चा चली थी कि चूँकि चरखा-सघ एक बडी केन्द्रित सस्था है, इसलिए वह नयी दिशा मे मुडने मे असमर्थ हो रहा है। यदि स्थानीय लोगो के नेतृत्व मे हर प्रान्त मे छोटी-छोटी सस्थाएँ बने, तो वे आसानी मे तथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने को बदल सकती है। बिहार के मित्रो ने बापू के सामने ही अत्यन्त उत्साह के साथ अपने को विकेन्द्रित किया था। लेकिन वहाँ भी कुछ परिणाम नही दिखाई पडा। मेरे जिम्मेदारी लेने के बाद चरखा सघ मे जितनी

वैचारिक भूमिका बनी, उतनी भी बिहार मे नहीं बनी। इस परिस्थिति को देखकर मेरे मन मे शका उठने लगी कि प्रान्तो को अलग करके हमने सही कदम उठाया या गलत ?

लेकिन यह शका अधिक दिनो तक नहीं टिकी। मै सोचने लगा कि शायद ईश्वर का यही विधान है। चरखा-सघ यदि विकेन्द्रित नहीं होता, तो क्या हालत इससे अधिक अच्छी होती ? केन्द्र द्वारा सचालित सस्था मे बहुत-सा कानूनवाद अनिवार्यतः चलता है, जिसके कारण नीचे के कार्यकर्ता अपनी प्रेरणा से बहुत कुछ नहीं कर पाते। तो मैं यह मानकर सन्तोष करने लगा कि अगर प्रान्तो को विकेन्द्रित नहीं किया गया होता, तो चरखा-सघ के मातहत काम चलाने पर वैचारिक भूमिका मे परिवर्तन होता या नही, इसमे सन्देह ही था। बापू के सामने जो चीज नहीं हो सकी, वह मेरे जैसा छोटा आदमी करा लेगा, ऐसा सोचना भी कल्पनातीत था। इसलिए काम के स्वरूप मे यदि परिवर्तन नहीं हो सका, तो कम-से-कम इतना तो हुआ कि प्रान्तीय स्तर की प्रेरणा, नेतृत्व तथा व्यवस्था से काम चल गया। इसलिए मैं यह सोचने लगा कि यह भी विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की दिशा मे एक छोटा-सा कदम ही है।

विकेन्द्रीकरण की इस योजना से काम का स्वरूप बदलने की दिशा मे विशेष लाभ न होता देखकर इस काम से मेरा उत्साह हट गया और मानसिक परेशानी बढ गयी। मन मे यह प्रश्न उठने लगा कि चरखा-सघ के नव-सस्करण द्वारा चरखा से स्वराज्य प्राप्त करने का जो स्वप्न बापू देखते थे, वह क्या अव्यावहारिक था ? गहराई से विचार करने पर मुझे ऐसा नहीं लगता था, बल्कि उलटे यह प्रश्न उठता था कि क्या चरखा गरीबो को कुछ काम देने मात्र का साधन है ? अगर ऐसा ही है, तो आर्थिक तथा राजनीतिक केन्द्रवाद के चलते केवल राहत के साधन के रूप मे चरखा टिक सकेगा ? अगर लोग कपडा पहनने के लिए न काते और केवल रोजी कमाने के लिए काते, तो उस कपडे का क्या होगा ?

निरुत्साह और मनोमंथन

क्या केवल भूतदया से प्रेरित होकर करोडो गज कपडे की खरीददारी चलेगी ? बापू ने तीस साल से खादी पहनने के पीछे जो भावना पैदा की थी, वह भावना आर्थिक तथा राजनीतिक आधार के बिना क्या कायम रहेगी ? मुझे तो ऐसा दीखता नही था। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद काग्रेसजनो के दिल मे खादी की भावना घटती नजर आ रही थी। खादी-कार्यकर्ताओ का हाल भी कोई बेहतर नहीं था। वे खुद खादी पहनते थे, लेकिन परिवार के अन्य लोगो और बच्चो को खादी नहीं पहनाते थे। वे शायद खुद भी तभी तक पहनते थे, जब तक खादी-सस्था मे काम करते थे।

ऐसा होना स्वाभाविक था। काग्रेस ने चरखा तथा खादी को उसके मूल-विचार के सन्दर्भ मे नही अपनाया था। उसने तो चरखे को बापू के नेतृत्व की कीमत ही मानी थी। तुम कहोगी कि काग्रेस जैसी बडी सस्था के बारे मे ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है। लेकिन यह मेरा अनुमान-मात्र नही है। इस प्रकार के अनुमान के पीछे आधार भी है।

बापू के नेतृत्व की कीमत

काग्रेस के अनेक बडे-बडे नेताओ के मुँह से असख्य बार इसी भावना को व्यक्त होते मैने सुना है। बापू काग्रेस सदस्यता के लिए सूत कातने की शर्त कभी भी मनवा नही सके थे, यह तो तुम्हे मालूम ही है। वे भी काग्रेसजनो की इस भावना से भलीभॉति परिचित थे। लेकिन एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के नाते वे चरखे को आगे बढाने के प्रयत्न मे लगे थे। काग्रेस की दृष्टि का बोध बापू को भलीभॉति था—वह इस बात से प्रमाणित होता है कि १९४५ मे जब बापू सेवाग्राम मे चरखा सघ तथा दूसरी रचनात्मक सस्थाओ के कार्यकर्ताओ के साथ चर्चा कर रहे थे, तो उन्होने काग्रेसजनो की चरखा-निष्ठा के बारे मे कहा था कि काग्रेस थोडे ही चरखे को मानती है, वह तो उसे मेरे कारण बर्दाश्त करती है।

इस सिलसिले मे देशभरमे एक बहुत बडी गलतफहमी फैली है,

एक गलतफहमी

उसे मै साफ कर देना चाहता हूँ। यह गल्तफहमी सिर्फ आम जनता मे ही नही है, रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे भी काफी मात्रा मे है। मैंने जब देशव्यापी दौरा किया, तो उस समय कार्यकर्ताओ की बैठको मे और आम सभाओ मे अक्सर ही लोग मुझसे प्रश्न करते रहे है कि "आज जो नेता देश की बागडोर सँभाले हुए हैं, वे सब-के-सब गाधीजी के अनुयायी कहलाते हुए भी चरखा आदि बापू के कार्यक्रमो को प्रोत्साहित न करके केन्द्रित उद्योगो का सगठन क्यो कर रहे हैं?" इस प्रश्न के पीछे वस्तुस्थिति का अज्ञान ही एकमात्र कारण है। इस देश मे गाधीजी के सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से पहले ही भारतीय काग्रेस का जन्म हुआ था। यह एक राष्ट्रीय सस्था थी। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता इसका लक्ष्य था। गाधीजी के पहले राष्ट्रीय स्वतत्रता के लिए देश मे अनेक प्रकार के प्रयोग हो चुके थे। माडरेट नेताओ द्वारा वैधानिक आन्दोलन और आतकवादियो द्वारा आतक फैलाने के कार्यक्रम की आजमाइश हो चुकी थी। ये सब प्रयोग विफल रहे। तीसरे कार्यक्रम के अभाव में देश में निराशा फैल रही थी। ऐसी परिस्थिति मे जब गाधीजी असहयोग और सत्याग्रह का कार्यक्रम लेकर देश के सामने उपस्थित हुए, तो उन्हें इस नीति के पीछे आशा की एक किरण दिखाई पडी। सफलता में शका होने पर भी निराशा की स्थिति मे देशवासियो को एक उपयोगी विकल्प मिल गया। वे महसूस करने लगे कि ऐसी असहाय स्थिति मे गाधीजी द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम मे राष्ट्रीय पुरुषार्थ का अवसर है। काग्रेस ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य से बापू के असहयोग-आन्दोलन को अपना लिया। बापू अत्यन्त कुशल सेनापति की भाँति देश को क्रमशः सफलता की ओर बढाते गये। इस सफलता के कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए गाधी-नीति पर काग्रेस की आस्था दृढ होती गयी।

काग्रेस के नेताओ ने विदेशी राज्य से मुक्ति पाने के लिए गाधीजी की नीति को स्वीकार किया था, इसलिए यह नही मान लेना चाहिए कि

उन्होंने गांधीजी की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्ति की मान्यता को भी स्वीकार करलिया था। यों वारीकी से देखा जाय, तो लोगो ने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी की पद्धति को परिस्थिति के कारण ही स्वीकार किया था, सिद्धान्त के कारण नहीं। द्वितीय महायुद्ध के समय श्री स्टेफोर्ड क्रिप्स के नेतृत्व मे ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय नेताओ से समझौता करने के लिए एक मिशन भारत मे आया था। उस समय कांग्रेस कार्यसमिति ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए गांधीजी को नेतृत्व से जो मुक्ति दी थी, वह भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस घटना ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि भारतीय कांग्रेस राजनीतिक आजादी प्राप्त करने के लिए भी किस हद तक गांधीजी की अनुयायिनी थी।

गांधीजी की पद्धति क्यों स्वीकार की?

विश्व मे जार्ज वाशिंगटन, डी० वेलेरा, गैरीबाल्डी आदि अनेक राष्ट्र-नायको ने स्वतन्त्रता सग्राम का सफल नेतृत्व किया है। इन नेताओ ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी हैं। उसी तरह से भारत मे गांधीजी की भी एक विशिष्ट पद्धति रही है।

गांधीजी विदेशी राज्य का हटना अपनी क्रान्ति के लिए यद्यपि पहला अनिवार्य कदम मानते थे, फिर भी उनके लिए स्वतत्रता साध्य नहीं थी, साधन थी। यही कारण था कि गांधीजी ने चरखा, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण, बुनियादी तालीम आदि रचनात्मक कार्यक्रमो को स्वतन्त्रता-सग्राम की बुनियाद माना था। और वे सत्याग्रह की पूर्वतैयारी मे रचनात्मक कार्य को अनिवार्य वताते थे। जहाँ इस प्रकार का काम नहीं होता था, वडे-से-वडे नेताओ के आग्रह के बावजूद वे सत्याग्रह-सग्राम की इजाजत नहीं देते थे। इसलिए नेताओ को मूल सिद्धान्त के न मानने पर भी केवल सत्याग्रह की इजाजत पाने के लिए भी इन कार्यक्रमो का अनु-मोदन करना पडता था। लगातार तीस साल तक इस प्रकार अनुमोदन करते-करते यह बात उनके स्वभाव मे आ गयी थी।

काग्रेस के वे नेता, जो कि वैचारिक भूमिका पर इन कार्यक्रमो के क्रान्तिकारी पहलू को नही भी मानते थे, जब निरन्तर इनका समर्थन करते थे, तो स्वय उन्हे भी ऐसा लगता था कि वे बापू के मूल विचार को मान रहे है। कभी-कभी स्वय बापू को भी ऐसा लगता था कि उन्होने तीस साल मे काग्रेस को अपनी क्रान्ति के विचार में ढाल लिया है। स्वराज्य-प्राप्ति के तुरन्त बाद काग्रेस-सरकार से आग्रहपूर्वक यह कहना कि वह कपडे की नयी मिले न खोले और पुरानी मिलो की मरम्मत न करके उन्हे क्रमशः समाप्त कर दे, उनकी इस धारणा का एक प्रमाण है। कुछ ही दिनो मे बापू ने यह महसूस कर लिया था कि उनके साथी केवल राष्ट्रीय स्वाधीनता पाने तक के ही साथी रहे है, उनके द्वारा परिकल्पित स्वराज्य-स्थापना के साथी नहीं है। उनके बीच बीच के वक्तव्यो से ऐसा जाहिर होता था (जैसे उन्होने काग्रेस की सदस्यता के लिए खादी पहनने की शर्त हटा देने की सलाह दी थी, ताकि लोगो मे ईमानदारी आ जाय)। इतना होने पर भी एक अत्यन्त आशावादी क्रान्तिकारी के नाते वे अन्त-अन्त तक काग्रेस को अपनी क्रान्ति की ओर मोडने की आशा रखते थे। जिस दिन वे गये, उस दिन भी उन्होने सलाह दी कि 'काग्रेस सत्ता मे न जाकर लोक-सेवक-सघ के रूप मे परिणत हो जाय', यह इस आशा का ज्वलन्त परिचय है।

इस गलतफहमी के निराकरण के लिए काग्रेस के असली स्वरूप की स्पष्ट धारणा आवश्यक है। मै बता चुका हूँ कि काग्रेस स्वतन्त्रता प्राप्ति का

संयुक्त कार्यक्रम के बाद

ध्येय रखनेवाली एक राष्ट्रवादी सस्था थी। वह समाज-क्रान्ति के उद्देश्य से परिकल्पित तथा सगठित सस्था नही थी। विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक मान्यताएँ रखनेवाले व्यक्ति राष्ट्रीयता के आधार पर स्वाधीनता का सग्राम कर सकते है। सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से सभी प्रकार के विचारवालो को स्वतन्त्रता प्रिय है। यही कारण था कि राष्ट्रीय काग्रेस मे सामन्तवादी, पूँजीवादी, सम्प्रदायवादी, समाजवादी तथा गाधी-विचारक

आदि सभी शामिल थे। स्वतन्त्रता प्राप्त करना सबके लिए समान ध्येय था। जब तक भारत को आजादी नही मिली थी, तब तक इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विचारवाले लोग काग्रेस के झडे के नीचे इकट्ठे थे। आजादी मिलते ही सबका सयुक्त कार्यक्रम समाप्त हो गया। राष्ट्र-निर्माण के सन्दर्भ मे सब अपने-अपने विचार के अनुसार सोचने लगे। समाजवादियो ने अपना अलग दल बनाया। कम्युनिस्ट सन् '४२ के आन्दोलन के समय से ही अलग हो गये थे। गाधीजी के वे अनुयायी, जो स्वतन्त्र जनशक्ति के आधार पर समाज-निर्माण की बात सोचते थे, जनता के बीच चुपचाप रचनात्मक काम करने लगे। सम्प्रदायवादियो ने भी अलग होकर अपने अपने पक्ष बनाये। काग्रेस मे वे ही लोग रहे, जो राष्ट्रवादी थे। हर देश मे राष्ट्रवादियो का ही बहुमत होता है। विशिष्ट सामाजिक विचारक को सदा अत्यन्त अल्पमत लेकर ही प्रारभ करना पडता है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि काग्रेस के नये स्वरूप मे भी देश का बहुमत ही शामिल रहे। यह सही है कि आज भी काग्रेस मे कुछ ऐसे व्यक्ति है, जो गाधी-विचार अथवा समाजवादी विचार रखते है और जो पिछले तीस वर्षो के पारिवारिक बन्धन के कारण काग्रेस-परिवार मे आज भी शामिल है तथा पूरी काग्रेस को अपने विचार की ओर मोडने की कोशिश भी करते है। किन्तु काग्रेस का मुख्य कलेवर आज शुद्ध राष्ट्रवादी है, जिसका ध्येय राष्ट्रीय कल्याण है। अत. जो लोग काग्रेस की आलोचना करते है, उन्हे काग्रेस के स्वरूप के बारे मे सही स्थिति समझ लेना चाहिए, ताकि गलतफहमी के कारण वे उसके प्रति अन्याय न कर बैठे।

कहना था कुछ, पर बहक गया किधर! अत आज यही तक!

● ● ●

कताई-मण्डल

: ११ :

श्रम विद्यापीठ, सर्वोदयनगर (पसना)
पो० कोरॉव, जि० इलाहाबाद
१६-४-'५८

पीछे मै बता चुका हूँ कि विभिन्न प्रान्तो मे स्वतन्त्र सस्थाएँ बना देने से चरखा के नव-सस्करण की दिशा मे विशेष प्रगति नही हुई। उन केन्द्रो का दौरा करके लौटने के बाद मै कृष्णदास भाई तथा अन्य साथियो के साथ विचार-विमर्श करने लगा कि क्या यह नीति जारी रखनी चाहिए ? मै सोचने लगा कि बजाय इसके कि हम अपने काम को हस्तान्तरित करे, हमे उसके रूपान्तर की ही चेष्टा करनी चाहिए। तदनुसार खादी मे विश्वास रखनेवालो द्वारा छोटी-छोटी समितियो का सगठन आरम्भ हुआ। इन समितियों का नाम कताई-मडल रखा गया।

कल्पना यह थी कि जहाँ कहीं पाँच या उससे अधिक ऐसे व्यक्ति मिल जायँ, जो चरखे के विचार को मानते हो, उनके द्वारा कताई-मडलो का सगठन किया जाय। कताई-मडल के सदस्य अपने इलाके मे चरखे का प्रचार करते थे। सप्ताह मे एक दिन एक जगह एकत्रित होकर सप्ताह-भर के कार्यक्रम का सिहावलोकन करते थे तथा आगे की परिकल्पना बनाते थे। विचार यह था कि कताई-मडल जैसे-जैसे सुचारु रूप से सग-ठित होते जॉय, वैसे-वैसे उन्हे सहायता देकर वस्त्र-स्वावलम्बन के आधार पर समग्र सेवा-केन्द्र का सगठन किया जाय। वस्त्र-स्वावलम्बन की चेष्टा मे जो कुछ अतिरिक्त खादी बन जायगी, उसकी बिक्री चरखा-सघ तथा सम्बद्ध सस्था कर दे। मै स्वय दौरा करके तथा अखबारो के द्वारा इस विचार का प्रचार करता रहा। लेकिन इस प्रचार मे मै करीब-करीब

अकेला था और देश में मेरी कोई स्वतन्त्र हस्ती नही थी। इसलिए यह आन्दोलन बहुत आगे नही बढा। देश मे दो-तीन सौ कताई-मडलो का सगठन हुआ। कार्यकर्ताओ को उससे अच्छी दृष्टि अवश्य मिली, लेकिन यह कार्यक्रम सामाजिक विचार पर कोई असर नही डाल सका। फिर भी मैं विश्वास के साथ अपना काम करता रहा।

जिन दिनो कताई-मडल का विचार चल रहा था, उन्ही दिनो मुझे एक अन्य प्रयोग की बात भी सूझ रही थी। तुम्हे मालूम है कि शुरू से ही मै यह मानता था कि कोई भी क्रान्ति कार्यकर्ता अकेला नहीं कर सकता है। वह क्रान्ति की बात कर सकता है। जीवन को क्रान्ति मे शामिल नही कर सकता है। और अगर वह ऐसा नही कर सकेगा, तो लोग क्रान्ति का विचार जान जरूर जायँगे, लेकिन समाज मे क्रान्ति नही होगी। इसलिए मै यह चाहता था कि चरखा सघ के कार्यकर्ता चरखे के क्रान्तिकारी पहलुओ को खुद तो समझे ही, अपनी पत्नी को भी इस विचार की ओर मोडे। जिस समय सेवाग्राम मे सभी प्रान्तो के मुख्य कार्यकर्ताओ का शिविर चल रहा था, उसी समय यह विचार मैने उनके सामने रखा था। महाकोशल प्रान्त के सात-आठ कार्यकर्ताओ ने मेरे विचार का स्वागत किया। अपने प्रान्त के काम दूसरी सस्थाओ को सौपकर समग्र ग्राम-सेवा की दृष्टि से काम करने के लिए उन्होने नरसिहपुर इलाके मे कुछ केन्द्र रख लिये। उन्होने सपरिवार सेवा मे शामिल होने की इच्छा जाहिर की और यह चाहा कि उनके परिवारो के शिक्षण की व्यवस्था कही पर हो।

कार्यकर्ताओ की पत्नियो का प्रशिक्षण

कार्यकर्ताओ के इच्छानुसार नरसिहपुर मे इस प्रशिक्षण का आयोजन किया गया। दादाभाई नाईक और उनकी पत्नी आनन्दी बहन ने इसकी जिम्मेदारी ले ली। जो कार्यकर्ता अपनी पत्नी को प्रशिक्षण मे भेजने को थे, उन्हे अलग रहने के कारण कुछ आर्थिक सहायता भी दिये जाने का निर्णय किया गया। प्रशिक्षण का यह काम अच्छा चला,

प्रगति भी हुई। लेकिन दो साल के अत्यधिक श्रम के कारण मेरा स्वास्थ्य बिलकुल गिर गया। मित्रों की राय से स्वास्थ्य-लाभ के लिए मै उरुली काचन चला गया। मेरे उरुली काचन चले जाने के बाद बहनो का प्रशिक्षण-केन्द्र तोड दिया गया। मुझे लगा कि मैंने इसे शुरू करके शायद गलती की थी। पर मेरा यह विश्वास अब भी कायम है कि कार्यकर्ताओ को सपरिवार क्रान्ति-कार्य करना चाहिए।

नरसिंहपुर में प्रयोग

आज जब हमारी क्रान्ति ग्रामदान और ग्राम-स्वराज्य के दर्जे तक पहुँच गयी है, तो क्रान्तिकारी की सपरिवार साधना की आवश्यकता पहले से अधिक हो गयी है। आजादी के आन्दोलन मे स्त्रियाँ पुरानी रूढि के अनुसार चलीं और कार्यकर्ता आजादी के आन्दोलन मे शामिल रहे, इसमे कोई परस्पर विरोध नहीं था। कार्यकर्ता खुद रूढिग्रस्त रहते हुए भी स्वतन्त्रता-सग्राम का सैनिक बन सकता था। एक व्यक्ति सामन्तवादी, पूँजीवादी या अत्यन्त सकीर्ण सम्प्रदायवादी होते हुए भी विदेशी गुलामी से मुक्ति का आकाक्षी हो सकता है। लेकिन एक ही व्यक्ति एक ही साथ रूढिग्रस्त तथा क्रान्तिकारी, दोनो नही हो सकता। और जब वह सम्पत्ति-विसर्जन तथा ग्रामदान का विचार लोगो को समझाने जाता है, तो निस्सन्देह जो लोग ग्रामदान करेंगे, वे सब सपरिवार उस विचार मे शामिल होगे। अतः इसके प्रचारक को भी सपरिवार ही शामिल होना चाहिए।

क्रान्ति मे परिवार भी शामिल हो

यह पूछा जा सकता है कि क्या स्त्रियाँ अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकती? रख अवश्य सकती हैं और उन्हे रखना भी चाहिए, लेकिन विचार समझने के लिए उन्हे सयोजित अवसर मिलना चाहिए न! उन्हे अन्धकार मे रखकर हम मान लेते है कि वे क्रान्तिविरोधी ही होती है।

करीब छह महीने उरुली काचन मे रहकर कुछ स्वास्थ्य-लाभ करके फिर मै अखिल भारतीय दौरे मे लग गया।

● ● ●

कोसी-क्षेत्र के अनुभव : १२ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२-५-'५८

उरुली काचन जाने के पहले मैने बिहार का दौरा किया था। उस दौरे मे बिहार खादी-समिति के प्राय सभी प्रमुख केन्द्रो मे भी गया था। उन दिनो मेरे मन मे मिल-बहिष्कार की आवश्यकता का विचार चल रहा था। देश के विभिन्न प्रान्तो मे रचनात्मक सस्थाओ के कार्यकर्ताओ मे मिल की चीजो के इस्तेमाल के बारे मे कोई परहेज नहीं देखा। जिन सस्थाओ मे केवल ग्रामोद्योग का ही काम चलता था, वहाँ भी मिल का ही सामान इस्तेमाल किया जाता था। गाधी आश्रम मे मै बहुत दिन पहले से ग्रामोद्योगी वस्तुओ के व्यवहार पर ही जोर देता रहा था। मेरे अत्यधिक आग्रह के कारण गाधी आश्रम मे चक्की का रिवाज चला था। वह भी विचार निष्ठा के कारण कम, मेरे प्रति साथियो के स्नेह के कारण अधिक था।

सारे भारत की रचनात्मक सस्थाओ की एक ही हालत देखकर मुझे बडी परेशानी हुई। आखिर लोग ग्रामोद्योग का काम क्यो चला रहे है? क्या सिर्फ इसलिए कि बापू ने कहा था या गरीबो को दो-चार पैसे की राहत पहुँचाने के लिए? रचनात्मक कार्यकर्ता अगर यह सब काम गरीबो को सिर्फ थोडी राहत पहुँचाने के लिए करते है, तो वे कहाँ पहुँचेगे? क्या बापू का जन्म केवल यही सन्देश सुनाने के लिए हुआ था? यह भावना तो सनातन काल से चली आ रही है। आज भी धार्मिक लोग एकादशी, पूर्णिमा के दिन गरीबो को राहत पहुँचाने का धर्म निबाहते है। क्या केवल इतने के लिए ही हजारो की तादाद मे

ग्रामोद्योग का काम क्यो?

नौजवान त्याग करके गाधीजी के झण्डे के नीचे इकट्ठे हुए थे ? अगर कहा जाय कि इसलिए नही हुए थे, उन्होने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए त्याग किया था। अगर ऐसी बात है, तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद रचनात्मक काम क्यो किया जा रहा था ? जब मैं कार्यकर्ताओं से इस प्रकार के प्रश्न करता था, तो उनमे से अधिकाश लोगो पर कोई असर नही होता था। कुछ लोग गम्भीरता से विचार करते थे और कुछ लोग मुझे fanatic (पागल) कहते थे।

विहार के दौरे मे इस प्रकार के प्रश्नो से मेरा दिमाग उलझा हुआ था और मै लक्ष्मी वाबू आदि साथियो से इसकी चर्चा करता था। मेरा
निश्चित मत था कि खादी-ग्रामोद्योग या नयी तालीम
विहार में कार्यकर्ता की सस्थाओ को कम-से कम भोजन-वस्त्र की वस्तुओ
शिविर के लिए मिल का बहिष्कार करना चाहिए। लक्ष्मी
वाबू, ध्वजा वाबू, रामदेव वाबू तथा विहार खादी-समिति के दूसरे साथियो पर मेरी इस वात का बहुत असर हुआ। उन दिनो मै मुख्यतः दो ही वाते करता था : एक वर्ग-सघर्ष की असारता और वर्ग-परिवर्तन की आवश्यकता एव दूसरा मिल-वहिष्कार की अनिवार्यता। परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए मै उसका जो गाधीवादी समाधान सुझाता था, उससे विहार खादी-समिति के कार्यकर्ता काफी प्रभावित हुए। वे चाहते थे कि वहाँ के कार्यकर्ताओ से मै और गहराई से चर्चा करूँ। वे यह भी चाहते थे कि मै विहार मे कोई ऐसा केन्द्र खोलूँ, जहाँ वैचारिक सन्दर्भ मे कुछ काम हो सके। इत्तफाक से हमारे एक कार्यकर्ता श्री तरुण भाई उन दिनो बीमार थे और उनके आराम के लिए लक्ष्मी वावू ने तिरील मे इन्तजाम किया था। तरुण भाई ने वही रहते हुए कुछ काम करने की इच्छा प्रकट की। लक्ष्मी वावू ने भी ऐसा चाहा कि कुछ हो। सयोग मिल जाने से तिरील मे ही केन्द्र बनाने का निर्णय मैने किया और वही विहार खादी-समिति के पचास मुख्य कार्यकर्ताओ का शिविर लेने की बात भी तय पायी।

सकल्प

बिहार खादी-समिति के लोग बडी दिलचस्पी से शरीर-श्रम का काम करते हुए दिन-रात चर्चा मे भाग लेते रहे। मैंने उन्हे समझाया कि उन्हे निर्णय करना होगा कि वे खादी और ग्रामोद्योग का मिल-बहिष्कार का काम अर्थनीति के विकेन्द्रीकरण के उद्देश्य से कर रहे है या गरीबो को कुछ राहत पहुँचाने की इच्छा से ? अगर आर्थिक विकेन्द्रीकरण उनका लक्ष्य है, तो केन्द्रित उद्योगो को चलाते हुए क्या वह हो सकेगा ? यदि नही हो सकेगा, तो यह आवश्यक है कि खादी और ग्रामोद्योग के कार्यकर्ता भोजन-वस्त्र की सामग्रियो के लिए केन्द्रित उद्योगो का बहिष्कार करे। यह बात उनकी समझ मे आ गयी और उन्होने अपने यहाँ मिल-बहिष्कार का सकल्प कर लिया। इतना ही नहीं, बल्कि उसी समय से उन्होने प्रान्तभर मे इसका प्रचार भी शुरू कर दिया।

बिहार मे अनुकूल वातावरण

बापू ने जब चरखा-सघ के नव-सस्करण की बात कही, तो सबसे पहले बिहार के भाइयो ने ही उस योजना को अमल मे लाने की बात कही थी। तदनुसार बिहार चरखा-सघ सबसे पहले विकेन्द्रित हुआ था। उसके बाद बिहार खादी-समिति ने विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन की योजना चलाने के लिए अनेक प्रकार से कोशिश की थी। लेकिन उन दिनो देश मे कोई वैचारिक वातावरण न होने के कारण उनकी चेष्टा सफल नही हो रही थी। मैंने देखा कि लक्ष्मी बाबू के मन मे इस बात की बडी ग्लानि है। यही कारण था कि जब मैंने बिहार का दौरा किया और जब उन्होने मेरी विवेचना सुनी, तो वे गहराई से चर्चा करने को प्रेरित हुए थे। बिहार की ऐसी रुचि और मनोभावना देखकर मै काफी उत्साहित हुआ और बिहार को विशेष रूप से समय देने लगा।

१९५१ में हमेशा की भाँति कोसी-क्षेत्र में बाढ आयी और लोगो को बडी तकलीफ हुई। अखबारो मे उस क्षेत्र की देहाती जनता की असहाय अवस्था का वर्णन पढकर मुझे ऐसा लगा कि वहाँ जाकर

अपनी ऑखो से देखना चाहिए। ऐसी निराशाजनक स्थिति में स्वावलम्बन तथा आत्म-निर्भरता की बात सुझायी जाय, तो लोग स्वभावतः उसे अपना लेंगे, ऐसा मै मानता था। इसलिए मैंने उस क्षेत्र की स्थिति का गहराई से अध्ययन करने की बात सोची। अक्तूबर-नवम्बर मे डेढ महीने उस क्षेत्र मे पदयात्रा करने का विचार मैंने बिहार खादी समिति के गोपाल बाबू को लिख भेजा। उन्होने निश्चित कार्यक्रम बनाकर मेरे पास भेज दिया। उन दिनो मेरा नियम यह था कि गॉव मे जाकर किसी हरिजन के घर मे ठहरता था। उस नियम के बारे मे भी मैने उन्हे लिख दिया।

कोसी-क्षेत्र का दौरा

चार-पॉच मील का ही पडाव रखा जाता था। पडाव पर हजारो की सख्या मे लोग भाषण सुनने आते ये और पचासो नौजवान साथ रुककर चर्चा करते थे। एक जिम्मेदार गाधीवादी समाज-क्रान्ति की बात करता है, वर्ग-निराकरण की बात करता है और उसकी प्रक्रिया उपस्थित करता है। वह औद्योगीकरण को मिटाने के लिए सरकारी कानून के अलावा बहिष्कार-आदोलन की बात करता है। लोगो को यह सब अजीब मालूम होता था। लोगो ने मान रखा था, ऐसी बाते करना समाजवादियों का एकाधिकार है। वे मानते थे कि गाधीवाद एक श्रद्धा का विषय है। समाज की मान्यता मे परिवर्तन की कोई आवश्यकता नही है, जैसा चल रहा है वैसा ही चले, सिर्फ समाज मे जो झूठ, भ्रष्टाचार आदि चालू है, वह मिट जाय। लोग ईमानदार रहे और गरीबो के प्रति दया की भावना रहे। इतना हो जाय, तो गाधीजी की कल्पना का समाज बन जायगा। सर्वसाधारण की तो बात ही क्या, बहुत से जिम्मेदार कार्यकर्ता भी मुझसे इसी प्रकार की चर्चा करते थे। खादी के तथा गाधीजी के विचारो मे कुछ नयापन होने के कारण मेरी सभाओ मे काफी तादाद मे लोग इकट्ठे होते थे। खादी-समिति के तत्त्वावधान मे सभाओ का आयोजन होता था, इसलिए महिलाऍ भी पर्याप्त सख्या

जनता की दिलचस्पी

में आती थी। नये प्रकार के समाजवादी विचार के कारण समाजवादी नौजवान तो बडी सख्या मे आते ही थे।

तुम्हे मालूम ही है कि सभाओ तथा गोष्ठियो मे मै श्रोताओ से प्रश्न करने के लिए कहता हूँ। अत नाना प्रकार के प्रश्न मुझसे किये जाते थे, जिनमे चुनाव सम्बन्धी प्रश्न अधिक होते थे। समाजवादी नौजवान ऐसे प्रश्न अधिक करते थे।

चुनाव सम्बन्धी प्रश्न

चुनाव के बारे मे स्वभाव से मै उदासीन रहता था। स्वतन्त्रता-सग्राम के दिनो मे काग्रेस का सदस्य तो था ही, फिर भी काग्रेस के आतरिक चुनावो मे अधिक रस नही लेता था। अब तो मै काग्रेस भी छोड चुका था। पक्षगत राजनीति के बारे मे मेरा मत निश्चित हो चुका था। सर्व-सेवा-सघ के सदस्य चुनाव मे भाग न ले, यह प्रश्न सघ के सामने मै पहले ही रख चुका था। इसलिए चुनाव के सम्बन्ध मे निरपेक्ष विचार प्रकट करता था। उस समय बिहार मे समाजवादी दल का जोर था। वे लोग समझते थे कि बिहार मे उनकी ही सरकार बनेगी। मै जहाँ कहीं भी जाता था, तो उस दल के नौजवान बडे विश्वास के साथ कहते थे कि कम-से-कम बिहार मे तो समाजवादी दल की सरकार बनेगी ही। वे मुझसे तरह-तरह के सवाल करके अपने पक्ष मे कुछ राय निकाल लेना चाहते थे। मैने चुनाव सम्बन्धी प्रश्नो को टालने की ही नीति रखी थी। एक जगह बडा दिलचस्प प्रश्नोत्तर हुआ।

एक मनोरजक प्रश्नोत्तर

शायद नवम्बर का महीना था। चार महीने मे भारतीय सविधान के अनुसार पहला आम चुनाव होनेवाला था। अत' चुनाव की चर्चा जोरो पर थी। समाजवादी दल के युवको ने एक सभा के बाद प्रश्न करना शुरू किया :

प्रश्न अगले चुनाव मे आपकी राय मे किसे वोट देना चाहिए?

मै वोटर की राय मे जो ठीक हो, उसीको वोट देना चाहिए।

प्रश्न : लेकिन नेता लोगो को तो बताना चाहिए ?

उत्तर · नेता का स्थान वही है, जो स्कूल के अध्यापक का है। वह सालभर पढाता है, लेकिन परीक्षा के समय यह नही बता देता कि क्या लिखना है ? देश की भलाई-बुराई, समाज-व्यवस्था की रूपरेखा, आर्थिक परिकल्पना आदि के बारे मे नेता भी जनता के शिक्षण मे लगा रहेगा। वोट तो परीक्षा का भवन है। अमुक व्यक्ति को वोट देना चाहिए, ऐसा कहना तो परीक्षा मे रटा देने जैसा है।

प्रश्न . लेकिन आपकी अपनी राय क्या है ?

उत्तर . मेरी राय यह है कि पक्षगत राजनीति ही देश के लिए हानिकारक है। अतएव पक्ष के आधार पर वोट न देकर व्यक्ति के आधार पर देना चाहिए और जिस चुनाव-क्षेत्र मे जिस पक्ष का व्यक्ति अच्छा और सज्जन हो, उसीको वोट देना चाहिए।

प्रश्न · अच्छा, यह बताइये कि आपने पदयात्रा के बीच जो इतने लोगो से सम्पर्क किया, उससे क्या अध्ययन किया ? काग्रेस के प्रति जनता की राय कैसी है ?

उत्तर : जनता की राय इतनी जल्दी नहीं समझी जा सकती है। उसके पेट मे एक बात होती है, मुँह मे दूसरी। इसलिए निश्चित रूप से राय नही दी जा सकती।

इतने मे प्रश्नकर्ता कहने लगा कि "आप कहना नहीं चाहते।" उसके बाद सभा विसर्जित हो गयी।

जनता किसे वोट देगी ?

खाना खाने के बाद रात के समय एक स्कूल मे ठहरा था। वहाँ तीस-चालीस युवक मिलने आये। वे सब समाजवादी दल के थे। मेरे भाषण से वे काफी प्रभावित थे। वे अनेक विषयो पर चर्चा करने लगे। मैंने उन्हे समझाया कि पाश्चात्य समाजवाद कितना अधूरा है और उसमे कहाँ-कहाँ तानाशाही की गुजाइश हैं। अन्त मे उन्होने कहा : "अब तो आम सभा नहीं है। अब बताइये कि आपने परिस्थिति के

अध्ययन से क्या समझा ? क्या जनता काग्रेस के अत्यन्त विरुद्ध नहीं है ? क्या बिहार मे समाजवादी सरकार बनने की सम्भावना नहीं दीखती ?" मैने उनसे कहा कि "मुझे इसकी सम्भावना नही दीखती। मै आपसे कहना चाहता हूँ कि मतदाता अपने घर से काग्रेस को गाली देते हुए निकलेगे, रास्तेभर उसे कोसते चलेगे। बैलट बक्स के सामने खडे होकर भी दस बार गाली देगे, लेकिन पर्चा काग्रेस के ही बक्से मे डालेगे।"

युवको को मेरी बातो से आश्चर्य हुआ। वे कहने लगे कि इतनी गाली देने का स्वाभाविक नतीजा तो यह होना चाहिए कि दूसरी पार्टी को वोट देना चाहिए। मैने उनसे कहा कि "आप जनता की कसौटी जैसे वस्तुस्थिति से अलग रहनेवाले पढे-लिखे लोगो का तर्क और होता है और जीवन-सग्राम मे फॅसी जनता का तर्क कुछ और ही। दोनो मे फर्क है। जनता का तर्क अपने ढग का होता है और उसके अनुसार वह हिसाब भी लगा लेती है। वह आज के सत्तारूढ काग्रेस जन को देखती है और सत्ता-प्राप्ति की कोशिश करनेवाले आप लोगो को भी देखती है। फिर आपके आज के चरित्र और रवैया के साथ काग्रेस-जन जब सत्तारूढ नही थे और उसकी प्राप्ति मे लगे हुए थे, उस समय के उनके चरित्र और रवैया का मुकाबला करती है। इस मुकाबले मे आप हलके पडते है। जनता का गणित इस प्रकार का होता है—

काग्रेस-जन सत्ता-प्राप्ति की चेष्टा मे = १००% चरित्र।

सत्ता में पहुँचने पर चरित्र मे ४०% की हानि।

अर्थात् सत्तारूढ काग्रेस-जन का चरित्र = १००°—४०° चरित्र = ६०° चरित्र।

दूसरी तरफ सत्ता-प्राप्ति की चेष्टा मे आप लोग है। मान लीजिये कि आपका मूल्याकन वह ८०% करती है। तो यदि आप लोग सत्ता मे जायेगे, तो आपका चरित्र ८०°—४०° = ४०° होगा। ऐसी उसकी

मान्यता है। इसलिए कांग्रेस से असन्तुष्ट रहने पर भी जनता कांग्रेस को ही वोट देगी, ऐसा निश्चय मानिये।"

वे नौजवान अकबकाये तो जरूर, फिर भी बडी देर तक बहस करते रहे। मैंने उन्हे इन्द्र के उदाहरण से समझाया कि इन्द्र किसी व्यक्ति का नाम नही, पद का नाम है। जो कोई सबसे कठोर तपस्या करेगा, उसे इन्द्र का पद मिलेगा। आप लोग इतनी जल्दी इन्द्रपद पाने के चक्कर मे न पडकर कांग्रेसवालो से अधिक तपस्या कैसे हो, उसकी चिन्ता करिये। उनसे अधिक जन-सेवा करिये।

कठोर तपस्या करिये

दरभंगा जिले के मधुबनी सबडिवीजन मे मेरी यह पदयात्रा एक नया अनुभव थी। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद गॉव-गॉव मे इस प्रकार घूमने का यह पहला अवसर था। '४७-'४८ के बीच एक साल रणीवॉ अवश्य रहा, लेकिन वहॉ के देहातो को हम लोगो ने अपने ढंग से बना लिया था। इसलिए उन दिनो की भारतीय ग्रामीण परिस्थिति का पूर्ण अनुभव रणीवॉ के आसपास के गॉवो से नही मिल सकता था। फिर बाढ-क्षेत्र होने के कारण यहॉ की परिस्थिति विशेष प्रकार की थी। लोगो मे निराशा थी। स्वराज्य-प्राप्ति से जो आशा बॅधी थी, वह भी कुछ दिखाई नही देती थी। पहले जिन लोगो का सहारा था, वे ही आज अधिकार मे चले गये। अधिकारियो के रवैये मे कुछ परिवर्तन नही हुआ था। लोग इन तमाम बातो को बयान करते थे। अगर उस इलाके मे खादी-समिति के केन्द्रो का जाल बिछा हुआ नही रहता, तो लोगो की जैसी मनोवृत्ति थी, उसे देखते हुए मुझे ऐसा लगा कि मेरी दुर्दशा ही हो जाती। अत्यन्त निराशा के वातावरण मे चरखा ही एकमात्र उनके लिए प्रकाशस्तम्भ था। चरखा-सघ के अध्यक्ष के नाते लोग मेरा आदर करते थे, क्योकि चरखे के लिए उनके मन मे बडा आदर था।

रणीवॉं की स्थिति से अन्तर

जनता केन्द्रीय शासन-प्रणाली से इतनी ऊबी हुई थी कि वह मेरे

ग्रामराज्य के विचार को अच्छी तरह समझने लगी। मैं उसे समझाता था
कि अगर वे गॉव-गॉव मे ग्रामराज्य स्थापित नही करेंगे
ग्रामराज्य पर जोर और नौकरशाही के भरोसे रहेगे, तो जनता के पास जो
कुछ बचा-खुचा है, वह भी समाप्त हो जायगा। जनता
के सामने मैं नौकरशाही का चित्र खीचता था। मै बताता था कि किस
तरह एक-एक प्रकार की सेवा के बहाने एक-एक विभाग खुला हुआ है
और हर विभाग मे सैकडो लोग पतलून पहनकर घूमते रहते है। मै
जनता को समझाता था कि जब तक वह इन पतलूनधारियो को बिदा
नही करेगी, तब तक उसकी सारी सम्पत्ति का शोषण समाप्त नहीं होगा।
मै यह भी बताता था कि नौकरशाही रूपी विराट् फौज को पालने मे,
जनता का कितना आर्थिक शोषण होता है। मै कहता था कि इसके
निराकरण का उपाय कताई-मडल ही है। कताई-मडल आत्म-सगठन की
शुरुआत मात्र है, लेकिन धीरे-धीरे गॉव की सारी समस्याओ का समाधान
तथा व्यवस्था की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए अन्ततोगत्वा राज-
कीय विभागो को समाप्त करना होगा।

एक बाढ-पीडित गॉव मे एक सरकारी दवाखाना खुला था। मालूम
हुआ कि उस दवाखाने पर २४००० रु० सालाना खर्च होता था,
जिसमें दवा की मद मे ३०००), ४०००) लगता था। इसका उदाहरण
मै जगह-जगह दिया करता था।

इस पदयात्रा से जनता को कितनी प्रेरणा मिली, यह तो मुझे
मालूम नहीं, लेकिन खादी समिति के कार्यकर्ताओ मे नयी जाग्रति
अवश्य हुई। वे समझने लगे कि वे क्रान्ति का काम
खादी-कार्यकर्ताओ कर रहे है। खादी के कार्यकर्ता अपने को हारा हुआ
मे उत्साह मानते थे। वे समाजवादी लोगो को ही क्रान्तिकारी
मानते थे। अब उन्हे महसूस होने लगा कि उनसे वे
सौ साल आगे है।

दूसरी ओर काग्रेस-जनो पर उलटा असर पडा। मै जो केन्द्रवादी

राजनीति का विवेचन करता था, उसे वे अपने खिलाफ कटु आलोचना मानते थे। राजनीति-शास्त्र का वह एक मूल विचार है, ऐसा वे समझ नहीं पाते थे। पहले भी जब मैंने बिहार का दौरा किया था, तो बिहार के कांग्रेस-जन मुझसे नाराज थे, अब तो वे और ज्यादा नाराज हो गये। इससे मुझे बडा आश्चर्य तो होता ही था, दुःख भी होता था।

कांग्रेस-जनों पर उलटा असर

उत्तर प्रदेश मे जब मै ग्रामो मे अपने विचारो का प्रचार करता था, तब ऐसा अनुभव नहीं आया था। लेकिन बिहार मे ऐसा नही हुआ। वे मेरी बातो को अपने खिलाफ प्रचार मान बैठे। यह बडे दु:ख की बात है कि सत्ताधारी दल के सामान्य कार्यकर्ताओ का ही नही, बडे नेताओं का भी बौद्धिक स्तर इस प्रकार हो! मुझे इसलिए और ज्यादा दुःख होता था कि मुझे कांग्रेस-दल का कोई विकल्प नही दिखलाई देता था। ऐसी परिस्थिति तानाशाही की जननी होती है। लेकिन दु:ख मानने से समाधान तो होता नही, इसलिए मैं निश्चिन्त था।

● ● ●

समग्र विद्यालय का जन्म

: १३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२५-६-'५८

१९४८ के रचनात्मक सम्मेलन मे विनोबाजी ने सर्वोदय-समाज की कल्पना देकर रचनात्मक कार्यकर्ताओ को काफी प्रोत्साहित किया, यह मै पहले ही लिख चुका हूँ। उसीके साथ-साथ सर्व-सेवा-सघ का जन्म हुआ, यह तो मालूम ही है। उसके बाद विनोबाजी देश के विभिन्न स्थानो मे यात्रा कर सर्वोदय-दर्शन पर प्रकाश डालते रहे। लेकिन रचनात्मक कार्यकर्ताओ के लिए कोई निश्चित नेतृत्व उपस्थित नही हो सका। उनमे पूर्ववत् निराशा तथा निष्क्रियता बनी रही। सर्व-सेवा-सघ बना तो जरूर, पर विभिन्न सस्थाएँ अपने ढग पर ही अपना कार्यक्रम चलाती रहीं। उनके कामो मे एकरसता नही हो पायी। इन तमाम कारणो से सेवाग्राम के सम्मेलन मे से विशेष निष्कर्ष नही निकला। रचनात्मक कार्यकर्ताओ के मन मे व्याकुलता तथा उथल पुथल बनी रही।

१९५० मे उडीसा के अगुल मे द्वितीय सर्वोदय-सम्मेलन हुआ। वहाँ भी उचित नेतृत्व न मिलने के कारण कार्यकर्ता निराश ही लौटे।

कार्यकर्ताओ मे निराशा

वर्धा मे सर्व-सेवा-सघ की बैठक थी। शिवरामपल्ली मे सम्मेलन होना तय हुआ। शकररावजी देव ने प्रश्न उठाया कि विनोबाजी सम्मेलन मे हाजिर रहेगे या नही? विनोबाजी ने वहाँ जाने की अनिच्छा प्रकट की। तब शकररावजी देव ने यह प्रस्ताव रखा कि सम्मेलन न किया जाय। पिछले साल विनोबाजी की अनुपस्थिति से कार्यकर्ताओ को बडी निराशा हुई थी। इसलिए सबने इस बात पर जोर दिया कि विनोबाजी सम्मेलन में अवश्य हाजिर रहे। अन्ततः विनोबाजी मान गये और सम्मेलन की

तारीखें निश्चित कर दी गयी। दूसरे दिन विनोबाजी ने अपना यह निर्णय सुनाया कि वे सम्मेलन मे पैदल जायेंगे। यात्रा की इस नवीन प्रणाली ने रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे नयी दिलचस्पी पैदा कर दी। लोग बडे उत्साह से शिवरामपल्ली पहुँचे और वहाँ पर विनोबाजी से प्रेरणा लेकर वापस गये।

उन दिनो हैदराबाद के तेलगाना जिले मे अशान्ति की आग धधक रही थी। एक तरफ से कम्युनिस्ट पार्टी के हिंसात्मक सगठन ने और दूसरी तरफ से सरकारी दमन-चक्र ने वहाँ की जनता को त्रस्त कर रखा था। शिवरामपल्ली तक पहुँचकर विनोबाजी ने आग्रह किया कि वे तेलगाना जाकर शांति का प्रयास करेंगे। वहाँ की भयावह परिस्थिति के कारण कुछ लोगो ने उन्हे वहाँ जाने से रोका, लेकिन वे नहीं माने और पैदल चल पडे। यह यात्रा वैसी ही थी, जैसी बापू की नोआ-खाली-यात्रा।

विनोबा की तेलंगाना-यात्रा

विनोबाजी की तेलगाना यात्रा और उसके फलस्वरूप भूदान की गगोत्री की कहानी आज देश का बच्चा-बच्चा जानता ही है। शान्ति का मार्ग खोजकर विनोबाजी सेवाग्राम लौटे।

सेवाग्राम आते ही उन्होने वहाँ की सस्थाओ का आह्वान किया और उनसे कहा कि जहाँ बापू थे, जहाँ बापू द्वारा प्रतिष्ठित सारी सस्थाओ का केन्द्र है, जहाँ सैकडो कार्यकर्ता और अनेक नेता है, उस जिले से दुनिया को सर्वोदय का दर्शन मिलना चाहिए। वर्धा तहसील मे सघन कार्य होना चाहिए और यह काम सभी सस्थाएँ मिलकर करे। विनोबाजी के आह्वान पर तमाम सस्थाओं की सम्मिलित समिति बनी और विनोबाजी के मार्गदर्शन मे काम करने के लिए योजना भी बनी। वह सितम्बर का महीना था। उस समय हमारे अधिकाश कार्यकर्ता सेवाग्राम मे मौजूद थे।

विनोबा का आह्वान

यह तो हुआ, लेकिन दूसरे ही दिन एकाएक मालूम हुआ कि विनोबाजी पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलने के लिए दिल्ली की ओर पदयात्रा करनेवाले है। यह सुनकर हमे बडा अजीब-सा लगा।

सेवाग्राम से प्रस्थान

दूसरे दिन विनोबाजी को बिदाई देने के लिए हम सेवाग्राम-आश्रम गये। प्रार्थना आदि के बाद विनोबाजी ने यात्रा प्रारम्भ कर दी। उनके साथ तालीमी सघ के बच्चे कीर्तन करते हुए चल रहे थे, हम भी उनके साथ हो लिये। चरखा-सघ के सामने से सडक जहॉ स्टेशन की ओर मुडती है, वहीं से विनोबाजी ने सडक छोड दी और पवनार की ओर मुड गये। वही तक सबके साथ चलकर मैं रुक गया और सडक पर बने हुए पुल पर बैठकर मै देखता रहा कि यात्रा-दल किस तरह आगे बढ रहा है।

क्रान्ति-यात्रा का श्रीगणेश

पहाडी रास्ता थोडी दूर चलकर नीचे की ओर चला गया है। अतएव यात्रा-टोली भी थोडी देर मे अदृश्य हो गयी। लेकिन मै बैठा-बैठा एकाग्रता से उस ओर देखता रहा। उस समय मैं क्या सोच रहा था, आज याद नहीं है, लेकिन एकाएक मेरे मन मे विचार आया कि यह यात्रा साधारण नही है। इसका अन्त पण्डितजी से मिलने से ही नहीं होगा। गाधीजी द्वारा परिकल्पित क्रान्ति का यह पूर्वाभास है। इस यात्रा से देश में बापू की क्रान्ति निखरेगी, अर्थात् यह शुद्ध क्रान्ति-यात्रा है। क्रान्ति यात्रा का आरम्भ हो रहा है, इस बात की कल्पना से ही मेरा सारा अस्तित्व नाच उठा। मैं विह्वल-सा हो उठा। मेरी समझ मे ही नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। कुछ देर बाद मैं चरखा सघ मे अपने कमरे पर लौटा और लेट गया। मैं सोचने लगा कि यह क्रान्ति जब निखरेगी, तब हम लोग कहॉ रहेंगे। मैने इतिहास तो पढा नहीं, प्रसगवश तुम लोगो से सुना जरूर है, लेकिन ऐसा लगता था कि आजादी के आन्दोलन का इतिहास आँखों के सामने मानो चलचित्र जैसा गुजर रहा था। दादाभाई नौरोजी

ने स्वराज्य का मत्र दिया, गोखले आदि वडे-वडे नेताओ ने उसे सींचा, यों आजादी का आन्दोलन चला। फिर १९०५ मे लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में एक नयी लहर आयी। इस लहर मे वे नेता और कार्यकर्ता नहीं थे, जो गोखले के साथ थे। उन्हे 'माडरेट' कहा गया। तिलक के साथ नया नेतृत्व निर्माण हुआ। फिर आन्दोलन आगे चला। १९२१ में गाधीजी के कारण उसमें एक नयी लहर आयी। मैंने देखा कि १९०५ से १९०७ के आन्दोलन में जो वडे त्यागी तथा महान् कष्ट उठानेवाले नेता और कार्यकर्ता थे, वे उसमें शामिल नहीं हुए। १९०५ में खुली सस्थाएँ भी साथ नहीं हुई। उनके वदले नये नेता आये, नये कार्यकर्ता निकले और नयी सस्थाएँ खडी हुई। मै सोचने लगा कि गाधीजी का मत्र पाकर आगे वढनेवाले हम रचनात्मक कार्यकर्ता और हमारी ऐसी सस्थाएँ क्या विनोवाजी की क्रान्ति के वाहक वन सकेगे? पिछले इतिहास के सदर्भ में मुझे ऐसा भरोसा नहीं हो रहा था। लेकिन चारा भी क्या था? विनोवा के साथ है कौन? वापू के क्रान्ति-वीज को सँभालनेवाले हमी लोग ही न? हम अगर इसके वाहन वनने मे असमर्थ रहें, तो क्या निकलेगा?

ऐसे अनेक विचार मेरे मन मे आते रहे। कुछ समझ मे नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय? फिर भी यह वेचैनी तो थी ही कि मौका आया है, तो कुछ करना ही चाहिए।

सोचते-सोचते १९२१ का चित्र सामने आया। मैं उन दिनों हिन्दू विश्वविद्यालय मे पढता था। देश मे आजादी के आन्दोलन की लहर उठी।

मेरा विचार-मन्थथ

हमारे जैसे सैकडो नौजवान उस लहर की लपेट में आ गये। कौलेज से निकल पडा। किधर जाऊँगा, इसका कोई पता नहीं था। गाधी आश्रम तथा काशी विद्यापीठ नया खुला था। वहाँ दादा से मुलाकात हुई। हम तीन-चार लडके उनके साथ गाधी आश्रम मे टिक गये। वाकी अधिकाश भटक गये और अन्त में घूम-फिरकर फिर कॉलेज मे पहुँच गये। गाधी

आश्रम नया था और स्वभावतः उसमे नया विचार और नया जोश था। दादा जैसा तपस्वी गुरु उपलब्ध था। इसलिए आज भी क्राति के सदर्भ मे सोचने की वृत्ति रह गयी है। सोचा कि इस आन्दोलन मे भी तो नये नोजवान आयेगे, भले ही उनकी सख्या थोडी ही हो। मै सोचने लगा कि यह एक सृजनात्मक क्राति होगी, तो ऐसा कौन-सा स्थान हमारे पास है, जहॉ तपे हुए नौजवानो के लिए नया विचार और नये जोश की खुराक ही उपलब्ध हो सके। अपने पास सेवाग्राम और सेवापुरी के केन्द्र थे। उस समय तक मैं देश की सभी सस्थाओ को देख चुका था। पर कोई भी स्थान मुझे जॅच नहीं रहा था। फिर मैंने सोचा कि सम्भव है कि अब तक की निराशाजनित परिस्थिति के कारण इन सस्थाओ मे जान न हो। विनोबा क्रान्ति मे परिस्थिति का निर्माण कर दे, तो सम्भव है कि इनमे प्राण आ जाय। इस सम्भावना को सोचकर मुझे थोडी सी तसल्ली हुई। लेकिन भीतर से कुछ समाधान नहीं हुआ और मेरा विचार मन्थन जारी रहा।

मेरे मन मे यह प्रश्न उठा कि क्या ये सस्थाएँ आज की क्राति की वाहक हो सकती हैं? सदेह तो था ही, वह बढता ही गया। सोचा कि इनका जन्म जिस नक्षत्र मे हुआ, उस नक्षत्र का भी तो असर होगा। इनकी वैचारिक भूमिका तथा कार्यक्रम की दृष्टि राष्ट्रीय ही होगी। ऐसी हालत मे ये समाज क्राति का वाहन नहीं बन सकेगी, यह धारणा दृढ होती गयी।

फिर यह भी खयाल आया कि जिस तरह दादा जैसे लोगो ने १९२१ में जहॉ तहॉ बैठकर नयी-नयी सस्थाएँ बनायीं, उसी तरह हममे से भी कुछ लोगो को आगे आकर नये केन्द्र बनाने होंगे। इसी तरह की चिन्ता मे कुछ समय बीत गया। एक दिन कृष्णदास भाई के साथ मैंने चर्चा की कि मुझे लगता है कि जिस क्राति की बात मैं करता हूँ, उसके लिए हवा बन रही है। इसलिए यह जरूरी है कि चरखा-सघ के पास ऐसा शिक्षण-केन्द्र हो, जहॉ क्रान्ति के सदर्भ में आये हुए नौजवानो

को तालीम मिल सके। पिछले दो ढाई साल से मेरी प्रेरणा से कभी-कभी एक दो नौजवान विश्वविद्यालय की पढाई छोडकर या नौकरी छोडकर हमारे पास आने लगे थे। सबको तो मैं साथ नहीं रख सकता था, इसलिए मैं उन्हे खादी विद्यालय मे भेज देता था; लेकिन वहाँ उन्हे भरपूर मानसिक खुराक नहीं मिलती थी और वे चले जाते थे। इस सम्बन्ध मे चरखा सघ के मित्र कई बार चर्चा कर चुके थे। इसलिए कृष्णदास भाई को भी इसमे दिलचस्पी थी।

इसी साल कृष्णदास भाई के मत्री पद की अवधि समाप्त हो चुकी थी। वे उससे मुक्त हो चुके थे और भाई अण्णासाहब सहस्रबुद्धे ने उनका

समग्र विद्यालय की कल्पना

पद सभाल लिया था। मैंने उनसे कहा कि "अब तो तुम दफ्तर की जिम्मेदारी से मुक्त हो। हम दोनो मिलकर इस विद्यालय का सगठन करे। मै गप चलाऊँगा और तुम उद्योग चलाना। इस तरह से हम दोनों एक-दूसरे के पूरक बनेगे।" १९४५ मे बापू ने भी चरखा-सघ के नव सस्करण के साथ-साथ श्रद्धेय नरहरि पारीख को आचार्य बनाकर खादी विद्यालय को बदलकर समग्र ग्राम सेवा विद्यालय की स्थापना की थी। चरखा-सघ मे नव-सस्करण का कार्यक्रम न चलने से स्वभावतः वह विद्यालय भी टूट गया था। हम दोनो ने उसके बारे मे भी चर्चा की और यही तय रहा कि हम लोग उसी चीज को फिर से पनपाये और खादी विद्यालय के स्थान पर समग्र विद्यालय खोले।

कृष्णदास भाई से मैंने कहा कि वे तुरन्त चरखा-सघ की शिक्षा-समिति की बैठक बुलाये। शिक्षा समिति की बैठक बुलायी गयी। मैंने

शिक्षा-समिति का निर्णय

उसके सामने अपनी कल्पना रखी। विद्यालय का स्वरूप क्या होगा, उसका अभ्यास क्रम क्या रखा जाय, विद्यार्थियो की योग्यता क्या हो, शिक्षण की अवधि क्या हो, ऐसे अनेक प्रश्न उठे। अन्त मे मैंने बताया कि आज देश मे क्रान्ति की आवश्यकता है। जमाना क्रान्ति

का आह्वान करता है। इस आह्वान पर सहज रूप से जो लोग आयेंगे, उन्हें ट्रेनिंग दी जायगी और परिस्थिति के अनुकूल अभ्यास बनाया जायगा।

धोत्रेजी ने प्रश्न किया कि जो लोग ट्रेनिंग पूरी करेंगे, क्या उन्हें चरखा-संघ के कार्यकर्ता के रूप में वेतन देकर देहात में भेजा जायगा ? इसका भी निश्चित उत्तर देना कठिन था। अन्त मे सदस्यों ने कहा कि "इतने ब्योरे से क्या मतलब है ? आप और कृष्णदास भाई मिलकर जो कुछ करेंगे, वह ठीक होगा, ऐसा हम लोगों का विश्वास है।" यह कहकर समिति ने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

बैठक बुलाने मे कुछ समय निकल गया था। इस बीच मैंने कृष्णदास भाई तथा नन्दलाल भाई से चर्चा करके यह तय किया था कि सेवाग्राम का खादी विद्यालय मूल (चॉदा जिला का केन्द्र, जहॉ शुरू में चरखा-संघ का विद्यालय था) या बारडोली स्थानान्तरित करके सेवाग्राम का स्थान खाली किया जाय और उसीमे समग्र विद्यालय खोला जाय।

पहले ऐसा तय हुआ था कि अक्तूबर-नवम्बर मे दक्षिण भारत का दौरा करूँगा, परन्तु अब समग्र विद्यालय शुरू करने के लिए मैंने दक्षिण भारत का कार्यक्रम रद कर दिया और मैं विद्यालय की चिन्ता में लग गया।

शिक्षा-समिति की बैठक समाप्त होने के बाद भी धोत्रेजी दो चार दिन के लिए रुके रहे। शायद अण्णासाहब भी थे। हम लोग अक्सर नये

साथियों से विचार-विनिमय

विद्यालय की चर्चा करते रहते थे। चरखा-संघ के नव-संस्करण के विचार को अमल देने मे हम क्यों असफल रहे, समग्र विद्यालय क्यों बन्द करना पड़ा, कहीं ऐसा न हो कि इसका भी यही हाल हो ? ऐसी बातों की चर्चा होती थी। एक दिन धोत्रेजी ने कहा : "धीरेन्द्र भाई, जिस विचार और दृष्टि से आप खुद बैठकर विद्यालय को चलाना चाहते हैं, उसके लिए सेवाग्राम और वर्धा का वातावरण अनुकूल नहीं है। अगर आप कुछ करना चाहते हैं, तो कहीं दूसरी जगह नये सिरे से काम शुरू कीजिये।"

मैंने कहा कि "यहाँ कुछ सुविधाएँ हैं। यहाँ नयी तालीम, ग्रामोद्योग, खादी, कृषि, गो-पालन आदि हरएक विषयों के विशेषज्ञ मौजूद हैं। उनका लाभ मुझे हमेशा मिलता रहेगा।"

धोत्रेजी इससे सहमत नही हुए। उन्होने कहा कि "जिसे आप सुविधा मानते है, वही असुविधा का कारण होनेवाला है।"

मैंने कहा कि "अगर हमे क्रान्ति की दृष्टि से अपना सारा काम मोड़ना है, तो यहाँ के वातावरण को भी तो अनुकूल बनाना चाहिए।"

धोत्रेजी ने कहा : "आप इसमे क्या सुधार करेगे ? जहाँ विनोबा असफल होते हैं, वहाँ पर आप सफल होगे क्या ? बल्कि इस चेष्टा मे आप ही टूट जायेगे। अच्छा यही होगा कि आप कही पर नये सिरे से नया निर्माण कीजिये।"

ये सब बाते होती रहीं और मै सोचता रहा। धीरे-धीरे मेरे मन पर इन मित्रों की सलाह का असर होता रहा और मैं भी सोचने लगा कि कही दूसरी जगह जाकर काम करना चाहिए।

फिर भी मेरे मन मे परिस्थिति की तीक्ष्णता की बात रह-रहकर घूम रही थी। विनोबाजी की यात्रा के दिन ही मैंने करण भाई को एक पत्र लिख दिया था कि विनोबा की यह यात्रा सामान्य घटना नही है। इससे देश मे एक नयी क्राति होनेवाली है। उस पत्र मे मैंने उन्हे यह भी लिखा था कि इस क्रान्ति-काल मे बहुत से नौजवान इस ओर आकर्षित होगे, उनके शिक्षण के लिए मैं किसी स्थान पर बैठने की बात सोच रहा हूँ। मेरी कल्पना थी कि दिल्ली के बाद विनोबा आगे बढनेवाले है। इसलिए करण भाई को लिखा कि तुम कोशिश करो कि विनोबा उत्तर प्रदेश की ओर मुड जायँ और तुम सब काम छोडकर उनके साथ हो जाओ। करण भाई उस समय असेम्बली के चुनाव मे खडे होनेवाले थे। वे उसमें न खडे हो, ऐसी इच्छा भी मैंने जाहिर की थी। मैंने इस बात पर जोर दिया था कि वे सब काम छोड़कर विनोबाजी के साथ चले,

करण भाई को पत्र

ताकि विनोबाजी की प्रेरणा से जो नौजवान इस ओर झुकें, उन्हे वे पहचान सके और आवश्यकता जान पड़े, तो उन्हें मेरे पास भेज सकें।

अतः बाहर किसी उपयुक्त स्थान का इन्तजार किये विना खादी विद्यालय मे ही समग्र विद्यालय खोलने का मैंने निश्चय किया और २५ दिसम्बर को श्रद्धेय जाजूजी का आशीर्वाद लेकर समग्र विद्यालय का उद्घाटन कर दिया। उस समय मेरे पास केवल ५-६ विद्यार्थी थे, जिनमें से तीन—रुद्रभान भाई, पारस भाई तथा सरस्वती बहन मेरे साथ खादीग्राम आये।

समग्र विद्यालय का उद्घाटन

०००

खादीग्राम में बैठने का निश्चय : १४ :

श्रमभारती, खादीग्राम
६-७-'५८

मै बता चुका हूँ कि जिन दिनो अपने साथियो से मै विद्यालय के सम्बन्ध मे चर्चा कर रहा था और सोच रहा था कि विद्यालय का नये सिरे से नव-निर्माण करना ही ठीक होगा, उसी समय एक दूसरा विचार भी मेरे मन में चल रहा था। और वह यह कि अगर सेवाग्राम की सारी सुविधाएँ छोडनी है, तो विद्यालय चलाने के लिए पुराने कार्यकर्ता भी साथ नही लेने चाहिए। अगर सस्थाओ की पूर्वपरम्परा आगे जाने मे बाधक है, तो पुराने कार्यकर्ताओ मे भी तो पूर्व सस्कार है। तो क्या वे आगे बढने के लिए अनुकूल हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगा, तो विचार आया कि सस्था और व्यक्ति एक नही। सस्था जड़ होती है, व्यक्ति चेतन। सस्था अपनी परम्परा नही छोड सकती, तो यह जरूरी नही है कि व्यक्ति भी क्रान्ति के विचार से उद्बोधित होकर अपने पूर्व सस्कार को काट न सके। इसलिए यद्यपि मेरा विचार क्रान्ति के सदर्भ मे नये जवानो को लेकर ही केन्द्र स्थापित करने का था, फिर भी मैंने तय किया कि पुराने साथियो मे से जो आना चाहते हैं, उन्हें अवश्य साथ लूँगा। लेकिन इसके लिए तीन विद्यार्थियो को छोडकर और किसीकी तैयारी नही थी।

राममूर्तिजी का आवाहन

सन् १९३८ से ही भाई राममूर्ति से मेरा परिचय था। उस समय वे लखनऊ विश्वविद्यालय मे रिसर्च स्कॉलर थे। उन्हीं दिनो उनका आकर्षण बापू के विचारो की ओर हुआ। रणीवॉ की प्रवृत्तियो की ओर भी वे आकर्षित थे। उन दिनो वे काशी के क्वीस कालेज मे अध्यापक थे। उनसे मेरा घनिष्ठ सम्पर्क हो गया। वे मेरे विचारो से प्रभा-

वित थे। कॉलेज मे रहते हुए भी वे गाधीजी के क्रान्तिकारी विचारो का प्रचार करते रहते थे। अपने छात्रों तथा साथियो को लेकर उन्होने एक विचार-गोष्ठी भी बनायी थी। समय-समय पर अपने छात्रो को भी वे हमारे काम मे लगाने की कोशिश करते थे।

नये सिरे से नये स्थान पर बैठना है, तो मै किसे अपने साथ लूॅ, यह चिन्ता मुझे सता रही थी। तभी एक दिन सहज ही खयाल मे आया कि अगर राममूर्ति भाई अपना काम छोडकर हमारे साथ आ जायॅ, तो सुविधा होगी। यह तो मैं शुरू से ही कहता आया हूॅ कि बापू की क्रान्ति का वाहन नयी तालीम ही हो सकती है। दूसरा कोई साधन इसके लिए है ही नहीं। इसलिए नया केन्द्र नयी तालीम की बुनियाद पर संगठित करना होगा, इसमे मुझे सन्देह नही था। भाई राममूर्ति काफी दिनो तक शिक्षा का काम कर चुके थे। उनके विचार मे स्पष्टता थी और वे मेरे विचारो के अनुकूल थे। इन तमाम कारणो से मुझे ऐसा लगा कि ये भाई साथ दे, तो अच्छा होगा। तदनुसार मैंने उन्हे अपने इरादे के बारे मे लिखा। मैंने पूछा कि क्या वे मेरे साथ निकल सकते हैं? सम्भवतः मेरे पत्र से मेरी बात स्पष्ट नहीं हुई। अतः उन्होने अपने एक छात्र को, जो तालीमी सघ मे प्रशिक्षण पा रहे थे, लिखा कि वे मुझसे मिलकर मेरे विचारो को ठीक से समझ ले।

भाई राममूर्ति के छात्र श्री चन्द्रभूषण ने मुझसे मिलकर काफी देर तक चर्चा की। मैंने उन्हे अपनी सारी कल्पना बतायी और कहा कि मैं क्रान्ति की प्रक्रिया तथा उत्तर-क्रान्ति के सगठन की तैयारी दोनों साथ-साथ चलाना चाहता हूॅ। सम्भवतः यह बात भाई राममूर्ति को कुछ अटपटी लगे, ऐसा लगना स्वाभाविक भी था। वे इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं और उन्होने क्रान्ति के इतिहास का बारीकी से अध्ययन किया है। इतिहास मे क्रान्ति की जैसी बाते लिखी हुई हैं, वैसी बात यहॉ नहीं पायी जाती। इसलिए मैंने भाई चन्द्रभूषण को सारी बाते समझायीं और कहा कि इस बार जब मैं बनारस आऊॅगा, तब विस्तार से बात करूॅगा।

बिहार में बैठने का निश्चय

देश मे वेकारी की समस्या दिन-दिन जटिल होती जा रही थी। सरकार की समझ मे नही आ रहा था कि उसका निराकरण कैसे हो । सरकार मे बहुत से लोग गाधीजी के साथी रह चुके थे, इसलिए खादी और ग्रामोद्योग की वात सोचना उनके लिए स्वाभाविक था । फलस्वरूप उन्होने सरकार की ओर से इस काम को चलाने के लिए खादी और ग्रामोद्योग वोर्ड स्थापित करने का निर्णय किया और चरखा-सघ से मॉग की कि वह सदस्यों के नामों की सिफारिश करे । इन प्रश्नो पर निर्णय करने के लिए नवम्बर या दिसम्बर में चरखा-सघ की विशेष वैठक बुलायी गयी । वैठक कई दिनो तक चलती रही । बीच बीच मे मेरी नयी योजना पर भी चर्चा होती रही। यह तो पहले ही निर्णय हो चुका था कि नया विद्यालय कहीं दूसरी जगह शुरू किया जाय । कहॉ शुरू किया जाय, किस प्रान्त मे सहूलियत है, इन विषयो पर विचार होता रहा । लक्ष्मीबाबू और ध्वजा-बाबू ने कहा कि बिहार अनुकूल क्षेत्र है तथा पूर्वी क्षेत्र मे ऐसा कोई केन्द्र वनना चाहिए । आज खादीग्राम जिस भूमि पर प्रतिष्ठित है, वह जमीन विहार चरखा-सघ ने कई साल पहले ले ली थी और उसी तरह से पडी हुई थी । उसकी भी चर्चा आयी । बिहार के प्रति मेरा सहज आकर्षण था, इसलिए मैं बिहार मे वैठने को राजी हो गया ।

फरवरी के द्वितीय सप्ताह मे मैं आसाम सर्वोदय-सम्मेलन मे जानेवाला था । लक्ष्मीबाबू तथा ध्वजाबाबू से कहा कि आसाम जाते समय वह जमीन देख जाऊँगा । इस निर्णय से उन लोगो को बडी खुशी हुई । उन्होने कहा कि वे फरवरी मे मुझे जमीन दिखला देगे ।

फरवरी के पहले सप्ताह में मैंने ध्वजाबाबू को लिखा कि ८ फरवरी को जमीन देखने आ रहा हूँ । भाई राममूर्ति को भी लिख दिया कि

जमीन का निरीक्षण

फरवरी के पहले सप्ताह मे सेवापुरी मे उनसे तथा उनके उन साथियो से मिलूँगा, जिन्हे मेरे साथ वैठने मे दिलचस्पी है ।

आसाम के रास्ते में सेवापुरी पहुचा । भाई राममूर्ति और उनके साथी वहाँ पहुँच गये थे। उनसे चर्चा हुई। विनोबा की यात्रा की परिणति के बारे मे मेरे जो विचार थे, मैंने उनके सामने रखे। आगे क्या करना है, यह भी बताया। विनोबाजी की यात्रा की प्रगति देखकर वे भी प्रभावित थे। मुख्य बात तो यह थी कि मेरे प्रति उनकी आस्था थी। कुल मिलाकर उन्हे विचार जॅच गया और उन्होने मेरे साथ रहने का वादा किया। उनमें भाई राममूर्ति और रवीन्द्र भाई मेरे पूर्व-परिचित थे। दो नये नौजवान थे शिवकुमार भाई तथा इन्द्रदेव भाई। इनसे बातचीत करके मैं बिहार की ओर चल पडा।

पटना से ध्वजाभाई को साथ लेकर शाम को जमुई स्टेशन पर पहुँचा। हम लोग टमटम पर सवार होकर अँधेरे में जगल की ओर रवाना हो गये। उन दिनो इधर काफी जगल था, इसलिए ध्वजाभाई भी स्थान को ठीक से पहचान न सके और आगे बढ गये। फिर इधर-उधर पूछ पाछकर रात को साढे सात बजे हम लोग अपने स्थान पर पहुँचे। यहाँ पर बिहार खादी समिति का एक छोटा सा केन्द्र चलता था। वहीं पर हमने रात बितायी। दूसरे दिन हम लोग दिनभर जमीन पर घूम-घूम-कर देखते रहे। जमीन पत्थरो से भरी हुई थी और पहाड और जगल से घिरी हुई। ऐसा लगता था कि ऐसी जमीन मे आदमी कभी नहीं बस सकता। लेकिन आसपास का प्राकृतिक सौंदर्य ऐसा था कि मैं उस पर मुग्ध हो गया और ध्वजाभाई से मैंने कह दिया कि मैं यहीं पर बैठूँगा। मैंने सेवाग्राम को भी लिख दिया कि लोग तैयारी रखे, ताकि वापस पहुँचते ही मैं रवाना हो सकूँ।

खादीग्राम मे प्रवेश

आसाम से लौटकर उत्तर प्रदेश होते हुए सेवाग्राम पहुँचा और एक साल के लिए चरखा-सघ के पुराने कार्यकर्ता चदन भाई को लेकर २६ फरवरी १९५२ को खादीग्राम की जमीन पर पहुँच गया। रास्ते मे बनारस से इन्द्रदेव भाई तथा शिवकुमार भाई साथ हो गये।

○ ○ ○

गाँव में नये प्रकार का शिविर : १९ :

श्रमभारती, खादीग्राम

७-७-'५८

सन् १९५० के बिहार के दौरे के बारे मे पहले लिख चुका हूँ। बिहार की जनता की सहृदयता तथा गाधीजी के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा का दर्शन मधुबनी क्षेत्र की पदयात्रा मे मिल चुका था। लक्ष्मीबाबू, ध्वजाबाबू तथा दूसरे साथियो की वैचारिक सदर्भ से कुछ करने की तैयारी भी मैने देखी थी। भडार के अनेक कार्यकर्ताओ से मुलाकात हुई थी, जिनमे कार्यक्षमता भले ही कम रही हो, पर श्रद्धा की पूँजी पर्याप्त थी। इन तमाम कारणों से मुझे ऐसा लगा कि एक बार बिहार के कार्यकर्ताओ को खादी के क्रान्तिकारी विचार समझाने का प्रयास करूँ। तुम कहोगी कि एक बार गाधी आश्रम के कार्यकर्ताओं मे ऐसा प्रयास किया था, उतना काफी नही था? किसी भी क्रान्तिकारी के लिए उतना काफी नहीं कहा जा सकता। उसे तो बार-बार धक्का देना होगा, भले ही जीवन के अन्तिम क्षण तक उसके लिए दरवाजा बन्द ही रहे।

ऐसा सोचकर मैंने लक्ष्मीबाबू से कहा कि खादी समिति के मुख्य कार्यकर्ताओ का तीन-चार दिन का शिविर लीजिये, क्योंकि कार्यकर्ता यदि विचार नही समझेगे तो ठीक न होगा। केवल ऊपर के लोगो के समझने से काम नहीं चलेगा। तदनुसार रॉची के पास तिरील मे बिहार समिति के पचास कार्यकर्ताओ का एक शिविर हुआ।

कार्यकर्ताओं का शिविर

शिविर की समाप्ति के समय कार्यकर्ताओ मे पर्याप्त उत्साह दिखाई पडा। उन्होने कहा : "खादी-काम के पीछे इतनी बातें हैं, यह तो हम जानते ही नहीं थे।" सब लोगों ने सही दृष्टि से काम करने की कोशिश

करने का वादा किया। उसी शिविर के अन्तिम दिन सबने मिल-बहिष्कार का भी सकल्प किया।

चर्चा के दौरान मे बिहार के कुछ साथियो ने कहा कि खादी की यह नयी दृष्टि सभी कार्यकर्ताओ को मिलनी चाहिए और बारी बारी से खादी समितियो के चार सौ कार्यकर्ताओं का शिविर होना चाहिए। कुछ साथियो ने यह भी कहा कि केवल खादी समिति के कार्यकर्ताओं को ही नही, उन खादी प्रेमियो को भी ये बाते बतानी चाहिए, जो इस काम मे विशेष दिलचस्पी लेते है। मैने इसके लिए कभी-कभी समय निकालने का वादा किया।

जिन दिनों मै चरखा-सघ की ओर से कताई मडलो का सगठन कर रहा था, उन दिनो मैं यह महसूस कर रहा था कि केवल सार्वजनिक सभा मे, विद्यार्थियों मे या दूसरे लोगो मे भाषण करने से काम नहीं चलेगा, उसके बजाय गाधीजी की विचार-धारा को समझाने के लिए शिविरों का आयोजन करना होगा। सस्थाओ मे शिविर बुलाने से कुछ निष्पत्ति नही निकलती है, यह पहले ही मै देख चुका था। देहातों के एक दो शिविर चलाकर भी समाधान नहीं हुआ था। शिविरार्थियों के भोजन के लिए चदा बटोरने और खाने-खिलाने मे ही व्यवस्थापको की सारी शक्ति लगे और उनका समय जाय, यह मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता था। देहात के लोगो पर भी अनुष्ठानो का सह-भोज का ही असर होता था। बहुत सोचने के बाद मुझे यह उपाय सूझा कि देहातो मे विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन के आधार पर सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना का विचार फैलाया जाय और जो गॉव आमन्त्रित करे, वहॉ शिविर का सगठन किया जाय। चदा बटोरा जाय और एक बहुत बडा रसोईघर बनाया जाय—यह पद्धति छोड दी जाय और उसके बजाय एक-एक घर मे एक, दो दो शिविरार्थी अतिथि हो जायॅ। वे लोग वहीं पर रहें, भोजन करे, परिवार के लोगो के साथ उनके ही घर के आसपास

ग्राम-शिविर की कल्पना

सफाई करे, प्रार्थना और चर्चा के समय परिवार के सभी लोग एक जगह एकत्र हो। इस प्रकार के शिविरो मे मुझे सफलता मिल चुकी थी। मैंने लक्ष्मीवाबू से इस पद्धति के बारे मे बात की। उन्होंने कोशिश करने को कहा।

पहला शिविर मुँगेर जिले के गोविन्दपुर खादी भडार के तत्त्वावधान में उसी गॉव में करने का विचार हुआ। भाई रामविलास सिंह उन दिनों बिहार के कताई मडल के सगठक थे। उन्होने लक्ष्मीवाबू के साथ गॉव में जाकर यह पद्धति समझायी। गॉववालो को यह विचार कुछ अटपटा-सा लगा। उन्होंने कहा कि यह सम्भव नहीं। उनका कहना था कि वे खुद ही अनाज जुटाकर सबके लिए भोजन की व्यवस्था कर देंगे। हम लोगो को सोचने की जरूरत नहीं है।

भाई रामविलास शर्मा का पत्र आया कि गॉव के लोग मान नहीं रहे हैं और उन्हींके सुझाव के अनुसार शिविर हो, यही अच्छा है। मुझे यह विचार पसन्द नहीं आया। विकेन्द्रित समाज-नीति को यदि वढाना है, तो इस विचार को गॉव-गॉव मे फैलाना ही पर्याप्त नहीं है, उसे घर-घर मे प्रवेश भी कराना होगा। अहिंसक क्रान्ति का विचार किसी पर लादा नहीं जा सकता। उसे तो लोगों के दिल मे प्रविष्ट कराना होगा। विना आत्मीयता साधे क्या यह सम्भव होगा? मैं इस तरह सोचने लगा। फिर मैंने यह निर्णय किया कि मै ही दो दिन पहले गॉव मे पहुँच जाऊँ और खुद गॉववालो को समझाऊँ। पहले ही शिविर में हम असफल रहे, तो विहार के कार्यकर्ताओ मे इस प्रथा की व्यावहारिकता पर सन्देह हो जायगा। यह सोचकर मै दो दिन पहले गोविन्दपुर पहुँच गया। पहुँचते ही श्री रामविलास शर्मा ने मुझे सूचित किया कि गॉव-वाले अब कुछ-कुछ समझ रहे हैं और यह तय कर रहे हैं कि शिविरार्थी किस-किस घर मे ठहरेंगे।

गोविन्दपुर मे प्रयोग

मैंने करण भाई की पत्नी सुशीला वहन को अपने पास वुला लिया

था, जिससे बहनों से सम्पर्क हो सके। सुशीला बहन को बहनों मे चर्चा करने के लिए भेजकर मैंने शाम को गाँव के लोगो की एक बैठक बुलायी। उन्हे मैंने विकेन्द्रित समाज का विचार बताया और यह भी बताया कि क्यों घर-घर हम टिकना चाहते है। तय तो उन्होंने पहले ही कर लिया था, लेकिन मुझसे चर्चा करके उन्हे पर्याप्त समाधान तथा सन्तोष हुआ। वे उत्साह से इसकी व्यवस्था करने मे लग गये। बीच मे एक दिन का समय था। मै, सुशीला बहन तथा रामविलास शर्मा जिनके घर मे अतिथि बननेवाले थे, उनके यहाँ जाकर समझाने लगे कि क्या करना है। प्राय. सभी घरो मे वैज्ञानिक पेशाबघर बनवा दिये, जिससे पेशाब का उपयोग खाद मे हो सके।

दूसरे दिन से शिविर प्रारम्भ हुआ। गाँववालो तथा कार्यकर्ताओ के लिए यह एक अभिनव प्रयोग था। इसकी चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसलिए दूर दूर के गाँवो से भी शाम की चर्चा गोष्ठी में प्रतिदिन दो-तीन सौ लोग शामिल होते थे।

शिविर की प्रसिद्धि इस कारण और भी बढी कि मैं और लक्ष्मीबाबू हरिजनो के घर ठहरे हुए थे। उन दिनो मैंने हरिजनो के घर ठहरने का नियम बना रखा था। लक्ष्मीबाबू भी उसी नियम के अनुसार भगी के घर ठहरे थे। इस घटना से चारो ओर तहलका मचा हुआ था और लोग मुझसे इसका रहस्य पूछने आते थे। मै पहले भी इस इलाके मे दौरा कर चुका था और मेरा 'हुजूर' और 'मजूर' वाला विवेचन इधर काफी फैला हुआ था। मैंने उनसे कहा : "आप मानते ही है कि किसी गाँव मे किसी गोल की मेहमानी हो, तो उसमे से मुख्य व्यक्ति गाँव के सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर मे ही मेहमान बनता है। शोषणहीन तथा स्वावलम्बी समाज मे अनुत्पादक वर्ग से उत्पादक वर्ग ही अधिक प्रतिष्ठित है, ऐसी मान्यता चलेगी। मै इनके घरों मे ठहरकर 'मजूर-प्रतिष्ठा' का विचार फैलाना चाहता हूँ।" मेरी बातों से कुछ लोगो को सन्तोष हुआ,

तो कुछ लोग काफी नाराज भी हुए। लेकिन कुल मिलाकर उस क्षेत्र के लोगो पर तथा शिविरार्थियो पर अच्छा असर पडा।

लोग जिन घरो मे ठहरे हुए थे, उनके साथ वे सफाई करते थे, बच्चों को प्यार करते थे और भोजन करने के समय कुछ बहनो से भी चर्चा का मौका मिल जाता था। दोपहर के भोजन के बाद तथा रात को सोने से पहले जितने घरों मे मेहमान टिके हुए थे, वे सब-के सब एक एक चर्चा-गोष्ठी बन गये थे। वहॉ आसपास के दस-बारह नौजवान मुख्य चर्चा के सदर्भ मे शिविरार्थी भाइयों के साथ और अधिक चर्चा करते थे। इस प्रक्रिया से गॉव मे शिविर का संगठन न करके गॉव को ही शिविर बनाने का कार्यक्रम सफल हुआ। आजकल मै नयी तालीम का विचार समझाते हुए कहता हूॅ कि शिक्षा का समाजीकरण करना होगा। गॉव मे विद्यालय न खोलकर गॉव को ही विद्यालय बनाना होगा और उसके लिए सारे गॉव के बच्चे, जवान तथा बूढो को विद्यालय का विद्यार्थी बनाना होगा।

घर-घर में चर्चा-गोष्ठी

शायद यह प्रयास इसी विचार का पूर्वाभास था। घर-घर मे चर्चा-गोष्ठी चलना, सुशीला का घर-घर घूमकर बहनो से चर्चा करना, करण भाई की छोटी बच्ची माया का बच्चो को बटोरकर खेल-कूद सिखाना—इन सब बातो ने सारे गॉव को शिविरार्थी बना दिया था।

गोविन्दपुर के शिविर की सफलता ने लक्ष्मीबाबू तथा खादी समिति के साथियो को अत्यधिक उत्साहित किया। सस्थाओ के सामने जब कभी शिविरों का प्रश्न उपस्थित होता था, तो सबसे जटिल प्रश्न खर्चे का होता था। दूसरी कठिनाई व्यवस्था की थी। दोनो कठिनाइयो को हल करते हुए जन जीवन की इतनी गहराई मे प्रवेश करके शिविरो का संगठन हो सकता है, इसके दर्शन से वे प्रफुल्लित हुए और आगे इसी प्रकार के शिविर चलाने का उन्होंने निर्णय किया।

प्रयोग की सफलता से प्रेरणा

उसके बाद मे बीच बीच में बिहार के कार्यकर्ताओ के शिविरो मे जाया करता था और खादी के नये काम समझाया करता था। जिस समय मैं खादीग्राम पहुँचा, उस समय तक यह प्रक्रिया जारी थी। खादी-ग्राम आने के बाद भी छपरा मे आखिरी शिविर का सगठन हुआ था।

खादीग्राम मे मेरे आ जाने से तथा बिहारभर के शिविरो का सगठन करने से बिहार के रचनात्मक कार्य की दुनिया मे पर्याप्त जाग्रति हो गयी थी। १९५२ मे सेवापुरी के सर्वोदय सम्मेलन मे उस जाग्रति का लाभ मुझे किस तरह मिला, उसकी कहानी फिर कभी लिखूँगा। ० ० ०

सेवापुरी-सम्मेलन : १६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
८-७-'५८

अप्रैल १९५१ से ही विनोबाजी ने तेलगाना मे भूदान-यज्ञ शुरू कर दिया था। यद्यपि उनका यह काम एक बड़ी सामाजिक क्रान्ति की गगोत्री जैसा था, फिर भी वह था विनोबाजी का ही आन्दोलन। किसी सस्था की ओर से वह काम नहीं चल रहा था। सेवाग्राम में सर्व-सेवा-संघ की बैठक में कुछ चर्चा अवश्य हुई थी, पर उस समय तक सघ ने उसे अपनाया नहीं था। फिर जब उन्होंने उत्तर प्रदेश का दौरा किया, उस समय भी विनोबाजी का आन्दोलन जन-आधारित होकर ही चलता था। पदयात्रा का खर्च यात्रा के क्षेत्र के लोग ही चलाते थे और काम करनेवाले भी व्यक्तिगत रूप से उनके साथ हो लेते थे। आज हम तत्र-मुक्ति और निधि-मुक्ति की बात करते हैं, शुरू मे आन्दोलन का स्वरूप वही था। अगर वैसा ही रहने दिया जाता, तो शायद आज तन्त्र-मुक्ति और निधि-मुक्ति को लेकर हममे इतनी व्याकुलता न रहती। मेरी राय तो पहले से ही ऐसी रही, लेकिन ईश्वर की इच्छा कुछ और थी।

आसाम के सर्वोदय-सम्मेलन मे मैं गया हुआ था। शाहजहाँपुर से करण भाई का तार आया कि आगामी सम्मेलन के निर्णय करने की चर्चा में शामिल होने के लिए मैं वहाँ पहुँच जाऊँ।

सेवापुरी का सम्मेलन

१२ फरवरी को तार पहुँचा कि १४ को बैठक है। सयोग से तुरन्त कलकत्ता का विमान मिल गया और मैं १४ की रात को शाहजहाँपुर पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि सेवापुरी मे सम्मेलन होने का निर्णय हुआ है और यह भी तय हुआ कि मैं ही सम्मेलन की जिम्मेदारी उठाऊँ।

उस समय मै कई कामो का सकल्प कर चुका था, बिहार के शिविरो के लिए समय दिया था और उस महीने के अन्त तक खादीग्राम मे पहुँचने का भी निश्चय कर लिया था। मैने गाधी आश्रम के जिम्मेदार लोगों से कहा कि इसकी जिम्मेदारी वे ही उठाये। लेकिन विचित्र भाई और दूसरे साथियों ने मेरी बात बिल्कुल नहीं मानी। वे कोई अच्छा साथी भी देने को तैयार नहीं हुए। उस समय मेरे स्वास्थ्य की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उस बिगडी हुई हालत मे एकदम अकेले कुछ करने की हिम्मत नही हो रही थी। बडी मुश्किल से भाई देवकरण सिंह मेरी सहायता के लिए मिले। पिछले चुनाव के सिलसिले मे वे उन दिनों गाजीपुर मे थे। निश्चय हुआ कि वे मेरी सहायता मे सेवापुरी आ जायेगे। मैंने इतने से ही सतोष कर लिया और वहॉ से सेवाग्राम चला गया। १७-१८ फरवरी के करीब सेवाग्राम पहुॅचा और जल्दी से जमुई पहुॅचकर मैंने वहॉ पर अपना आसन जमा दिया।

८-१० दिन अथक परिश्रम करके हम लोगो ने रहने के लिए एक झोपडी बना ली तथा यहॉ के लिए योजना बनानी शुरू कर दी। यहॉ का काम करते-करते पिछले निश्चय के अनुसार बिहार के दो शिविरों का भी काम समाप्त किया। साथ ही साथ सेवापुरी के सम्मेलन की व्यवस्था के लिए वहॉ भी जाता रहा। स्वास्थ्य पहले से ही बिगडा हुआ था, अत्यधिक परिश्रम के कारण और भी टूट गया और कमर के दर्द से चारपाई पर पड रहा। ऐसी बुरी हालत मे ही मैं सेवापुरी पहुॅचा। उस समय सम्मेलन के लिए मुश्किल से १५-२० दिन रह गये थे।

सम्मेलन के खर्च के लिए कुछ चदा बटोरना था। शाहजहॉपुर से सेवाग्राम जाने के पहले ही लखनऊ में मित्रों की एक बैठक बुला ली थी। उसके अनुसार देवकरण भाई ने कोशिश भी की थी। विभिन्न जिलों मे काम करने के लिए मित्रों ने जिम्मेदारी भी ली थी। लेकिन जब मैं सेवापुरी पहुॅचा, तो कुछ विशेष परिणाम देखने मे नहीं आया। थोडी सी आशा थी, लेकिन बहुत गुजाइश नहीं थी। तो मैंने बनारस तथा आसपास के इलाके

मे गल्ला मॉगना शुरू किया। उसमे भी कुछ आशा दिखाई दी, लेकिन कुछ प्राप्ति होने मे समय लगता, निवास-शुल्क मिलने मे भी देरी ही होती, तो सवाल था कि तात्कालिक काम कैसे शुरू किया जाय ? गाधी आश्रम से एक हजार रुपया कर्ज मॉगा, लेकिन वह भी नही मिला। इस पर मैं सोचने लगा कि गाधी आश्रम जैसी ये सस्थाएँ आखिर किसलिए हैं ? बापू ने क्या सोचकर इन सस्थाओ को खडा किया था ? फिर मन मे आता था कि जब मै मानता हूँ कि पुरानी सस्थाऍ क्रान्ति की वाहक नही हो सकती है, तो ऐसी अपेक्षा ही क्यो रखता हूँ ? ऐसे नाना प्रकार के विचार मन मे आने लगे। अन्त मे यह सोचा कि जो हो, सम्मेलन तो करना ही है। मैने इधर उधर नजर दौडायी, तो एकमात्र बिहार ही नजर आया। मैंने लक्ष्मीबाबू को लिखा कि वे मुझे ५००) नकद कर्ज दे दे और हिसाब किताब मे पक्के तीन-चार अच्छे कार्यकर्ता भी मेरे पास भेज दे। लक्ष्मीबाबू ने प्रधान कार्यालय के हिसाबनवीस और दो मुख्य कार्यकर्ता तथा ५००) मेरे पास भेज दिये। यह रुपया मैने व्यक्तिगत कर्ज के रूप मे लिया। इस तरह सर्वोदय-सम्मेलन के कार्य का श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे बिहार से ५०-६० कार्यकर्ता आ गये और वे सम्मेलन के काम मे लग गये।

कमर के दर्द के बावजूद मै सम्मेलन के काम मे जुटा था और प्रतिकूल परिस्थिति से लोहा ले रहा था। मानसिक बोझ तो था ही। इन सबने मुझे एकदम चारपाई पर डाल दिया। तब से सवा दो साल तक मै चारपाई पर ही पडा रहा। सम्मेलन के बाद भी कमर के दर्द के कारण मै रेल-यात्रा नही कर सका और खादीग्राम नहीं जा सका। मै बनारस मे ही पडा रहा और पडे-पडे वैद्यजी का इलाज कराता रहा।

स्वास्थ्य पर बुरा असर

खादीग्राम का केन्द्र कृषिमूलक होगा, इसमे तो कोई सन्देह था नही, इसलिए मेरी गैरहाजिरी मे ही भाई अण्णासाहब और दादाभाई नाईक, जो रचनात्मक कार्य की दुनिया मे कृषि के विशेषज्ञ हैं, वहॉ की

सम्भावनाएँ देखने के लिए वहाँ पहुँचे। अण्णासाहब और दादाभाई ने लौटकर मुझसे कहा कि वहाँ न तो पानी है, और न जमीन। छोटा मोटा केन्द्र बनाकर बैठिये और इस जमीन मे जगल की योजना बना लीजिये। मैं उस समय बिस्तर पर पडा था, क्या कहता!

कितने ही दिन बीत गये। इलाज से कुछ लाभ नहीं हुआ, तो मैं लेटे-लेटे ही खादीग्राम चला आया। सोचा, वहाँ पडा भी रहूँगा, तो भी कुछ मार्ग-दर्शन कर सकूँगा। हमारे साथी कुआँ बनाने और थोडी-बहुत खेती करने की व्यवस्था मे जुट गये। मैं पडा-पडा मार्ग दर्शन करता रहा।

खादीग्राम का कार्यक्रम बनाते समय मैने सोचा था कि दिन मे तो मैं केन्द्र पर रहूँगा और रात को किसी गाँव मे। यो आसपास के गाँवो मे नया विचार फैलाने मे सुविधा होगी, लेकिन ईश्वर की इच्छा कुछ और ही थी। मेरी कमर का दर्द इतना बढ गया कि रात मे गाँव मे रहने का विचार पूरा न हो सका।

केन्द्र बनाते समय यह प्रश्न उठा था कि ग्राम-सम्पर्क कैसे हो? हमारे साथी कहते थे कि यदि हम गाँव की सेवा नहीं करते हैं, तो यहाँ रहने से क्या लाभ है? मैं उन्हे समझाता था कि जब तक आसन नहीं जमा लोगे, तब तक गाँव में कुछ कर नहीं सकोगे। इसलिए शुरू में ग्राम-सम्पर्क का कुछ काम नहीं हो सका। आसपास के जो लोग मिलने आते थे, उन्हे मे अपना विचार और योजना बताता था। पडे रहने के कारण मै कहीं जा नहीं सकता था। इसलिए बहुत जगहों के कार्यकर्ता मुझसे मिलने आते थे। वे बैठे-बैठे पत्थर तोडने की क्रिया देखकर परेशान होते थे। उनकी समझ मे नहीं आता था कि इस तरह से कुछ जमीन और तालाब बनाने से क्या परिणाम निकलनेवाला है। मैं उनसे धैर्य रखने की बात करता था।

पत्थर तोडने की क्रिया

बाहर से भी बहुत से लोग आते थे। वे कहते थे कि बिहार मे आपको अच्छी जमीन मिल सकती है। वहाँ बैठेंगे, तो शीघ्र ही स्वावलम्बी

हो सकते है। मैने कहा कि समस्या अच्छी जमीन की नही है, ककड-पत्थर की है। यदि देश की समस्या हल करनी है, तो ककड-पत्थर की समस्या हल करनी होगी। पर वह किस तरह हल होगी, मैं नही जानता। लेकिन मेरा विश्वास है कि उसकी कोशिश में ही हल निकलेगा। कहते हैं कि आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। इस देश की आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, तो दिशा सूझेगी ही।

इन तमाम विचारों के कारण घर के और बाहर के और सभी मित्रों के निरुत्साह के बावजूद मैं खादीग्राम में ही डटा रहा और निरन्तर इस इलाके की भूमि-समस्या के चिन्तन में लगा रहा। ●●●

खादीग्राम में ग्राम-सम्पर्क : १७ :

श्रमभारती, खादीग्राम
८-७-'५८

यद्यपि मै कमर की दर्द से पीडित था, फिर भी लोगों ने मुझे बिल्कुल छुट्टी नहीं दी। आसपास के इलाके में भी मैं कभी-कभी जाता था। बाहर बैठकों में भी कभी-कभी जाना पडता था। धीरे-धीरे मुझे इस इलाके की जानकारी होने लगी। जैसे-जैसे मेरी जानकारी बढी, यहाँ की परिस्थिति मुझे अजीब मालूम पडने लगी। इस इलाके में जमींदारी-अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। लोग भयभीत थे, डर से कोई बात ही नहीं करता था।

मैं पहले-पहल जब यहाँ आया था और स्टेशन से नूमर के लिए बस पर बैठा, तो मुझे एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना देखने को मिली। बस थोडी दूर जाकर रुकी। सामने की बेंच बिल्कुल भरी हुई थी, पीछे भी सवारियाँ भरी थीं। सडक पर दो-तीन सवारियाँ खडी थीं। कण्डक्टर ने तीन-चार सवारियो से उतरने के लिए कहा, पर वे उतरना नहीं चाहती थीं, यह देखकर चढनेवाले सवारियो ने उन्हे डॉटा। उस डॉट का प्रतिवाद किये बिना ही वे लोग उतर गये। मै इधर नया आया था, इसलिए कुछ बात समझ मे नहीं आयी, इसलिए मै चुप रहा। बाद को पता चला कि नयी सवारियाँ यहाँ के एक जमींदार के घर की थीं।

जमींदारों का अत्याचार

हम जब खादीग्राम मे बैठे, तो हम लोग भी इनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके। यहाँ पर हमारा बैठना यहाँ के बाबुओ को बहुत नागवार लगा। वे नहीं चाहते थे कि हम लोग यहाँ जम पाये। इसलिए वे नाना प्रकार से हमारी मुखालफत करने लगे। उनकी मुखालफत व्यक्तिगत रूप मे मुझसे

नहीं थी, बल्कि मेरे विचार से थी। वे साफ-साफ कहते थे कि धीरेन भाई तो अच्छे आदमी हैं, उनसे हमारा कोई विरोध नही है। लेकिन गाधीवाद की वे जो परिभाषा करते हैं, अगर वही गाधीवाद है, तो हम लोगो का अस्तित्व ही खतरे में है। वे यह बात भी भलीभॉति समझते थे कि अभी तो ये कुछ करते नही हैं, लेकिन इनका असर अगर फैल गया, तो उनका एकच्छत्र अत्याचार नही चलेगा।

दिक्कत इसलिए और भी थी कि वे काग्रेस-जन थे। और उनके कारण जिले की काग्रेस मेरे और खादीग्राम के सख्त खिलाफ हो गयी। इसलिए यहॉ के काग्रेस-जनो से हमे कोई सहायता तो मिली नहीं, उलटे निरतर विरोध मिलता रहा। बिहार के दूसरे जिलो के काग्रेस जन आकर मुझसे मिलते थे और कहते थे : "आप भी ऐसी जगह आकर बैठे! हमारे जिले मे आते, तो हम सब कितनी मदद करते!" मै मुस्कराता था, कहता था कि अपनी थोडी सी मदद यहॉ ही भेज दीजिये। यहॉ के साथियो को समझाइये कि मैं कोई खतरनाक आदमी नही हूँ।

काग्रेस के विरोध के कारण दिक्कत अवश्य थी, लेकिन इससे हमारा कुछ लाभ ही हुआ। जन-मानस मे खादीग्राम का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम हुआ। कुछ ही दिनों मे लोग हमारे प्रति आकृष्ट होने लगे, लेकिन डर के कारण वे मदद नहीं कर सकते थे। स्वतत्रता-सग्राम के दिनो में हम ऐसी परिस्थिति से गुजर चुके थे, इसलिए हमें इन बातो की चिन्ता नहीं थी और हम निश्चिन्तता से अपने काम मे लगे रहे।

काशी के क्वीन्स कॉलेज के प्राध्यापक भाई राममूर्ति सिंह का जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। उन्होने छोडने का निर्णय तो कर लिया था, लेकिन उन्हे जल्दी छुट्टी नही मिली। मैंने उन्हे तुरन्त इस्तीफा देने के लिए मना किया था। देश में क्रान्ति का कोई वातावरण नहीं था। कौन जाने, आगे की परिस्थिति कैसी हो। यदि किसी प्रकार से असमाधान हो, तो फिर वापस कहॉ स्थान मिलेगा। तीस साल के सार्वजनिक जीवन मे मैंने

ग्राम-सम्पर्क का श्रीगणेश

ऐसे सैकडो नौजवानो को देखा, जो बडी गम्भीरता से आन्दोलन की सेवा करने के लिए नौकरी छोडकर आये, पर आन्दोलन की परिस्थिति या कार्यक्रम से उन्हे समाधान नही मिला और इससे उनके जीवन मे निराशा आ गयी। इस अनुभव के कारण मैने उन्हे सलाह दी कि वे पहले एक साल की छुट्टी लेकर आयें और सालभर रहकर देख ले। फिर इस्तीफा दे। विभाग के लोग उन्हे छोडना नहीं चाहते थे, इसलिए छुट्टी जल्दी नहीं मिली। गर्मी की छुट्टी होते ही वे खादीग्राम आ गये। छुट्टीभर रहकर बनारस चले गये। फिर अक्तूबर मे लौट आये।

भाई राममूर्ति के लौटते ही ग्राम-सम्पर्क का काम शुरू करने की बात सोची। अक्तूबर का महीना था, चरखा-जयन्ती के अवसर पर २ अक्तूबर से एक पखवारे के लिए राममूर्ति भाई के नेतृत्व मे अपने साथियों को पदयात्रा पर भेज दिया। इस पदयात्रा से इस बात का पूरा पता चला कि यहाँ के लोग कितने अधिक पीडित है और वे कितना ज्यादा डरते हैं। वे हमसे प्रेम तो करते थे, लेकिन डर के मारे पास नही आते थे कि कहीं कोई देख न ले! वे हमे घर पर ठहराने में भी डरते थे। इस अनुभव ने हमारे साथियो को बहुत लाभ पहुँचाया। प्रतिकूल परिस्थिति मे धैर्य के साथ कैसे सेवा करनी चाहिए, इसका बोध दिलाया। रवीन्द्र भाई तो कभी-कभी धैर्य खो देते थे। वे मुझसे आकर झगडते और कहते थे कि इस अत्याचार का निवारण होना चाहिए। वे पूछते थे कि इस गरीब जनता के लिए हमारे पास क्या कार्यक्रम है? मैं उन्हे धैर्य धारण करने के लिए कहता था और समझाता था कि विनोबा का भूदान किस प्रकार इस समस्या का हल करनेवाला है। पर मेरी दलीलो से साथियो को समाधान हो रहा है, ऐसा लगता नहीं था। लेकिन मेरे प्रति उनकी श्रद्धा थी, इस-लिए वे अपना धैर्य बनाये रखते थे।

इस प्रकार ग्राम-सम्पर्क की शुरुआत हो गयी। इसके बाद से हम लोगों ने यह निश्चय किया कि सप्ताह मे छह दिन संस्था-निर्माण का काम करेंगे और एक दिन गाँव मे रहकर ग्राम सम्पर्क

सप्ताह में एक दिन गाँव में

करेंगे। तदनुसार यहाँ के साथी शुक्रवार को काम बन्द कर गाँव मे चले जाते थे और शनिवार को लौट आते थे। वे जब हमसे कार्यक्रम माँगते थे, तो मैं उनसे कहता था कि कार्यक्रम अपने-आप निकलेगा। अभी आप सिर्फ गप चलाइये।

इस तरह छ: दिन संस्था-निर्माण और एक दिन जन-सम्पर्क का कार्यक्रम चलाते हुए मार्च १९५३ का चांडिल का सर्वोदय-सम्मेलन आ गया और हम लोग सम्मेलन में पहुँचे। ● ● ●

चरखा-संघ का विलीनीकरण : १८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
९-७-'५८

१९४८ मे सर्व-सेवा-सघ बना। उसका स्वरूप गाधीजी द्वारा प्रदर्शित सभी अखिल भारतीय सस्थाओ के प्रतिनिधियो के सघ का था। यद्यपि सर्व-सेवा-सघ बना, वह प्रभावकारी सघ नहीं बना, केवल एक समिति के रूप में ही रह गया। विभिन्न सस्थाएँ अपनी-अपनी दिशा में काम करती रहीं। उनकी दिशा भिन्न रही और सर्व-सेवा-सघ के जरिये पारस्परिक सम्पर्क भी नहीं रहा। फलस्वरूप जिस उद्देश्य से सर्व-सेवा-सघ की कल्पना की गयी थी, वह सफल नहीं हो सका।

विनोबाजी इस स्थिति को देख रहे थे। सर्व-सेवा-सघ की हालत से वे चिन्तित रहते थे। आखिर उन्होने यह सुझाव दिया कि जुडी हुई सस्थाएँ अलग न रहकर सर्व-सेवा-सघ में विलीन हो जायँ और सब मिलकर एक सस्था बन जायँ, ताकि सब एकरस होकर समग्रता का दर्शन तथा प्रदर्शन कर सकें। सबसे पहले विनोबाजी का सुझाव गो-सेवा-सघ ने मान लिया और वह अपने प्रस्ताव द्वारा सघ में मिल गया। फिर कुमारप्पाजी ग्रामोद्योग-सघ को सर्व-सेवा-सघ में विलीन करने का प्रस्ताव लाये।

निष्क्रिय विलीनीकरण

गो सेवा-सघ के विलीन हुए कुछ महीने बीत गये थे, लेकिन उसका काम करने का ढग ऐसा नहीं था कि ऐसा लगे कि सर्व-सेवा-सघ से एकाकार हो गया है। सर्व-सेवा-सघ और गो-सेवा-सघ दोनो अलग-अलग ही दीखते थे, प्रस्ताव में भले ही दोनो एक हो गये थे। मुझे यह चीज कुछ अच्छी नहीं लगी। मुझे डर था कि यदि यही ढग जारी रहा,

तो ग्रामोद्योग-सघ विलीन हो जायगा, लेकिन वह भी उसी तरह से अपना अस्तित्व बनाये रखेगा। तो जिस तरह से जुडाव समिति के रूप में सर्व-सेवा-संघ का उद्देश्य विफल हो रहा था, उसी तरह इस प्रकार के विलीनीकरण से कुछ निष्पत्ति नही निकलेगी। अतः ग्रामोद्योग-सघ की बैठक मे मैंने विलीनीकरण के खिलाफ राय दी। मेरी इस राय से साथियों को आश्चर्य हुआ, क्योकि १९४५ मे जब से गाधीजी ने नव-सस्करण की बात उठायी और चरखा-सघ द्वारा समग्र सेवा की चर्चा हो रही थी, उसी समय से मैं यह राय प्रकट करता रहा था कि सब सस्थाओ को एक मे लाकर समग्र सेवा सघ बने। लेकिन गो-सेवा-सघ के ढग को देखकर मैने समझा कि विलीनीकरण की प्रक्रिया अस्वाभाविक होगी। लेकिन श्रद्धेय कुमारप्पाजी तथा अन्य साथियो के आग्रह से ग्रामोद्योग-सघ सर्व-सेवा-सघ मे विलीन हो गया।

विलीनीकरण के बाद ग्रामोद्योग-सघ की भी वही स्थिति रही, जो गो-सेवा-सघ की थी। वह भी पूर्ववत् अलग से और अपने ढग से चलता रहा। कागज पर गो-सेवा-विभाग और ग्रामोद्योग-विभाग लिखा जाता था, लेकिन ऊपर से नीचे तक के कार्यकर्ता गो-सेवा सघ और ग्रामोद्योग-सघ ही कहा करते थे। सर्व-सेवा-सघ पूर्ववत् समिति जैसा ही बना रहा। विलीनीकरण के बाद श्री कुमारप्पाजी वर्धा के निकट सेल्डो नामक गॉव मे समतुलित कृषि के प्रयोग करने चले गये और श्री जी० रामचन्द्रन् ने वर्धा मे ग्रामोद्योग-विभाग के मन्त्री के रूप मे मगनवाडी का काम सभाला। उन दिनो एक बार मैंने रामचन्द्रन्‌जी से पूछा कि उनकी राय में विलीनीकरण से क्या फर्क पडा, तो उन्होने मुस्कराकर कहा: "We have changed the letter-head only." (हम लोगो ने केवल पत्र-व्यवहार में सस्था का नाम बदला है!)

सर्वोदय का द्वितीय सम्मेलन उडीसा के अगुल मे होने का निश्चय हुआ। विनोबाजी के नेतृत्व मे गो-सेवा-संघ तथा ग्रामोद्योग-सघ के सर्व-सेवा-सघ मे विलीन होने की चर्चा फैली हुई थी। चरखा-सघ के

मित्रो के सामने भी यह सवाल उपस्थित हुआ। जाजूजी, कृष्णदास भाई तथा अन्य मित्रों के मन मे आया कि चरखा-सघ का भी विलीनीकरण होना चाहिए। वे सोचने लगे कि अगुल-सम्मेलन मे चरखा-सघ के विलीनीकरण की घोषणा हो।

मैं उन दिनो बीमार होकर उरुली काचन में इलाज करा रहा था, इसलिए मित्रो की चर्चा मे शामिल नहीं रह सका था। इसलिए मुझसे चर्चा करने के लिए कृष्णदास भाई, लेलेजी, दादाभाई नाईक तथा खादी विद्यालय के आचार्य ल० रा० पण्डितजी उरुली काचन पहुँचे और उन्होंने विलीनीकरण का प्रस्ताव रखा। मैंने उनसे कहा कि अभी चरखा सघ के विलीनीकरण से कुछ निष्पत्ति नहीं निकलनेवाली है। चरखा सघ विलीन हो जायगा, साइन बोर्ड बदल जायगा, लेकिन हम सब अलग ही अलग सोचते और काम करते रहेंगे। सामूहिक चिन्तन, सामूहिक कार्यक्रम तथा सबको सँभालने योग्य नेतृत्व के विना विलीनीकरण से अलग-अलग जो काम हो रहा है, वह भी नहीं हो सकेगा। विनोबा के सिवा दूसरा कोई सम्मिलित कार्यक्रम का नेतृत्व नहीं ले सकता है। देश मे सामूहिक कार्यक्रम की कोई गुजाइश नहीं दिखाई पडती है। गाधीजी के नव-सस्करण मे बताये हुए कार्यक्रम भी नहीं चल सके। इन तमाम कारणो से मैं चरखा सघ के विलीनीकरण की सम्मति नहीं दे सका। मित्रो ने काफी देर तक चर्चा की, लेकिन मुझे विलीनीकरण के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिल रही थी।

मेरा विरोध

ये लोग चर्चा करके चले गये। चलने से पहले कृष्णदास भाई ने कहा : "आप इस बार के सम्मेलन मे उपस्थित नहीं रह सकेंगे, लेकिन सम्मेलन के अवसर पर जो खादी-सम्मेलन होगा, उसके लिए अपना वक्तव्य लिख दीजिये।" वक्तव्य लेने के लिए वे एक दिन रुक गये और मैंने अगुल सम्मेलन के लिए अपना वक्तव्य भेज दिया। सभी को उसका

पता है। चरखा-सघ ने उस वक्तव्य को 'चरखा-आदोलन की दृष्टि और योजना' के नाम से प्रकाशित भी किया था।

उरुली काचन मे कुछ स्वास्थ्यलाभ कर मैं वर्धा पहुँचा। जब मैं मगनवाडी के मित्रों से मिलने गया, तो मिलते ही भाई रामचन्द्रनूजी ने मुझसे कहा : "You alone will be held responsible for the failure of Sarva Seva Sangh" (सर्व-सेवा-सघ की असफलता के लिए केवल आप ही जिम्मेदार ठहराये जायेंगे।) मैंने उन्हें समझाया कि मेरे मन में कैसे विचार चल रहे हैं। उन्होने कहा कि "कोई बड़ा नेतृत्व नहीं है, तो क्या काम नहीं चलेगा ? आप ही नेतृत्व लीजिये और सब मिलकर सोचें।" सामूहिक कार्यक्रम के बारे मे उन्होने कहा कि "सामूहिक कार्यक्रम रहता नहीं है, बनाया जाता है।" मैंने उनसे कहा कि "उसे बनाया नहीं जाता, उसके लिए सबके मन में स्वाभाविक प्रेरणा होनी चाहिए। और प्रेरणा परिस्थिति तथा नेतृत्व से मिलती है। वह गोष्ठी करके पैदा नहीं की जाती।" इस प्रकार उनसे काफी देर तक चर्चा हुई, लेकिन मैं उनके असन्तोष का निराकरण नहीं कर सका।

श्रद्धेय कुमारप्पाजी को विलीनीकरण के विचार पर आस्था थी, उसके लिए वे व्याकुल थे। विलीनीकरण की प्रक्रिया में चरखा-सघ के शामिल न होने से उनको बडा दुःख हुआ। उन्होंने कई बार अपना दुःख प्रकट किया, लेकिन उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती थी, इसलिए मैं उसे मान नहीं सका। बाद को वे तालीमी सघ मे विलीनीकरण का प्रस्ताव लाये, लेकिन वहाँ किसीको मान्य न होने से तालीमी सघ भी विलीन नहीं हुआ।

इस तरह सर्व-सेवा-सघ तथा जुडी हुई सस्थाओं का काम पूर्ववत् चलता रहा तथा साथ-साथ विलीनीकरण की भी चर्चा चलती रही। ऐसी ही परिस्थिति मे विनोबाजी ने तेलगाना में भूदान-आदोलन का बिगुल बजा दिया।

विनोबाजी की पदयात्रा से देश मे एक नयी जाग्रति हुई तथा एक

विनोबा का भूदान-आन्दोलन

नये आदोलन का जन्म हुआ। पर यह आन्दोलन विनोबा का अपना था और उन लोगो का था, जिन्हे उनसे प्रेरणा मिलती थी। यह अवश्य है कि सस्थाएँ मदद करती थीं। उत्तर प्रदेश की सफलता का बहुत बडा श्रेय वहाँ के गाधी आश्रम को था। लेकिन आदोलन किसी सस्था का नहीं था। किसी सस्था ने उसे चलाने की जिम्मेवारी भी नहीं ली थी, फिर भी वह दिन-दिन व्यापक बनता गया।

सर्व-सेवा-संघ ने जिम्मेदारी ली

ऐसी परिस्थिति में सेवापुरी मे सर्वोदय-सम्मेलन हुआ। लगभग दस हजार व्यक्ति उसमें शामिल हुए। देश के बडे-बडे नेताओं तथा राज्याधिकारियों ने साधारण जन-समुदाय के बीच बैठकर चर्चा की। इन सब कारणों से भूदान-आदोलन ने सारे देश की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर ली। सरकार तथा जनता, दोनों पर इस सम्मेलन का गहरा असर पड़ा। लोग यह महसूस करने लगे कि यह एक बडा आदोलन होने जा रहा है।

सस्थाएँ इस आन्दोलन की ओर तेजी से खिच रही थीं। सर्व-सेवा-सघ भी इस प्रक्रिया से बाहर नहीं रह सका, बल्कि वह तो सबसे ज्यादा इस ओर झुका। गाधीजी के विचारो के अनुसार सगठित सर्वोदय-समाज की सस्था के रूप में इसका सगठन हुआ था। इसलिए आदोलन की जिम्मेदारी सहज ही इसके ऊपर आ गयी और सर्व-सेवा-सघ ने एक प्रस्ताव द्वारा इस जिम्मेदारी को सँभाल लिया।

उन दिनों श्री शकरराव देव सघ के मत्री थे। उन्होने सालभर अथक परिश्रम कर, देशभर दौरा करके हर प्रदेश मे भूदान का काम चलाने के लिए ऐसी समिति बनायी, जिसमे विभिन्न पक्षों के लोग सदस्यता के नाते एक साथ मिलकर चर्चा तथा चिन्तन करते थे। पक्षगत प्रतिद्वन्द्विता के बीच यह एक बहुत बडी बात थी। जनता महसूस करने लगी कि यह आन्दोलन रेगिस्तान में एक नखलिस्तान है।

२५ लाख एकड़ भूदान का निश्चय

सेवापुरी-सम्मेलन के अवसर पर जब अखिल भारतीय सर्व-सेवा-सघ ने आदोलन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली, तो पहले प्रस्ताव से ही उसने एक वहुत वडा सकल्प कर डाला कि अगले दो साल मे २५ लाख एकड जमीन भूदान मे लेनी है। इस प्रस्ताव ने सारे देश की दिलचस्पी वढा दी। यह जानकर कि सर्व-सेवा-सघ ने २५ लाख एकड जमीन प्राप्त करने का सकल्प किया है, लोग आश्चर्यचकित हो गये, क्योकि उन दिनो २५ लाख एकड जमीन प्राप्त करने की वात करनेवाला गगनविहारी ही माना जाता था। इस आकर्षण के कारण सर्व सेवा-सघ को हर प्रान्त में हर पक्ष का सहयोग मिला।

केन्द्रित उद्योगों का वहिष्कार

सेवापुरी-सम्मेलन ने सर्वोदय-विचार-क्रांति मे एक अन्य निश्चित कदम उठाया। अपने प्रस्ताव में उसने कहा कि चूँकि सच्चा लोकतत्र विकेन्द्रित अर्थनीति तथा राजनीति से ही सम्भव है, इसलिए सघ ने अपने सदस्यों और जनता का आह्वान किया कि वे कम-से-कम अन्न-वस्त्र की सामग्री के लिए केन्द्रित उद्योगों का वहिष्कार करे। पिछले तीन सालों से जिस वात के लिए मैं निरन्तर प्रचार करता रहा, उसे सर्व-सेवा-सघ के प्रस्ताव मे स्वीकृत कर लिया, यह देखकर मुझे कितना आनन्द हुआ, इसका अन्दाज तुम्हे आसानी से हो सकेगा।

सेवापुरी-सम्मेलन के फलस्वरूप देश मे वैचारिक आदोलन का जो नेतृत्व निर्माण हुआ, उससे मुझे अत्यन्त सतोष हुआ। जिन अभावो के कारण मैंने मित्रो के आग्रह के खिलाफ चरखा-सघ को सर्व सेवा सघ में विलीन नहीं होने दिया, उन अभावो का निराकरण हो गया। वापू के विचार के अनुसार जो रचनात्मक कार्यक्रम चलता था, उसका नेतृत्व विनोवा ने आदोलन के जरिये अपने हाथ में ले लिया। देश का आकर्षण उस नेतृत्व पर केन्द्रित हुआ। एक सस्था की हैसियत से सर्व-सेवा-सघ ने भी विनोवा के मार्ग-दर्शन में अपने कन्धो पर नेतृत्व उठा लिया। अतः

सहज ही मेरे मन मे आया कि अब समय आ गया है, जब चरखा-सघ सर्व सेवा-सघ मे विलीन होना चाहिए। एक नेता तथा सस्था के नीचे बापू के सारे रचनात्मक कामों का सचालन हो, ताकि इसमे से कुछ वास्तविक शक्ति का निर्माण हो सके।

कमर का तीव्र दर्द लेकर मैं खादीग्राम वापस आकर खाट पर लेट गया। मित्रों ने मान लिया कि अब मैंने बाकी जिन्दगीभर के लिए खाट पकड ली, क्योंकि देश के तमाम डॉक्टर मित्रों ने सभी आधुनिक औजारो से परीक्षा कर और सारे ज्ञान-विज्ञान का इस्तेमाल कर यह फैसला दे दिया था कि रीढ की हड्डी बढने के कारण यह रोग इलाज के बाहर हो गया है। यह कभी ठीक होगा नहीं। दो, सवा दो साल खाट पर पडे रहकर किस तरह मैं स्वस्थ हुआ, यह बात सबको मालूम है। अतः इसका वर्णन करना व्यर्थ है।

खादीग्राम मे पडे-पडे चरखा-सघ के विलीनीकरण के प्रश्न पर मै सोचता रहा। सघ के जो मित्र मुझसे मिलने आते थे, उनसे चर्चा भी करता रहा।

चरखा-संघ का प्रश्न

अन्त मे एक बार जब भाई राधाकृष्ण बजाज मुझसे मिलने आये, तो मैंने उन्हे अपना निर्णय सुना दिया और कहा कि चरखा-सघ के सब मित्र तैयार हो, तो अगले सम्मेलन के अवसर पर ही चरखा सघ विलीन हो जाय, ऐसी मेरी इच्छा है। भाई राधाकृष्ण बजाज ने कहा कि "आप ही विरोध में थे और आपकी ही ओर से प्रस्ताव हुआ, तो चरखा सघ के लोग सहमत हो जायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।" फिर क्या था, राधाकृष्ण बजाजजी ने विनोबा से लेकर देशभर के सभी मित्रो के कानों मे मेरे ये विचार डाल दिये।

मार्च '५३ मे चाडिल मे सम्मेलन हुआ। वहाँ पर मैंने चरखा-सघ के मित्रों के सामने अपना प्रस्ताव रखा। दो दिन तक खूब चर्चा चली। आखिर उसमे सबकी सहमति रही। चर्चा के दौरान मे अब तक के विलीनीकरण से सघ का जो स्वरूप चल रहा था, उस पर मैंने अपने विचार प्रकट

किये। मैने कहा कि चरखा-सघ भी यदि अपनी ओर से सर्व-सेवा-सघ मे विलीन हो जाय और गो-सेवा-सघ तथा ग्रामोद्योग-सघ की तरह अलग से अपने ढग से खादी का काम करता रहे, अपना कोष अलग रखे तथा अपने कार्यकर्ता अलग रखे, तो इस विलीनीकरण से कुछ निष्पत्ति नहीं निकलने-वाली है। बापू ने सन् '४५ में समग्रता की जो बात की थी, उस समग्रता का चित्र सामने आना चाहिए। जिस तरह नदियाँ समुद्र मे विलीन हो जाती है तथा विलीन होने के बाद उनका अलग से कोई चिह्न नहीं रह जाता है, उसी तरह विलीन हो जाने के बाद सस्थाओ का अपना पृथक् अस्तित्व नही रहना चाहिए। सर्व-सेवा-सघ एक ही सस्था है, इसका हर प्रकार से दर्शन होना चाहिए। इसके लिए अलग-अलग विभाग तोडकर एक मे मिला देना चाहिए। चरखा-सघ का पैसा भी साधारण कोष मे चला जाय, यह बात भी मैंने कही।

चांडिल-सम्मेलन

कोष के बारे मे कुछ मित्रो का कहना था कि विधान के अनुसार आप यह नही कर सकते। जनता ने खादी के लिए अलग से ही दिया था और उसके लिए ट्रस्ट (trust) बना, तो आज उस पैसे को दूसरे काम मे इस्तेमाल करते है, तो ट्रस्ट के प्रति हमारी वफादारी नही रहती है। मुझे इस दलील मे कुछ तथ्य नहीं मालूम पडता था। बापू ने जिस समय कोष इकट्ठा किया था, उस समय चरखा के सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम नहीं था। वस्तुतः बापू के सर्वाङ्गीण विचार का प्रथम चरण चरखा था। आज उसीका आधुनिक चरण भू-दान है। उसमे चरखा, नयी तालीम, ग्रामोद्योग आदि सभी कार्यक्रम समा जाते है। वस्तुतः बापू ने खुद ही चरखा-संघ द्वारा समग्र सेवा का प्रस्ताव स्वीकृत कराया था।

इन विचारो से प्रेरित होकर मैंने कोष को सर्व-सेवा-सघ के साधारण कोष में विलीन करने का आग्रह रखा। सौभाग्य से मेरी बात सबने स्वीकार कर ली और विलीनीकरण का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत

हुआ। प्रसन्नता की बात है कि यह सर्वसम्मति सम्पूर्ण थी क्योंकि उस बैठक में चरखा-संघ के सारे सदस्य उपस्थित थे।

जाजूजी की इच्छा थी कि विलीनीकरण के सम्बन्ध में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें लिखित बयान के रूप में प्रस्ताव के साथ पेश करूँ।

विलीनीकरण स्वीकृत

तदनुसार मैंने भाई कृष्णदास की मदद से एक बयान तैयार करके प्रस्ताव में संलग्न कर दिया। वह बयान सर्व-सेवा संघ में भेज दिया गया।

मित्रों ने मेरे बयान के उस हिस्से पर कुछ आपत्ति की, जिसमें मैंने विलीन संस्थाओं के कोष को मिला देने की बात कही थी और ग्रामोद्योग, गो-सेवा, खादी आदि को न रखने का सुझाव रखा था। उन्होंने प्रश्न किया कि भिन्न-भिन्न रुचि और प्रकृति का क्या होगा? मैंने कहा कि सर्व-सेवा-संघ की सारी प्रवृत्ति समग्र सेवा की होगी। विभिन्न केन्द्रों में संचालक की रुचि और झुकाव के अनुसार विभिन्न मदों पर जोर अवश्य रहेगा, लेकिन केन्द्र की प्रवृत्ति समग्र सेवा की ही रहेगी। उदाहरणार्थ, जहाँ भाई राधाकृष्णजी बैठेंगे, निःसन्देह वहाँ गो-सेवा पर जोर रहेगा और जहाँ मैं बैठूँगा, वहाँ नयी तालीम पर।

दो दिन चर्चा होने के बाद सर्व-सेवा-संघ ने मेरे वक्तव्य के साथ विलीनीकरण के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया। ○○○

मुँगेर में भूदान-प्रचार : १९ :

श्रमभारती, खादीग्राम
११-७-'५८

चौमासा बिताने के लिए विनोबा बनारस ठहरे हुए थे। आदोलन के भविष्य के बारे मे सारे कार्यकर्ता वहीं जुटते थे तथा अनेक प्रकार की चर्चा होती थी। मैं कमर के दर्द के कारण वहाँ नहीं जा सकता था। इसलिए करण भाई खादीग्राम आकर चर्चाओं का सार मुझे सुनाते थे। उसी चर्चा के दौरान में उन्होने मुझसे कहा कि आदोलन के व्यापक प्रसार के लिए खर्च की आवश्यकता है और खुशी की बात है कि गाधी-निधि उस जिम्मेदारी को उठाने के लिए तैयार है।

यह बात मुझे कुछ अटपटी-सी लगी। गाधी-निधि के खर्च से आदोलन चलेगा, तो यह चरखा-सघ जैसी सर्व-सेवा-सघ की एक प्रवृत्ति हो जायगी। जन-आन्दोलन, जन-क्रान्ति आदि जो गांधी-निधि की भाषा प्रयोग मे आती है, वह व्यर्थ सिद्ध होगी।

मदद

करण भाई से मैने कहा कि ऐसा करना बिलकुल गलत होगा। क्राति इस तरह नही हुआ करती। मैने आजादी की लडाई के दिनो की मिसाल पेश की और कहा कि "उत्तर प्रदेश मे आदोलन का विशिष्ट प्रसार हुआ और वह तब हुआ, जब सभी सार्वजनिक कार्यकर्ता किसी न किसी दल की ओर से आम चुनाव मे मशगूल थे। इसे किस केन्द्रीय कोष ने चलाया ?"

करण भाई मुझसे सहमत नहीं हो सके। उन्होने कहा : "आपको मालूम नहीं है कि उत्तर प्रदेश मे यात्रा के लिए धन बटोरने मे कितनी तकलीफें उठानी पडी हैं, सो मैं ही जानता हूँ।" मैंने कहा कि "यह ठीक है कि उसमें तरद्दुद उठाना पडा, लेकिन आदोलन केवल चला ही नही,

वह भी गया कि आज गाधी-निधि, सरकार तथा दूसरी सारी सस्थाएँ इस ओर झुक रही हैं। कोई भी क्राति बिना तरद्दुद के तो चल ही नहीं सकती है। यही तरद्दुद आदोलनो को जन-हृदय में प्रवेश कराता है। जब आदोलन साधारण जनता के लिए अज्ञात था, तब तो तुम लोगों ने उसे जनता के आधार पर चलाया और अब जब उसने जन-मानस को इस प्रकार से आकर्षित कर लिया है, तब जनता के भरोसे उसे चलाने से हिम्मत हारते हो, यह कैसी बात है।"

करण भाई का मेरा साथ तब से है, जब १९३५ मे म रणीवॉ गया था। तब से आज तक वे मेरे अनुज जैसे ही रहे हैं, लेकिन उन्होने बिना समझे कभी कोई चीज मानी नहीं। आदेश पर वे

निर्णय का विरोध

समर्पण बुद्धि से काम कर लेते हैं, लेकिन मतभेदो को प्रकट किये बिना मानते नहीं। मौका आने पर वे मुझसे गर्मागर्म बहस करते हैं। इस बार भी वे गर्म हुए और बोले कि "आप सिर्फ सिद्धान्त की ही बात करते हैं और यह नहीं देखते कि सम्भव क्या है?" मैने कहा : "कुछ भी कहो, यह निर्णय आन्दोलन के लिए हानिकारक होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।"

उत्तर प्रदेश से निकलकर विनोबाजी सीधे बिहार आनेवाले थे। बिहार के मित्रों ने चार लाख एकड जमीन एकत्र करने का सकल्प किया। विनोबाजी उतने मे ही बिहार आने के लिए राजी हो गये। ज्यों-ज्यो बिहार आने का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों बिहार के मित्रो की बेचैनी बढती गयी। नया काम था। क्या काग्रेस जन, क्या रचनात्मक कार्यकर्ता, सभी लोग स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जन-सम्पर्क से दूर हो गये थे। इसलिए उनके सामने प्रश्न था कि काम कैसे चलेगा, खर्च कहाँ से आयेगा आदि। ऐसे अवसर पर उन्हें यह ठीक लगा कि गाधी निधि खर्च का बोझ उठाये।

लक्ष्मीबाबू प्रायः मुझसे मिलते रहते थे। उन्होने भी गाधी-निधि की चर्चा की। मैंने उनसे भी वही कहा, जो करण भाई से कहा था।

उन्होंने कहा कि "आपका सिद्धान्त बिलकुल सही है, लेकिन जनता में घुसने के लिए शुरू मे कुछ सहारा ऊपर से लेना होगा।" मैंने कहा : "फिर आप फँस जायेंगे। कार्यकर्ताओं की हिम्मत टूटेगी और नये कार्यकर्ता विशेष त्यागवृत्ति लेकर आन्दोलन मे प्रवेश नहीं करेंगे।" करण भाई ने जो जवाब दिया था, वही दूसरी भाषा तथा दूसरे शब्दों में लक्ष्मीबाबू ने दिया। अन्त मे यह मामला विनोबाजी के पास गया और उन्होंने गाधी-निधि की मदद के प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे दी।

विनोबा की स्वीकृति

विनोबाजी की स्वीकृति के बावजूद यह बात मेरी समझ मे नही आयी। लेकिन आन्दोलन विनोबाजी ने चलाया है, वे द्रष्टा पुरुष हैं, हो सकता है, इसमे उन्होंने कुछ देखा हो—यह सब सोचकर मैंने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा। लेकिन मेरे मन मे समाधान नहीं हुआ।

बाद मे एक बार सघन क्षेत्र जाने को मिला था, वहाँ के खर्च का ढग तथा काम के तौर-तरीके देखकर गाधी-निधि से मदद लेने के बारे मे मेरा विचार और दृढ हुआ। लेकिन इतने बडे तपस्वी के नेतृत्व में आन्दोलन चल रहा था, इसलिए उसकी मुझे विशेष चिन्ता नहीं हुई।

इन बातो के बावजूद बिहार में आन्दोलन जोर पर था। लोगो मे बड़ा उत्साह था। जयप्रकाश बाबू इसमें पूरा समय दे रहे थे, इसलिए नये नौजवान इसमे आ रहे थे। दूसरे साल चाण्डिल-सम्मेलन की हवा देखकर ऐसा लगता था, मानो हम १९३० के ही आन्दोलन में चल रहे हों। इसी तरह जोश के साथ आन्दोलन बढता रहा। आन्दोलन की इस बाढ मे मेरी चिन्ता गाधी निधि की सहायता के पहलू पर से हट गयी। उस समय मैं खाट पर पडा था, इसलिए कर भी क्या सकता था? चरखा-सघ को सर्व-सेवा-सघ मे विलीन करने के बाद अध्यक्ष पद से मुक्ति पाने से मुझ पर कोई विशिष्ट जिम्मेदारी भी नहीं रही थी। मै खादीग्राम की योजना में मशगूल हो गया।

आन्दोलन मे तेजी

मुँगेर जिले के कांग्रेस-जन खादीग्राम मे मेरे बैठने के खिलाफ थे, इसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। लेकिन यह मुखाल्फत कितनी गहरी थी, यह बात बाद में मालूम पडी। विनोबा ने जब पहली बार विहारभर के कांग्रेस जनों को आमन्त्रित किया था, तो इस जिले से कोई नहीं गया था। बाद में पटना की बैठक में वे गये तो अवश्य, लेकिन भूदान समिति आदि बनाने से उन्होने इनकार कर दिया। उनका कहना था कि कांग्रेस ही एकमात्र ऐसी संस्था है, जो कुछ कर सकेगी। समिति आदि बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन तब से लेकर चाण्डिल सम्मेलन तक कोई काम नहीं हुआ। इस कारण विनोबाजी चिन्तित थे। अकस्मात् उनका पत्र आया कि मुँगेर के लिए मुझे चिन्ता करनी है। आदेश हुआ और मैंने जिम्मेदारी महसूस की। अजीव स्थिति थी। इधर मेरी कमर में दर्द, उधर साथियो का इस जिले में किसीसे कोई परिचय नहीं।

मुँगेर जिले के काम की जिम्मेदारी

चाण्डिल-सम्मेलन मे जयप्रकाश बाबू ने अपील की कि विद्यार्थी एक साल अपनी पढाई छोडकर भूदान में काम करे। साधारण स्कूल-कॉलेजों से तो बहुत कम छात्र आये, लेकिन तालीमी संघ मे जो लोग ग्राम-निर्माण, नयी तालीम का शिक्षण ले रहे थे, उनमे से बारह तेरह भाई-बहन इसके लिए आगे बढे। अण्णासाहब ने उन्हे एक माह की ट्रेनिंग के बाद काम पर लगाने के लिए मेरे पास भेज दिया। उनसे बात करने से पता चला कि मेरे मार्ग दर्शन में इसी जिले मे काम करने की उनकी तैयारी है।

छात्रों का आवाहन

इन बारह-तेरह नौजवानो को मैंने विभिन्न थानो मे भेज दिया। उनसे मैंने कहा कि तुम यहाँ के लोगो से परिचय बढाओ, उन्हें मित्र बनाओ और अपने विचार का प्रचार करो। एक महीने के प्रशिक्षण-काल के

दौरान में मैं उनका रोज दो-तीन घंटेका वर्ग लेता था। चार घंटा श्रम करवाता था। इसलिए एक माह की अवधि मे ही उन्हे पर्याप्त वैचारिक पूँजी मिल गयी थी। उन्होने भी जिले के काम में इस पूँजी का अच्छी तरह इस्तेमाल किया और थोडे दिनो मे अपना अच्छा असर बना लिया। समाजवादी या साम्यवादी विचारवाले लोगों के साथ चर्चा करके वे अपने विचार का प्रतिपादन भी कर लेते थे। इन जवानो के घूमने से खादीग्राम का स्वतत्र परिचय हुआ। साथ-साथ इधर आकर्षण भी बढ़ा। ये विद्यार्थी सर्वोदय के विचार जिस ढग से पेश करते थे, उसका परिचय जनता को नही था। बापू के विचार के पीछे एक सुव्यवस्थित समाज-क्रान्ति की विचारधारा है, इसका बोध अच्छे नेताओ को भी नहीं था। वे गाधीवाद का मतलब इतना ही मानते थे कि मनुष्य झूठ न बोले, नैतिक चरित्र ठीक रखे और जीवन मे आध्यात्मिक विकास हो, भले ही आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नो पर वह रूढ विचारों को ही मानता रहे। अतः यहॉ के जवानो ने जब गाधीजी के विचारों का स्पष्टीकरण करना शुरू किया, तो उन्हें एक नयी रोशनी मिली और साथ-साथ नयी आशा भी बॅधी।

युवकों का प्रशंसनीय कार्य

यह सब होता रहा, लेकिन जिले के काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए मुझे कोई ऐसा सहायक चाहिए था, जिसका जिले के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से परिचय हो। मैंने भाई रामविलास शर्मा को मॉगा और लक्ष्मीबाबू ने उन्हे मुंगेर जिले की जिम्मेदारी देकर भेज दिया। भाई रामविलास शर्मा ने जिलेभर का दौरा करके सभी पक्ष के लोगों से सम्पर्क किया। यद्यपि काग्रेस के उच्चाधिकारी खिलाफ थे, फिर भी थाने के बहुत से कार्यकर्ताओ ने मदद करने का वचन दिया। समाजवादी दल के भी अधिकाश कार्यकर्ताओ ने मदद देने की बात कही। शर्माजी ने सब जगह घूमकर ऐसा महसूस किया कि जिलेभर के कार्यकर्ताओं का एक

रामविलास शर्मा का दौरा

शिविर मेरे सामने खादीग्राम में हो, जिससे भूदान की वैचारिक भूमिका लोगों की समझ में आ जाय। तदनुसार मई-जून में लगभग पचास कार्यकर्ताओं का शिविर खादीग्राम में बुलाया। शिविर में कांग्रेस-जन थे, प्रजा समाजवादी दल के कार्यकर्ता थे और कुछ ऐसे भी थे, जो किसी दल में नहीं थे, लेकिन सर्वोदय-विचार से प्रभावित थे। शिविर में जितने लोग आये थे, उनकी माँग थी कि मैं एक बार जिले का दौरा करूँ। कम-से-कम प्रत्येक थाने में एक सार्वजनिक सभा करके मैं भूदान-क्रांति का विचार समझाऊँ। उनका कहना था कि भूदान एक सामाजिक क्रांति है, इसकी धारणा जब उन्हें ही नहीं है, तो जनता को कहाँ से होगी। वे मानते थे कि एक संत आ रहा है, वह जमीन माँगता है, तो प्राचीन परम्परा के अनुसार उन्हें कुछ दान देना ही है। इतना ही भूदान का अर्थ है। उनमें से केवल दो-चार ही ऐसे थे, जिन्हें क्रान्ति का कुछ बोध था।

मैं उस समय कमर के दर्द से पड़ा हुआ था। यात्रा कर नहीं सकता था, लेकिन उन्होंने कहा कि वे मुझे लेटाकर ले जाने की व्यवस्था करेंगे। भाई रामविलास ने भी जोर लगाया और मैं राजी

लेटे-लेटे दौरा

हो गया। तदनुसार जिले में एक महीने का दौरा किया। भाई रामविलास खुद पहले जाकर कार्यक्रम बनवाते थे और मैं पीछे आता था। मित्रों ने मुझे कभी मोटर पर लिटाकर, कभी बैलगाड़ी पर चारपाई बाँधकर और कभी पालकी से— इस प्रकार एक माह की यात्रा पूरी कर ली। लेटकर चलना, लेटकर लोगों से चर्चा करना और सार्वजनिक सभाओं में लेटकर ही भाषण करना—यह भी एक नया अनुभव था। तुम लोग होतीं, तो बड़ा मजा आता।

मेरी यात्रा का कार्यक्रम जिलेभर में फैला। समूचे बिहार का दौरा मैं पहले कर चुका था। प्रदेश के नौजवान तथा वहाँ की जनता मुझे पहचानती थी। मैं अत्यन्त क्रान्तिकारी विचारक के नाम से परिचित हो गया था। इसलिए कम प्रचार होने पर भी यात्रा के बारे में लोग खूब

जान गये थे। जिले के कांग्रेस अधिकारियो को यह नागवार मालूम हुआ। उन्होने थाने के सभी कार्यकर्ताओ को मना कर दिया कि वे इस यात्रा मे सहयोग न करें। इस मनाही की वात भी जिलेभर में फैल गयी। उससे लोगो का आकर्षण और अधिक वढा। हर सभा मे तीन हजार से सात हजार तक की भीड होती थी। वहुत से थानों के कांग्रेस-जन मनाही के बावजूद मेरा स्वागत करते थे और सार्वजनिक सभा की व्यवस्था करते थे। इस कारण वे अपने अधिकारियो के कोपभाजन वनते थे, लेकिन उनका दिल आन्दोलन के अनुकूल था, इसलिए वे सहयोग करते थे।

जिले में जोरदार प्रचार

मेरी यात्रा से जिले मे एक हवा वनी, खादीग्राम की शोहरत हुई और जनता मे वैचारिक प्रचार हुआ। भूदान-क्रान्ति के वारे में मुंगेर जिले की जनता की काफी स्पष्ट धारणा वनी। शायद उस समय इस जिले में जितनी व्यापक वैचारिक स्पष्टता थी, उतनी वहुत कम स्थानो में थी।

इस प्रकार जिले मे प्रचार करने के सिलसिले मे सारे जिले से खादीग्राम का सम्पर्क हो गया। तवसे विभिन्न थानो से सार्वजनिक कार्यकर्ता वीच-वीच में खादीग्राम आने लगे और हम लोगो से चर्चा करने लगे। हम भी उनकी चर्चा मे काफी दिलचस्पी लेते थे और उनसे सम्पर्क वढाते थे। इस तरह चांडिल-सम्मेलन से सन् '५४ के गया-सम्मेलन तक का समय खादीग्राम ने मुंगेर जिले मे भू-क्रान्ति के विचार फैलाने में ही विताया।

● ● ●

जीवनदानियों का शिविर

: २० :

श्रमभारती, खादीग्राम
२६-८-'५८

गया-सम्मेलन के अवसर तक देश में भूदान-आन्दोलन के प्रति काफी विश्वास फैल गया था। दो साल पहले सेवापुरी मे सर्व-सेवा-सघ ने २५ लाख एकड भूमि एकत्र करने का जो सकल्प किया था, वह पूरा हो चुका था। इस सकल्प ने देश के सभी पक्ष के लोगो की दृष्टि आकृष्ट की। सम्मेलन मे राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन, पडित जवाहरलालजी तथा अन्य बडे कांग्रेस-नेता उपस्थित हुए थे। आचार्य कृपालानी तथा अन्य दलों के चोटी के नेता भी पधारे थे। यह घटना अपने-आपमें ही बहुत बडा महत्त्व रखती थी। इसी सम्मेलन के अवसर पर जयप्रकाश बाबू ने राजनीति से तटस्थ रहकर क्रान्ति के लिए अपने जीवन दान की घोषणा की। इस घोषणा ने सारे सम्मेलन मे बिजली-सी दौडा दी, खास करके तब, जब जयप्रकाशजी की अपील के फलस्वरूप पहला दान स्वय विनोबा का आया। मैंने भी अत्यन्त घबराहट के साथ अपना जीवन अर्पित किया। इस जीवन-दान के आह्वान पर सम्मेलन के अवसर पर ही सैकडो नौजवानो ने अपने जीवन की आहुति दी। यह घटना इस सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।

उन्हीं दिनों महाराष्ट्र में सयुक्त महाराष्ट्र का आन्दोलन चल रहा था। सीमा कमीशन के सामने केस रखने की तैयारी हो रही थी। श्री शकररावजी देव उस समय आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। इसलिए उन्होने सर्व-सेवा-सघ के मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया। शकररावजी के मन्त्री पद स्वीकार करने के पहले विनोबाजी चाहते थे कि मैं सर्व-सेवा-सघ के मन्त्री का काम करूँ। उन्होने इसके लिए मुझे समझाया भी, लेकिन उस समय मैं चरखा-सघ के अध्यक्ष की जिम्मेदारी लिये हुआ था।

तुम जानती हो कि मैं एक साथ दो बडी जिम्मेदारियॉ नही चला सकता।
बिना एकाग्र चिन्तन के मैंकोई काम नहीं कर
सर्व-सेवा-संघ की सकता। मैंने विनोबाजी से कहा था कि चरखा-सघ
अध्यक्षता स्वीकार की जिम्मेदारी से मुक्त होकर मै यह भार ले सकता
हूँ। लेकिन चरखा-सघ के मित्रो ने मुझे मुक्त नही
किया था। जब वहॉ से मुक्ति मिली, तो इसके लिए लोग मुझ पर फिर जोर डालने लगे। लेकिन इस बार मेरी दूसरी मजबूरी थी। बीमार हाल्त मे मैं इतनी बडी जिम्मेदारी नहीं ले सकता था, लेकिन साथी जोर दे रहे थे। आखिर मे जाजूजी ने ताईद की। उन्होंने कहा कि इनका कहना सही है, किसी समर्थ व्यक्ति को ही यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए। हॉ, अगर आप इन्हे कुछ काम देना ही चाहते है, तो अध्यक्ष का काम दीजिये, जिससे रोजमर्रा की व्यवस्था की चिन्ता न करनी पडे। इस पर सब लोग राजी हुए। फलतः अण्णासाहब को मन्त्री पद का भार सौंपा गया और मुझे अध्यक्ष का। मैने भी सोचा कि अध्यक्ष का विशेष काम नहीं है, खादीग्राम मे पडे रहने से भी चल जायगा, इसलिए उसे स्वीकार कर लिया।

गया-सम्मेलन के बाद अकेले बिहार में ही ५००-६०० नौजवानो ने जीवन-दान-पत्र भरकर भेजे। जयप्रकाशजी ने जीवनदानियो से सम्पर्क साधने के लिए मुझ पर ही बोझ डाला था। जहॉ तक होता था, मैं पत्रो द्वारा सम्पर्क स्थापित करता था। जगह-जगह कुछ मित्रो को भी मैंने जिम्मेदारी दे दी थी कि वे अपने प्रदेश मे सम्पर्क साधे।

बिहार मे जीवनदानियों की सख्या सबसे अधिक थी। विनोबाजी उन दिनों बिहार मे ही पदयात्रा कर रहे थे, इसलिए यह सोचा गया कि मुजफ्फरपुर मे बिहार के जीवनदानियो का शिविर विनोबाजी के समक्ष किया जाय।

मुजफ्फरपुर पहुँचा। करीब ५०० जीवनदानियों का जमाव था। देश के विभिन्न स्थानों से सर्वोदय-नेता लोग भी एकत्रित हुए थे,

क्योकि इसी अवसर पर सर्व-सेवा-सघ की बैठक भी बुलायी गयी थी।

जीवनदानियों का शिविर

वातावरण में काफी चहल-पहल थी, उत्साह भी खूब था। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने वहाँ पहुँचते ही शिविराथियो से गप-शप शुरू कर दी। मुझे ऐसा लगा कि अधिकाश जीवनदानियो ने बिना समझे ही जीवन-दान-पत्र भरा है। शाहाबाद जिले से तो मानो पलटन ही भरती हुई थी। सबसे अधिक सख्या वहीं की थी। वहाँ की भूदान समिति ने जीवनदानी का बिल्ला लगाया था। शायद यह स्वाभाविक ही था, क्योकि शाहाबाद जिला विशेष रूप से पलटन भरती का ही जिला है। इसलिए चाहे जिस चीज की भरती की सूचना निकले, भरतीवालो की कमी नहीं रहती। मैंने देखा कि केवल बिना समझे हुए ही भरती नहीं हुए थे, बल्कि काफी लोग उलटा मतलब समझकर भरती हुए थे। स्वराज्य होने पर भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपने को जन-कल्याण सरकार घोषित किया। स्वभावत बापू की प्रेरणा से बनी रचनात्मक सस्थाए सरकार के लिए कल्याण-कार्य का जरिया बन गयी थीं। फलस्वरूप सरकारी मदद से इन सस्थाओ का कलेवर काफी बढ गया। खादी-कार्य के लिए जिस प्रात मे ४००-५०० कार्यकर्ता थे, उस प्रात में आज २५००-३००० कार्यकर्ता हो गये थे। इसलिए रचनात्मक सस्थाओ मे खूब भरती होती थी। शिक्षित मध्यम-वर्ग की बेकारी भी बहुत थी। इसलिए बहुत लोगो ने ऐसा माना कि जीवनदान कर देने से इस प्रकार का कोई काम अवश्य ही मिल जायगा। गाधी-निधि की सहायता से भूदान समितियाँ भी जेब खर्च के नाम से १०), १५), २५), ३०) मासिक तो दे ही देती थीं। बिहार के देहाती क्षेत्रो के मध्यमवर्गीय नवयुवको की बेकारी की स्थिति ऐसी थी कि ये दस, बीस रुपये भी उनके लिए कम आकर्षण नहीं था। मैंने देखा कि पाँच सौ के इस झुड मे ऐसे लोग भी थे, जो वैचारिक भावना से प्रेरित होकर जीवन मे कुछ त्याग करने की तैयारी से आये थे। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो स्वतत्रता के आदोलन के समय से

देहातों मे सार्वजनिक काम करते थे, लेकिन वर्तमान पक्षगत राजनीति मे चुनाव के अलावा कोई सक्रिय कार्यक्रम न रहने के कारण सार्वजनिक सेवा का कोई अवसर न रहने पर एक प्रकार से निष्क्रिय हो गये थे। उन्हे जीवनदान के आह्वान से प्रेरणा मिली थी। ऐसे कुछ लोग भी इसमें शामिल थे। कुल मिलाकर मुझ पर यह असर पडा कि काफी गहराई से अध्ययन करके अपने क्राति-कार्य के लिए योग्य सेवक चुनने की आवश्यकता है। अपने पर इसकी जिम्मेदारी होने के कारण मुझे इसकी चिंता भी हुई।

दूसरे दिन सुबह विनोबाजी मुजफ्फरपुर पहुँचे। मैने उनसे मिल्कर कहा कि इतने कार्यकर्ताओ मे से योग्य सेवक चुनने की जरूरत है।

परीक्षा का प्रश्न

लेकिन विनोबाजी ने तुरन्त कहा: "तो क्या हम परीक्षा लेने बैठेगे? परीक्षा लेनेवाले हम होते कौन है? वह तो भगवान् ही लेगा।" वहाँपर अपने होन-हार जवान साथी भाई नारायण देसाई भी मौजूद थे। मेरी बातों से वे नाराज होकर कहने लगे: "यह आप लोगो का अहकार ही है। जो लोग श्रद्धा से आये है, उनसे काम लीजिये, चुनने की जरूरत क्या?" यद्यपि मेरी समझ में यह बात नहीं आयी, फिर भी निश्चिन्तता आयी; क्योकि अब तक चुनाव की जिम्मेदारी के बोझ से मैं दबा जा रहा था, अब उससे मुक्त हो गया। उसी समय से विनोबाजी के इस विचार पर चिंतन चलता रहा। लेकिन काफी सोचने के बावजूद यह बात मेरी समझ में नहीं आयी।

थोडी देर के बाद सम्मेलन का उद्घाटन विनोबाजी ने किया।

सभा परलोक में होगी!

उद्घाटन भाषण मे उन्होंने मुझसे हुई चर्चा का जिक्र किया। उन्होंने कहा कि "धीरेन भाई ने ऐसा सवाल उठाया था, लेकिन हम किसी की परीक्षा नहीं लेंगे।"

जीवनदान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा: "कोई जीवनदानी है कि नहीं, यह तो मरने के बाद ही पता

चलेगा। अतः जीवनदान के संदर्भ में किसीके बारे में कहना होगा, तो मृत्यु के बाद कौन जीवनदानी थे, इतना ही कहना होगा।" साथ ही साथ उन्होंने एक मजेदार बात और कही : "जीवनदानियों की सभा इस लोक में नहीं हो सकती। वह सभा परलोक में होगी।" यह सब सुन-सुनकर मुझे बड़ा मजा आता था और मैं मुस्कराता था। सोचता था कि विनोबाजी ने मसला आसानी से हल कर दिया, क्योंकि जो सच्चे जीवनदानी नहीं होंगे, वे परलोक में पहुँच ही नहीं सकेंगे। वे तो प्रेत-लोक में ही घूमते रहेंगे। फिर उस सभा में कौन सच्चा जीवनदानी है, कौन नहीं, इसका चुनाव करने की झंझट नहीं रही।

उद्घाटन-भाषण के बाद विनोबाजी अपने कमरे में चले गये। सम्मेलन-संचालन का भार मुझ पर ही आ पड़ा। दूसरा भाषण मुझे ही करना पड़ा। मैंने कहा : "आप लोगों ने मन्त्र सुन लिया, अब तन्त्र की बात मुझसे सुनिये। मन्त्रवाला मन्त्र देकर गया, तो तन्त्रवाला तन्त्र की ही बात न करेगा?

मन्त्र और तन्त्र

बिना मन्त्र के तन्त्र चल ही नहीं सकता। अगर चला भी, तो वह शुष्क यन्त्र बन जायगा।" इतनी भूमिका के बाद मैंने कहा कि "यद्यपि यह सही है कि हममें से किसीको जीवनदानियों की परीक्षा लेने का अधिकार नहीं है, क्योंकि हम सब कमजोर इंसान हैं, फिर भी यदि कोई जीवनदानी मेरे कन्धे पर बैठने के लिए कहेगा, तो मैं उसे अवश्य तौलूँगा। उसका गुरुत्व देखने के लिए नहीं, बल्कि अपने कन्धे की समर्थता देखने के लिए।" फिर कुछ विस्तार से मैंने अपना यह आशय समझाया भी।

सभा के बाद शिविरार्थियों के बीच मेरे भाषण की जोरदार चर्चा छिड़ी। कुछ लोग काफी असन्तुष्ट होकर कहते थे कि विनोबाजी एक बात कहते हैं, धीरेनभाई दूसरी बात। कुछ लोग तो यहाँ तक कह रहे थे कि काम न देने का यह एक बहाना मात्र है।

मुजफ्फरपुर का वातावरण तथा चर्चा का स्तर देखकर मुझे फिर एक बार १९५२ में करण भाई तथा लक्ष्मीबाबू के साथ हुई चर्चा याद

आयी। मुझे ऐसा लगा कि अगर गाधी-निधि का आधार न लेकर हम छोटे रूप में ही रहते और जनता के प्रत्यक्ष आधार पर अपना काम चलाते, तो जीवनदान का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

मैं अपनी ओर भी देख रहा था। सर्व-सेवा-सघ की ओर मेरी दृष्टि जाती थी। सोचता था कि क्या हम सर्व-सेवा-सघवाले विनोबा की क्रान्ति के सफल वाहक हो सकते हैं? विचार क्रान्तिकारी, सस्कार पुराने! विचार और सस्कार के सघर्ष में अधिकाश बार सस्कार ही विजयी होता है, यह तुम जानती ही हो। सोचता था कि हममे से कितने लोग ऐसे हैं, जिनकी विचार-निष्ठा पुराने सस्कार को पराजित कर सकती है। इस प्रकार के स्फुट विचार मेरे मन को आलोडित करते रहे।

शाम को प्रार्थना के बाद हमेशा की तरह विनोबा ही बोलनेवाले थे। विनोबाजी ने उस दिन कहा कि "आज कोई दूसरा बोले, मैं आखिर मे कुछ कह दूँगा।" मित्रों ने मुझे ही पकडा। मैंने अपने भा ण मे वे ही बाते कहीं, जिनसे मैं दो दिन तक आलोडित रहा था। मैंने कहा कि "इस क्रान्ति के सदर्भ में हमारी वही जमात है, जो स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय 'माडरेटों' के नाम से थी। आज हमारा विचार वतमान अर्थनीति, राजनीति तथा समाजनीति को समाप्त करने का है, लेकिन हमारा सस्कार तथा आचार वर्तमान नीतियो के अनुसार सस्थाओ की सेवा करने का है। 'माडरेट' लोग इतिहास को एक आवश्यक कडी थे, लेकिन वे आजादी नहीं हासिल कर सकते थे। उसी तरह हम लोग क्रान्ति के इतिहास की एक आवश्यक कडी अवश्य हैं, लेकिन हम क्रान्ति हासिल नहीं कर सकगे। नौजवानो को चाहिए कि वे आगे बढे और क्रान्ति का झडा हमारे हाथ से लेकर तीव्र गति से आगे बढे।" मैं समझता था कि विनोबाजी उस दिन ऐसा प्रवचन करेंगे, जिससे लोगो को गहरी प्रेरणा मिलेगी। लेकिन उस दिन उन्होने कुछ नहीं कहा। उपस्थित जनता को प्रणाम करके वे चल दिये।

नये विचार, पुराने संस्कार

उस बार सर्व-सेवा-सघ की बैठक में आदोलन के भावी स्वरूप के बारे मे गहराई से चर्चा हुई तथा कार्यकर्ता थोडी सी प्रेरणा लेकर गये। आदोलन की प्रगति के बारे मे अपनी कहानी फिलहाल यहीं समाप्त करता हूँ। अगले पत्र मे खादीग्राम पहुँचने के बाद क्या-क्या अनुभव हुआ, उसका विवरण लिखने की कोशिश करूँगा। ●○○

श्रम-साधना का श्रीगणेश : २१ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२७-८-'५८

खादीग्राम आने की प्रेरणा तथा जमाने की प्रक्रिया पर पिछले पत्रो मे कुछ लिख चुका हूँ। किस प्रतिकूल परिस्थिति मे मित्रो की मनाही के बावजूद मै यहाँ आकर बैठा, यह तुम्हे बता चुका हूँ। लेकिन जहाँ प्रतिकूलता थी, वहाँ एक बहुत बड़ी अनुकूलता भी थी और वह यह कि प्रदेश के सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओ का सहयोग तथा उनकी शुभ कामना मेरे साथ थी। लक्ष्मीबाबू, ध्वजाबाबू, रामदेव बाबू आदि मित्रो ने इस केन्द्र को जमाना अपना काम समझ लिया था। वस्तुतः लक्ष्मीबाबू के कारण ही मै इस स्थान पर बैठा था।

इस तरह अनुकूलता-प्रतिकूलता के बीच हम दो-तीन साथी इस घोर जगली और पथरीले प्रदेश मे आकर बस गये। शुरू मे जब आये, तो

पत्थर फोड़ने का काम

एक-डेढ माह तक कमर की बीमारी नही हुई थी, उस समय मै दिनभर इस जमीन की परिक्रमा किया करता था। चारो ओर जगल तथा पहाडो के प्राकृतिक सौदर्य से मै प्रभावित रहता था। दो-तीन एकड जमीन (जहाँ पर पहले बिहार चरखा-सघ ने खेती की थी) के अलावा सारा स्थान ऊँचा-नीचा और ककड-पत्थर से भरा हुआ था। सदियो से पहाडो का पानी बहते रहने के कारण जमीन पर मिट्टी नही दिखाई देती थी। कही-कही एकआध जगह मिट्टी का अश था, लेकिन हर साल बरसाती कटाव के कारण उस पर घास भी नही उगती थी। इस प्रकार ऊबड-खाबड पथरीली जमीन पर एक बडी शिक्षण-सस्था कायम करने के लिए निरन्तर चितन करते रहना पडता था। कृषिमूलक केन्द्र बनाना है, तो

इस स्थान को खेती लायक करने के लिए महान् पराक्रम करना होगा, यह निश्चय था। इसलिए हमने अपने साथियो से कहा कि अभी एक ही काम है—गैंता, कुदाल से पत्थर फोडना।

कृषि के लिए पहली आवश्यकता पानी की होती है। खाद के बिना जोताई बढाकर, हरी खाद उगाकर अनेक प्रकार से खेती का काम किया जा सकता है, लेकिन पानी बिना खेती का काम नहीं हो सकता है—यह देश के बूढे-बच्चे सभी जानते है। दुर्भाग्य से खादीग्राम मे इस पानी का ही अभाव था। जमीन पर बिहार चरखा-सघ ने एक छोटा-सा कुँआ खोदा था। किसी तरह पानी पीने का तथा नहाने का काम चलता था। अप्रैल के मध्य भाग मे वह भी सूख गया। खेती करने की बात तो दरकिनार, पीने का पानी सडक पार छह फर्लांग दूरी पर से लाना पडता था और वही जाकर नहाना भी पडता था।

अखिल भारत चरखा-सघ के अध्यक्ष कृषिमूलक ग्रामसेवक विद्यालय के सगठन के लिए नूमर मे बैठ गये है, यह चर्चा बिहारभर मे फैल गयी। ध्वजाभाई एक दिन प्रदेश के कृषि तथा सिचाई-विभाग के अफसरो को लेकर खादीग्राम आये। मै उस समय बीमार पडा रहता था, इसलिए ध्वजाभाई ने उन्हे पहले तो पूरा अहाता दिखाया, फिर वे उन्हे मेरे पास लाये। मैं जब उन्हे योजना समझा रहा था, तो वे मुस्करा रहे थे। बाद को बोले : "आपको यह क्या सूझा है कि जान-बूझकर प्रकृति के साथ विफल सघर्ष करने के लिए यहाँ आकर बैठे है ?"

मैने हँसकर कहा . "सघर्ष अवश्य है, लेकिन आप जैसे विशेषज्ञ भी अगर इसे 'विफल सघर्ष' कहते है, तो आधुनिक विज्ञान की क्या दुर्दशा होगी। अगर इजराइल की मरुभूमि हरी-भरी हो सकती है, तो क्या आपका विज्ञान इस पत्थर पर हरियाली नही उगा सकता है ?" मैंने उनसे कहा कि "उर्वरा भूमि पर किसान जाता ही है, हम भी उसी तरह उर्वरा भूमि लेकर बैठ जायॅ, तो उससे भारत की भूमि-समस्या हल नही होगी।" इस प्रकार काफी देर चर्चा हुई, जिसके बीच मैने यह भी

कहा कि "हम लोग क्रान्तिकारी भी हैं। हमें सघर्ष मे ही मजा आता है। अहिसक क्रान्तिकारी के नाते हम जाति, दल, राष्ट्र या उसी प्रकार आदमियो के गिरोह के सघर्ष नही करते हैं, तो प्रकृति देवी के साथ ही सघर्ष करने की बात सूझ रही है।" "ठीक है, सघर्ष कीजिये!" कहकर हॅसते हुए वे बिदा हुए।

हम लोग इसी सघर्ष मे लग गये। सबसे पहले पानी की ही चिन्ता सवार हुई। अपनी जमीन के उत्तरी छोर पर पानी का एक पुराना सोता था, ऐसा लोग बताते थे। लोग कहते हैं, पुराने जमाने मे जगल के राही उसी सोते पर सत्तू खाते थे। लेकिन काफी अरसे से वह बन्द हो गया। स्थानीय लोगो की राय थी कि वही पर एक कुँआ बनाया जाय। अतः १६ फुट के व्यास का एक कुँआ खोदने मे हाथ लगा दिया।

पानी की चिन्ता

कुँआ खोदने का काम भी मानो युद्ध की एक तैयारी था। वह स्थान भालू तथा लकडबघ्घे का था, कभी-कभी चीता भी अतिथि रूप से उस पहाडी पर आया करता था। खूब तडके काम शुरू करने के लिए भाला आदि लेकर, मचान बॉधकर हम लोग वहॉ रहते थे।

तीन साल लगातार अनावृष्टि के कारण उन दिनो इस इलाके मे घोर अकाल चल रहा था। हमने जब कुँआ खोदने का काम शुरू किया, तो आसपास के लोगो को इससे राहत मिलने लगी। नजदीक के गॉव मे कुँआ न रहने के कारण गॉववालो की भी उसमे बडी दिलचस्पी हुई और लोग उत्साहपूर्वक कुँआ खोदने लगे। मोरूम की जमीन, एक कण से दूसरे कण का कोई लगाव नही, बीच-बीच मे दरार फटती जाती थी, फिर भी हम लोग कुँआ खोदते जाते थे। चारों तरफ के लोग देखने आते थे, कुछ लोगो को आश्चर्य होता था और कुछ को परेशानी। परेशानी इसलिए कि लोग घबराते थे कि कोई न कोई इसमे दबकर मरेगा। आसपास के सथाल लोग इसलिए भी डरते थे कि जगल के सवा लाख देवताओ पर

कुँआ खोदने का संघर्ष

पूजा चढाये बिना हम लोगो ने कुँआ खोदना शुरू कर दिया है। अन्त मे सबका भय सही निकला। एक दिन रात को कुँआ एक तरफ से धँसकर गिर गया। रात को गिरा इसलिए कोई दबा नहीं।

हम लोग कुँए को फिर खोदने लगे। सख्त मोरम था, गैंता धँसता नहीं था, चट्टान होती, तो छेनी से भी काटा जाता, लेकिन हिम्मत बिना हारे हमारे साथियो तथा पास के ल्लमटिया गॉव के मजदूर उसे काटते ही चले। एक ओर गैंता और मोरम की टक्कर से आग का निकलना और दूसरी ओर से कुँए के धँसे हुए किनारे के बीच लोग काम करते रहे। मन मे सोचा, चलो, यह भी एक सघर्ष है। तीन बार कुँए का किनारा कटकर गिरा, तीन बार सफाई हुई। अन्त मे तो सारा कुँआ ही बीच मे धँसकर बैठ गया। खटिया पर लिटाकर लोग मुझे वहॉ ले गये। कुँआ धँसने की खबर घटेभर मे बिजली की तरह चारो ओर फैल गयी और लोग देखने आने लगे। मै पहुँचा, तो लोग कहने लगे कि अब इसे छोड ही दीजिये, लेकिन हमने तो पीछे हटना सीखा नहीं था। मैंने कहा कि उसी पर कुँआ बॉधा जाय तथा पटी हुई मिट्टी खोदकर उसी पर गलाया जाय। वही किया गया और कुँआ तैयार हो गया।

कुँआ बनने की घटना ने खादीग्राम का नाम जितना प्रचारित किया, उतना शायद चौगुना खर्च करके भी हम नही कर पाते। लोगो ने देख लिया कि ये लोग हिम्मतवाले है और इस बात ने यहॉ की अत्याचार-पीडित जनता को बडी तसल्ली दी। लोग हमारे प्रति आकर्षित हुए और हमसे चर्चा करने के लिए आने लगे। यो हमे बैठे-बैठे सर्वोदय विचार-प्रचार तथा अपनी योजना को समझाने का मौका मिला। इस प्रकार खादीग्राम मे सालभर तक एकाग्रता के साथ कुँआ बनाने, पत्थर खोदकर जमीन निकालने, एक बॉध बॉधने और तालाब खोदने में लगे रहे। हमारे साथी श्रम-साधना का प्रयास करते रहे।

सन् १९४५ मे जब मै जेल से लौटकर आया, तो मैंने 'हुजूर मजूर' का दर्शन समझाना शुरू किया था। अकबरपुर आश्रम की जिम्मेदारी

लेकर मैने पढे-लिखे नौजवानो को कुन्दी के काम में भरती किया।

श्रम-साधना का प्रयास

उन्हे आधे समय कुन्दी का काम दिया और आधे समय हिसाव का। दुर्भाग्य से वहाँ पर साथियो का सहयोग न मिलने के कारण यह प्रयास सफल नहीं हो सका था। चरखा-सघ मे भी शरीर-श्रम के अभ्यास की कोशिश की थी, लेकिन वहाँ भी लोगो ने साथ नहीं दिया। यहाँ आकर नये सिरे से काम शुरू करने के कारण मैंने शुरू से ही यह शर्त रख दी थी। चूँकि हम ऐसा एक वर्गहीन समाज कायम करना चाहते है, जिसमे न आज का हुजूर रखना है और न आज का मजूर। शिक्षित तथा वैज्ञानिक श्रमजीवी मानव वनाना है। इसलिए मैंने साथियो से कहा कि "आप लोग आधे समय उत्पादक श्रम करे तथा आधे समय व्यवस्था तथा अध्ययन आदि का काम करे।" इस नियम से मैंने वहनो तथा बच्चो को भी छुट्टी नहीं दी। सौभाग्य से जो दो-चार साथी आये थे, उन सवने अत्यन्त निष्ठापूर्वक मेरे इस विचार मे साथ दिया। चार ही घटे नहीं, शुरू मे तो वे छह से लेकर आठ घटे तक काम करने लगे।

यह तो तुम्हे मालूम ही है कि यह जमीन दस साल पहले विहार चरखा-सघ ने ली थी और उस समय चरखा-सघ तथा काग्रेस वस्तुतः एक ही थे।

गांधी के असली चेला

इसलिए आसपास की जनता इस स्थान को काग्रेस का कहती थी और हम लोग भी 'काग्रेसी' के नाम से परिचित हुए। स्वराज्य-प्राप्ति के वाद काग्रेस किस ओर जा रही थी, यह सवको स्पष्ट हो चुका था, उसकी शिकायत भी होने लगी थी। ऐसे समय मे नूमर मे काग्रेस के अच्छे पढे-लिखे लोग गैता और कुदाल लेकर प्रतिदिन चार-छह घटे पत्थर खोदते है, यह देखकर लोग हैरान होते थे और दूर-दूर से देखने आते थे। इस श्रम-कार्य ने हमे इस इलाके मे खूव लोकप्रिय वना दिया। फिर जव काग्रेसवाले हमारा विरोध करने लगे, तो लोगो के मन मे सदेह होने लगा कि ये

काग्रेस-जन हैं या कोई दूसरे लोग। इस शका ने उन्हे गाधीवाद के सही विचार की ओर आकर्षित किया। उनमे से बहुत-से लोग कहने लगे कि ये काग्रेस से भिन्न कोई दूसरे लोग है। ये कौन लोग है, यह तो वे नहीं समझते थे, लेकिन इतना वे समझते थे कि ये न तो काग्रेसी है, न समाजवादी। सार्वजनिक क्षेत्र मे इन दो प्रकार के अलावा तीसरा प्रकार भी है, इसकी जानकारी उनको नही थी, क्योकि वे काग्रेस को ही एक मात्र गाधीवादी सस्था के नाम से जानते थे। सर्वोदय का नाम तब तक उन्होंने सुना ही नही था। कुछ दिन मे वे कहने लगे कि ये लोग गाधीजी के असली चेला हैं। यो हम लोग 'असली चेला' के नाम से मशहूर हुए।

मैं बीमार पडा रहता था, इसलिए मेरे मित्र बीच-बीच मेरे पास आते रहते थे। ये सब लोग मुझसे पूछते थे कि इस प्रकार पत्थर खोदने से क्या निष्पत्ति निकलेगी। वे यह भी पूछते थे कि गॉव का हम क्या काम करते हैं? मै उनसे कहता था कि "यहॉ गॉव का काम करने की पूर्व तैयारी हो रही है।" लेकिन मेरी यह बात उनकी समझ में नही आती थी।

मैने केन्द्र का नाम 'समग्र ग्राम सेवा विद्यालय' रखा था। यह नाम भी मित्रो को खटकता था। वे पूछते थे कि विद्यालय के विद्यार्थी कहॉ है? जवाब मे मै कहता था कि विद्यार्थी हम लोग है और शिक्षक हमारा उद्योग, प्रकृति और सामाजिक परिस्थिति है। किसी-किसीको मै यह भी जवाब देता था कि मै शिक्षक और ये नौजवान विद्यार्थी हैं।

समग्र ग्राम-सेवा विद्यालय

लेकिन इससे मित्रो को समाधान नही होता था। अण्णासाहब के सिवा चरखा-सघ के बाकी साथी भी परेशान होते थे।

एक ओर तो श्रम का अभ्यास चलता था, दूसरी ओर अपने साथियो से मैं निरन्तर वर्ग-परिवर्तन के विचारो की चर्चा किया करता था। हुजूर को मजूर बनना है, यह दृष्टि उन्हे अच्छी तरह से मिल गयी थी। लेकिन यहॉ का ढॉचा वही था, जो चरखा-सघ का था। लोगो को वेतन मिलता था और वे वेतन के आधार पर अपना गुजारा करते थे। एक-

दो साथी ऐसा भी महसूस करते थे कि हम जिन विचारो का प्रतिपादन करते है, उसके साथ वैतनिक पद्धति विशेष मेल नही खाती थी। लेकिन कोई समाधानकारक विकल्प सूझता नही था। एक-दो भाई वेतन छोडकर मेस मे भोजन और परिवारो मे जितने लोग हैं, उनके हिसाब से कुछ फुटकर खर्च ले लेते थे। लेकिन इन तरीको मे से वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया नही निकलती थी। वर्ग परिवर्तन तो स्वावलम्बन की बुनियाद पर ही हो सकता है। साल-डेढ साल की जो साधना थी, वह केवल श्रम की साधना थी। उसमे स्वावलम्बन की साधना का कुछ अश नही था। स्वावलम्बन के बिना भी साम्य की साधना की जा सकती है। उस समय उसके प्रति भी हमारी कोई सयोजित चेष्टा नही थी। यह स्पष्ट है कि स्वावलम्बन तथा साम्य के बिना श्रम-साधना प्राणवान् नही हो सकती।

यह कैसे होगा, इसकी चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी। एक दिन हमारे एक साथी भगवती भाई मेरे पास आये। वे कहने लगे: "आप हमेशा कहते है कि 'हुजूर' को 'मजूर' बनना चाहिए और अब उस दिशा मे श्रम भी कराते हैं, लेकिन हम जो श्रम करते है, वह एक रूटीन (दैनिक कार्यक्रम) है। इससे हमको मजदूर-वर्ग के जीवन का अनुभव नही होता। उसका अनुभव लेने के लिए हमे कोई कदम उठाना चाहिए।" मैने उनसे कहा कि "यही चिन्ता तो मुझे भी रहती है, लेकिन कौनसा कदम उठाये, यह समझ मे नही आता। मै तो खुद एक तरह से पगु ही हो गया हूँ, इसलिए कुछ करके देखने की भी गुजाइश नही है। कदम भी ऐसा ही होना चाहिए, जिस पर तुम लोग चल सको, क्योकि कोरा आदर्श मूर्तिमान् नही होता। आदर्श निराकार होता है। वह साकार व्यक्तियो के मारफत ही मूर्तिमान् होता है। और चूँकि वह मनुष्य के मारफत मूर्तिमान् होता है, इसलिए वह उस मनुष्य की मर्यादा के अनुसार मर्यादित भी हो जाता है। शुद्ध रूप क्या होगा, यह तो मै

मजूर बनने का प्रयोग

बताता ही रहता हूँ, लेकिन उसका मर्यादित रूप यानी साकार रूप क्या होगा, वही तो समझ मे नही आता।"

भगवती भाई ने कहा : "मैने इसका प्रयोग करने के लिए सोचा है। आप पुरुष मजदूरो को सवा रुपया रोज देते है और मजदूरिनो को बारह आना। तो मै और रामदुलारी मजदूरो के साथ काम करगे और मजदूर जैसी मजदूरी लेगे, ऐसा निर्णय किया है।" भाई भगवती के इस प्रस्ताव से मानो मुझे एक नया रास्ता मिल गया। मैने उन्हे अपनी शुभकामना के साथ प्रयोग करने की इजाजत दे दी। मन मे जरूर ऐसा लगा कि इससे काम चलेगा नही, लेकिन उसमे से कोई रास्ता निकलेगा, ऐसा मानकर मैने उन्हे प्रोत्साहित किया।

पॉच-छह रोज दोनो पति-पत्नी ने अत्यन्त उत्साह से काम किया। उन दिनो मै अत्यन्त एकाग्रता के साथ उनके कार्य का निरीक्षण किया करता था। पॉच छह रोज के बाद मैंने भगवती भाई को बुलाकर कहा कि "तुमने हिम्मत जरूर की और सौभाग्य से दुलारी ने तुम्हारा पूरा साथ दिया। लेकिन तुम्हे एकदम अन्तिम प्रयोग नही करना चाहिए। फिर मेरी कल्पना का श्रमजीवी समाज आज के श्रमजीवी समाज जैसा नही है। आज का श्रमजीवी तो मानव के स्तर पर ही नहीं है। उसे उठाना है। उसका बौद्धिक, सास्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है। उसे पूरे दिन शरीर-श्रम नही करना है। जब वर्गहीन समाज स्थापित होगा, तो वर्गहीन मनुष्य श्रमजीवी अवश्य बनेगा। लेकिन साथ-साथ उसका बौद्धिक तथा सास्कृतिक स्तर बहुत ऊँचा रहेगा। यही कारण है कि मैने यहॉ के कार्यक्रम मे चार घटा शरीर-श्रम तथा चार घटा व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यक्रम रखा है। तुम्हे भी वही करना होगा। तुम चार घटे शरीर-श्रम करो और चार घटे पहले की तरह शिक्षण का काम करो। दुलारी भी वैसा ही करे। अन्तर इतना ही रहे कि बौद्धिक और शरीर श्रम का मूल्य एक ही रहे। इसकी स्थापना करो। अर्थात् दोनो प्रकार के काम की

मजदूरी मे सवा रुपया और बारह आना के हिसाब से लो।" भगवती भाई इसे समझ गये और ऐसा ही करने लगे।

साम्ययोग पर विचार

भगवती भाई के इस कदम से खादीग्राम-परिवार मे नयी चर्चा का स्रोत खुला। सब लोग इस पहलू पर गम्भीरता से विचार करते थे तथा रात को आपस मे चर्चा करते थे। मै भी उन दिनो श्रम और साम्य के पहलू पर खूब विचार करता था। अब तक हमने श्रम की जो साधना की, उसमे श्रम और स्वावलम्बन नही था। अब मेरे मन मे यह विचार आया कि उसमे एक चरण और जोडना चाहिए। मैने सोचा कि श्रम के साथ स्वावलम्बन भले ही न जुडे, साम्य जोडने की तो अवश्य ही कोशिश करनी चाहिए। स्वावलम्बन के लिए उस समय सोचना भी सम्भव नही था, क्योकि उसका मूलाधार जमीन ही नहीं थी, पानी तो था ही नही। चार घटे पत्थर खोदने से स्वावलम्बन क्या होता ? इसलिए मै स्वावलम्बन की चिन्ता ही नही करता था।

साथियो मे इस सम्बन्ध मे जोरदार चर्चा चलती रहती थी। मै भी कभी-कभी उनके बीच जाकर बैठ जाता था और चर्चा मे शामिल हो जाता था। मैंने देखा कि दो-एक साथी भगवती भाई का अनुसरण करने की बात गम्भीरतापूर्वक सोच रहे है। मैने उनसे कहा कि आपकी साधना का ढग ऐसा होना चाहिए, जिसमे आप सब लोग शामिल हो सके, क्योकि ऐसा हुए बिना हमारी साधना समाज-परिवर्तन का साधन नही बन सकती।

विनोबा से चर्चा

अतः हमारे साथी साम्ययोग की साधना के लिए मध्यम मार्ग ढूँढने लगे। इसी बीच मुँगेर जिले मे विनोबाजी की पद-यात्रा शुरू हुई। उन्होने खादीग्राम मे चार दिन का पडाव डाला और सभी प्रादेशिक भूदान समितियो के कार्यकर्ताओ का सम्मेलन बुलाया। उसी सम्मेलन के बीच मैने विनोबाजी से इस प्रश्न पर चर्चा करने के लिए अलग से कुछ समय मॉगा। तुम लोगो को

मालूम ही है कि विनोबाजी ने पवनार मे काफी दिन तक साम्ययोग की साधना की थी। इसलिए उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी था। मेरी उनसे आध घटे तक चर्चा चली। सारे विचारो से सहमति जानकर मुझे अत्यन्त खुशी हुई। मैने सोचा कि मै तो साथियो के साथ निरन्तर चर्चा करता ही रहता हूँ, लेकिन वे प्रत्यक्ष विनोवाजी से चर्चा करे, तो ज्यादा अच्छा होगा, इसलिए मैने उनसे प्रार्थना की कि वे खादीग्राम परिवार को भी कुछ समय दे। उन्होने उसे स्वीकार किया और दूसरे दिन सभी साथियो ने उनसे मिलकर चर्चा की। सभी को इस चर्चा से वडी प्रेरणा मिली। विनोवा ने कहा कि "अभ्यास मुख्य वस्तु नहीं, विचार मुख्य वस्तु है। अगर लोगो मे विचार पक्का है, तो वह किसी न किसी तरह से अभ्यास द्वारा शक्ति वना ही लेता है।" स्वय किस प्रकार साधना की है, उसका हवाला देते हुए उन्होने वताया कि मनुष्य किस प्रकार थोडे-थोडे अभ्यास द्वारा कहाँ तक पहुँच सकता है।

विनोवाजी के चले जाने पर खादीग्राम-परिवार मे साम्ययोग-चर्चा ने खूब जोर पकडा। अनेक प्रकार के विकल्प सोचे गये। आखिर मे मैंने साथियो को सलाह दी कि शुरू मे वे दो चीजे करे। पहली तो यह कि सवकी मजदूरी समान रहे और दूसरी यह कि शरीर-श्रम और वौद्धिक श्रम का मूल्य समान हो। फिर प्रश्न उठा कि मजदूरी किस आधार पर तय की जाय। काफी चर्चा के वाद यह तय हुआ कि हिन्दुस्तान मे खेतिहर मजदूरो की जो सवसे ज्यादा मजदूरी है, वह मजदूरी हम लोग ले। ऑकडो को देखने से मालूम हुआ कि पुरुषो के लिए दो रुपया और स्त्रियो के लिए डेढ रुपया रोज सर्वोच्च मजदूरी है। हम लोगों ने भी क्रमश. चार आना तथा तीन आना घटा मजदूरी निश्चित की। फिर सवाल आया कि जिन मजदूरो से हम काम लेते हैं, उनकी मजदूरी क्या हो? साथ ही जो स्थानीय लोग दफ्तर और शिक्षण मे काम करते हैं, उनकी मजदूरी क्या हो? चर्चा होकर यह तय हुआ कि शरीर-श्रम और दूसरे तरह के श्रम मे कोई अन्तर न रहे। स्थानीय मजदूर जो अपने घर से

रोज आकर काम करते हैं और जो घर से दूर खादीग्राम मे आकर बसते हैं, उनमे कुछ फर्क किया गया। दूरवालो को दो रुपया और डेढ रुपया तथा स्थानीय लोगो को डेढ रुपया तथा एक रुपया निर्धारित किया गया। यह दर स्थायी काम करनेवालो की थी, अस्थायी रूप मे किसीसे काम लेने पर स्थानीय रिवाज के अनुसार मजदूरी देने का निश्चय हुआ।

इस प्रकार साम्ययोग के प्रथम चरण का श्रीगणेश हुआ और लोग उसीमे अपना निर्वाह करने की कोशिश करने लगे। इस व्यवस्था से

महिलाओ का आत्मसम्मान बढा

एक विशेष लाभ यह हुआ कि परिवार की स्त्रियो मे आत्मसम्मान का भाव जगा। काम तो वे पहले भी करती थी, लेकिन अब उन्हे अपने काम मे उत्साह होने लगा। नियमित रूप से काम पर आने, पूरे समय काम मे रहने, व्यवस्था तथा शिक्षण के काम के लिए अपने को तैयार रखने आदि मे वे अधिक-से-अधिक दिलचस्पी लेने लगी।

साम्ययोग की पद्धति में नये कार्यकर्ताओ के लिए कुछ काम रखा गया था। शुरू मे उन्हे प्रशिक्षण-वर्ग मे, उसके बाद उम्मीदवार-वर्ग मे और अन्त मे स्वतत्र जिम्मेदारी उठा लेने पर कार्यकर्ता-वर्ग मे शामिल करते थे। इसके लिए क्रमशः दो आना, तीन आना, चार आना मजदूरी निश्चित की गयी थी। आरोग्य के लिए कुछ कार्यकर्ता अपनी मजदूरी मे से कटाते थे और कुछ अश सस्था देती थी। इस तरह आरोग्य सामूहिक था।

शुरू-शुरू मे बच्चे परिवार के साथ रहते थे। माता-पिता दोनो का आठ घटा सार्वजनिक काम करना और माताओ मे पुराने रूढिगत विचारो

बालवाडी और छात्रावास

का होना बच्चो के विकास के लिए बाधक होता था, इसलिए सब लोगो ने यह तय किया कि आठ साल के बच्चो के लिए छात्रावास बनाया जाय और उस छात्रावास मे विशेष रूप से ध्यान देने के लिए अलग से कार्यकर्ता हो। इस प्रकार एक बालवाडी और दो छात्रावास,—एक लडको के

लिए, दूसरा लडकियो के लिए—बनाया गया। जल्दी ही गोद के बच्चों की समस्या आयी। उसकी जिम्मेदारी भाई राममूर्ति सिंह की पत्नी ने ली। गोद के बच्चों के लिए एक शिशु-विहार खोला गया। पास के गॉव की एक सथाल लडकी, जिसका स्वभाव अत्यन्त मधुर था, पार्वती बहन की सहायता मे दी गयी। इस तरह अपने बच्चो की समस्या को लेकर बाकायदा बुनियादी विद्यालय खोला गया। १९५२ मे भी यह समस्या आयी थी, लेकिन एक साल तक अपनी ही कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए उन्हे तुम्हारे पास सेवाग्राम भेज दिया गया था।

बच्चों की व्यवस्था से खादीग्राम मे एक नयी प्रवृत्ति बढी और वह थी नयी तालीम की प्रवृत्ति। धीरे-धीरे लोग खर्च देकर बच्चे भी भेजने लगे। १९५५ से उसने पूरी बुनियादी शाला का रूप ले लिया।

१९५४ मे जब से मैं सर्व सेवा-सघ का अध्यक्ष बना और देश मे जीवनदान का सिलसिला चला, तब से खादीग्राम इस आन्दोलन के कार्यकर्ताओ के शिक्षण का एक मुख्य केन्द्र बन गया।

खादीग्राम का आकर्षण

सारे देश की दृष्टि को उसने आकर्षित किया। वैसे तो खादीग्राम की ओर जनता का आकर्षण १९५३ के सितम्बर से, जब विनोबा के सामने विभिन्न प्रदेशो के कार्यकर्ताओ का सम्मेलन हुआ था, तभी से हो गया था। लेकिन एक शिक्षण-केन्द्र के रूप मे इसका आकर्षण सन् १९५४ के अन्त से ही हुआ।

● ● ●

बेदखली का आन्दोलन

: २२ :

श्रमभारती, खादीग्राम

३०-८-'५८

सन् '५४ तक खादीग्राम ने एक शिक्षण-सस्था का रूप ले लिया। यह सब कैसे हुआ और उसका स्वरूप कैसा था, इसका विवरण मै दे चुका हूँ। इसी बीच भाई राममूर्ति सिह स्थायी रूप से खादीग्राम आ गये। उनके आने से साथियो मे काफी उत्साह आया और नयी दिशा मे चिन्तन चलने लगा। अब मुझे लगा कि आसपास के गॉवो के साथ गहरा सम्पर्क करने का समय आ गया है। इस इलाके मे विनोवाजी की पद-यात्रा के दिनो मे हम लोगो ने जमीन मॉगने का जो प्रयास किया था, उसके कारण आसपास मे काफी दूर तक हमारा सम्पर्क हो गया था। इस सम्पर्क को बनाये रखने की बात हमने सोची। शुक्रवार को गॉव मे जाकर रात मे टिकने का सिलसिला कुछ ढीला हो गया था, उसे नियमित किया गया और एक-दो भाइयो के जिम्मे केवल ग्राम-सम्पर्क का ही काम रख दिया गया।

इस सम्पर्क से इधर के देहातो की असली परिस्थिति मालूम हुई। जमींदारो के अत्याचार का हाल तो पहले ही मालूम हो चुका था, अब यह भी मालूम हुआ कि यहॉ गरीबी की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय है। इलाके मे पानी के खजाने का कोई सिलसिला न होने से बरसात के भरोसे खेती होती थी। लगातार दो साल तक अनावृष्टि के कारण लोग अत्यन्त परेशान थे। पिछडा हुए इलाका होने के कारण जगल से लकडी काटने के अलावा दूसरा कोई धधा नही था। एक गॉव को छोडकर और कहीं चरखा नहीं चलता था। जगल की लकडी काटने और पत्तल बनाने के काम मे यहॉ की स्त्रियॉ लगी रहती थीं। उन्हे इसकी आदत पड गयी थी,

इसलिए नये सिरे से चरखा सीखने का धैर्य उनमे नहीं था, क्योंकि सीखने के लिए बैठना सम्भव नहीं था। इसलिए किस मार्ग से उनकी मदद की जा सकेगी, यही हम लोगो के लिए चिन्ता का विपय बन गया था।

बहुत सोच-विचार के बाद यह बात ध्यान मे आयी कि इस इलाके की आर्थिक स्थिति तब तक नहीं सुधरेगी, जब तक पानी की उपयुक्त व्यवस्था नहीं होगी। आर्थिक स्थिति विना सुधारे सास्कृतिक कार्यक्रम नहीं चल सकता। पहले सरकारी विकास-योजना से मदद लेने की कोशिश की गयी, नीचे के स्तर के कर्मचारियो से लेकर पटना तक दौड-धूप करने से भी कोई नतीजा नहीं निकला। सरकार तथा काग्रेस की मुखाल्फत के कारण गॉवो में मदद देने मे स्थानीय कर्मचारी हिचकते थे। कदाचित् कोई हिम्मती कर्मचारी मदद कर भी देता था, तो उसकी फजीहत हो जाती थी। इन तमाम कारणो से विकास-योजना के सहारे कुछ करने की गुजाइश नहीं थी। सरकारी असहयोग ने शायद हमारे काम मे मदद पहुँचायी। कौन जाने इसके पीछे भगवान् का हाथ रहा हो? हमने स्वतन्त्र जन-शक्ति को सगठित करने की बात सोची।

पानी की समस्या

हमने सोची तो बुनियादी बात और सर्वोदय-विचार के अनुसार ही, लेकिन थोडे दिन की जिन्दगी मे अपने मे इतनी शक्ति नहीं थी कि सारी जनता को सगठित कर लेते। स्वराज्य के बाद देश के नेताओ ने भी जनता मे पुरुषार्थ जाग्रत करने की कोई कोशिश नहीं की। बल्कि सब मिलाकर 'सरकार माई-बाप' के विचार को दृढ करते रहे। ऐसी परिस्थिति मे हमारे जैसे छोटे मनुष्य का एक छोटा-सा गिरोह कर ही क्या सकता था? फिर भी नतीजा निकले या न निकले, पुरुषार्थ करना चाहिए, इस विचार से गॉव-गॉव मे अपने भरोसे बॉध बॉधने के विचार-प्रचार मे हम लग गये। दिसम्बर १९५४ मे आचार्य कृपालानीजी के सभापतित्व मे खादीग्राम का वार्षिकोत्सव किया गया। उस समारोह का विशेप कार्यक्रम था—इस

पानी-सम्मेलन

इलाके के लोगो का पानी-सम्मेलन। जनता अपनी श्रम-शक्ति द्वारा पानी की व्यवस्था कैसे करे, इस बात का विचार इस सम्मेलन मे किया गया।

स्वराज्य-आन्दोलन से लेकर अब तक नाना प्रकार के सम्मेलन हुए है, लेकिन पानी-सम्मेलन का कभी किसीने नाम नही सुना था। इसलिए आसपास की जनता को इस नये किस्म के सम्मेलन के प्रति बडी उत्सुकता पैदा हुई। दो साल के सूखा के कारण जनता मे हाहाकार था, इसलिए पानी-सम्मेलन के प्रति और अधिक आकर्षण हुआ। फलस्वरूप सम्मेलन मे अपार भीड हुई। इस जगली प्रदेश मे भी पन्द्रह हजार लोगो ने भाग लिया। सम्मेलन की सफलता से हम लोगो को बडा उत्साह मिला।

बाँध बाँधने का कार्यक्रम

हम देहातो मे बाँध बाँधने का कार्यक्रम शुरू करने की कोशिश करने लगे। जनता मे पुरुपार्थ कतई नही रह गया था। इसलिए उस दिशा मे विशेप सफलता नहीं मिल रही थी। प्रायः लोगो को यही आशा थी कि कोशिश करके सरकार से पानी का इन्तजाम करा देगे। आखिर मे खादीग्राम से सटे ललमटिया गाँव के लोग तैयार हुए कि सप्ताह मे आधा दिन श्रम करके बाँध बाँधेगे। आश्रम से एक कार्यकर्ता वहाँ चला जाता था और श्रम किया जाता था। इस तरह बरसात से पहले ही उन्होने थोडा सा पानी जमा करने के लिए बाँध बना ही लिया। ललमटिया के बाँध की सफलता से मुझे काफी प्रोत्साहन मिला। सोचा कि इस तरह से देखादेखी आन्दोलन बढेगा। लेकिन मैंने यह भी सोचा कि ऐसी अत्यन्त अभावग्रस्त जनता द्वारा कितना काम होगा। सरकार इन लोगो से टैक्स लेती है, तो इनके स्वतत्र पुरुपार्थ के साथ-साथ सरकारी मदद भी होनी चाहिए।

देश के नेता जनता से अपील करते है कि सरकारी योजना मे वह सहयोग करे। लोकशाही की भाषा मे यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। काम सरकार का, सहयोग जनता का, क्या यह लोकशाही की भाषा है?

काम जनता का, मदद सरकार करे—यह बात समझ मे आती है। इसलिए मैंने सोचा कि जब हमने जनता के भीतर अल्पमात्रा मे ही सही, यह होश पैदा कर दिया है, अब सरकार से यह कहने का समय आ गया है कि वह जनता के इस पुरुषार्थ में साथ दे और सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था करे। यह सोचकर मैं पटना चला गया और उस समय के कृषिमत्री अनुग्रह बाबू से मिला। अनुग्रह बाबू अर्थमत्री भी थे और बिहार के चोटी के नेता भी थे। उनसे मिलने से काम बनेगा, ऐसा मैने सोचा।

अनुग्रह बाबू से चर्चा

मालूम हुआ कि अनुग्रह बाबू बीमार है और इन दिनों वे किसीसे मिलते नही है। वे रचनात्मक कार्य मे दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्ति थे, कुछ दिन के लिए बिहार चरखा-सघ के मन्त्री भी रह चुके थे। वे रचनात्मक कार्यकर्ताओ तथा सस्थाओ मे बडी दिलचस्पी भी रखते थे। अत' उन्हे जब यह मालूम हुआ कि मै मिलना चाहता हूँ, तो उन्होने मुझे बुला भेजा। जब मै उनसे मिलने गया, तो देखा कि वे खाट पर पडे हुए हैं। अत्यन्त प्रेम से वे मिले और उन्होने खादीग्राम के कार्यक्रम के बारे मे ब्योरे से सारी बाते पूछी। मैने मुस्कराते हुए उनसे कहा कि "आप लोग सरकारी योजना मे जनता का सहयोग माँगते है और मै जनता की योजना मे आपका सहयोग माँगने आया हूँ।" उन्होंने भी विनोद-पूर्वक उत्तर दिया : "चूँकि हम सरकार के आदमी है और आप जनता के आदमी हैं।" मैने कहा कि "सरकार के आदमी तो जनता के ही आदमी न होते हैं।" खैर, मैने उन्हे बताया कि क्या-क्या सरकारी मदद मिल सकती है। उन्होने हर प्रकार से मदद देने का वचन दिया और कहा कि "अच्छा होने पर मैं खुद इस इलाके मे आने की कोशिश करूँगा।"

बातचीत के दौरान मे उन्होने ऐसी बात कही, जो लोकतन्त्र के सन्दर्भ मे अत्यन्त खतरनाक थी। उन्होने कहा · "देखिये धीरेन भाई, राजनीति ऐसी चीज है, जो देश मे रचनात्मक काम नहीं होने देती है। मै एक पार्टी का हूँ, दूसरा दूसरी पार्टी का है। हम सरी पार्टी के रचनात्मक

काम मे मदद नही देते हैं। केवल अलग-अलग पार्टी है ऐसा नहीं, एक ही पार्टी मे कई ग्रूप (group) है। कांग्रेस में मेरे नाम से एक पार्टी चलती है, तो दूसरे के नाम से दूसरी पार्टी चलती है। जिले के स्तर पर भी पार्टी-भेद चलता है। इस प्रकार पार्टी दर-पार्टी की समस्या हम लोगो के दिमाग को इस तरह उलझाये रहती है कि हम सही मदद नहीं कर पाते।"

पार्टीबन्दी का अभिशाप

मैंने जब कहा कि "हम लोग तो किसी पार्टी मे नही है", तो उन्होने कहा कि "इससे क्या ! आप हमारी पार्टी मे तो नहीं है—इतना काफी है।" मैने देखा कि यह बात कहते समय वे अत्यन्त दु.खी थे। दु.ख की बात भी थी, लेकिन पार्टी के अन्दर होने के कारण वे भी अत्यन्त मजबूर थे।

वस्तुतः मनुष्य व्यक्तिगत रूप से चाहे जैसा हो, अधिकाश समय वह परिस्थिति के घेरे मे पड जाता है। आज देश मे रचनात्मक कार्यकर्ता भी काफी है, चोटी के नेताओ मे देश को ऊपर उठाने की उमग भी काफी है, धन भी बहुत खर्च हो रहा है, लेकिन राष्ट्र-विकास की गाडी आगे क्यो नही बढ रही है, इसकी सूचना अनुग्रह बाबू की इन बातों मे मिलती है। आज विनोबाजी पक्षहीन राजनीति की जो बात कर रहे है, अनुग्रह बाबू की उक्ति भी उसीकी पुष्टि करती है। हो सकता है कि पक्षगत राजनीति ने एक समय इग्लैण्ड तथा दूसरे देशो को आगे बढाया हो, लेकिन हर रस्म रिवाज की तरह सामाजिक तथा राजनैतिक पद्धति की भी काल-मर्यादा होती है। देश, काल और पात्र-भेद से रस्म-रिवाज-भेद की आवश्यकता हो जाती है। इसलिए हर चिन्ताशील व्यक्ति को इस बात पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि आधुनिक युग मे और भारतीय परिस्थिति मे दलगत राजनीति से लाभ है या हानि ?

अनुग्रह बाबू के आश्वासन से हम लोग खूब प्रोत्साहित हुए और अपने काम मे और जोर से लग गये। ललमटिया के बॉध बँध जाने से

इस इलाके के लोगो को भी प्रेरणा मिली, लेकिन शुरू-शुरू मे दूसरी जगह पर निश्चित कार्यक्रम नही बन सका।

इसी बीच जनसेवा का एक नया अवसर मिला। खादीग्राम के पास में ही पेगही नाम का एक छोटा सा गॉव है। एक दिन उस गॉव से कुछ मुसहर खादीग्राम मे दौडे हुए आये और कहने लगे कि मल्लेपुर के बाबू हमे बेदखल कर रहे है। हमने अपने साथियो को उस गॉव मे तहकीकात करने के लिए भेज दिया और कहा कि देखो, वे लोग बेदखल न हो, क्योकि बिहार के कानून से कोई भी मालिक बटाईदार को बेदखल नहीं कर सकता। मालिक फसल रोक रहा था। हमने सलाह दी कि वे अपने खेत में फसल काटे और मालिक का हिस्सा अपने मालिक के यहॉ पहॅुचा दे। यह सब शुरू हुआ ही था कि हम लोग पुरी के सर्वोदय-सम्मेलन के लिए रवाना हो गये।

बेदखली की समस्या

मेरी गैरहाजिरी मे इस मामले ने जोर पकडा। जमीन मालिक, पुलिस, अधिकारी, सार्वजनिक नेता—सब गरीब मुसहरो के खिलाफ हो गये। उसी ढग से सारा मामला बनाया जाने लगा। यहॉ तक कि ऐसे कागजात बनाने की कोशिश होने लगी कि हम लोग—खादीग्रामवाले—इस इलाके मे अशान्ति और विद्रोह फैलाने मे लगे हुए है। यह सब होता रहा, लेकिन हम लोगो ने इन मजदूरो को डटे रहने की ही सलाह दी। पर मामला ऐसा बनाया गया कि उस जमीन पर मुसहर कभी बटाई करते ही नहीं थे और इन लोगो ने खादीग्रामवालो की प्रेरणा से जबरदस्ती मालिक की फसल काट ली। फौजदारी मुकदमा चलाकर हमारे एक साथी तथा ग्यारह मुसहरो को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। भाई रवीन्द्र ने पुरी-सम्मेलन के पते पर तार द्वारा यह सब सूचित किया और राममूर्ति भाई ने पूरे मामले की रिपोर्ट लिखकर वहॉ भेज दी।

गिरफ्तारियॉ शुरू

विनोबाजी की उपस्थिति मे सर्व-सेवा-सघ के सभी कार्यकर्ता मौजूद

थे। बेदखली के प्रश्न पर सर्व-सेवा-संघ की क्या नीति हो और इस मामले में हम क्या नीति बरतें, इस मामले पर चर्चा होती रही। विनोबाजी ने बिहार के दौरे के अवसर पर इस प्रश्न पर काफी कहा था।

संघ का प्रस्ताव

इस सम्बन्ध में सर्व सेवा-संघ की कोई अधिकृत नीति हो, ऐसा कार्यकर्ताओं ने महसूस किया। तदनुसार चर्चा होकर सर्व-सेवा संघ ने मार्च १९५५ में पुरी में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया :

"बेदखली के विरोध में काम करते हुए खादीग्राम के कई कार्यकर्ताओं पर पुलिस की ओर से केस दाखिल किये गये हैं। ऐसे मामलों के बारे में हमारी नीति क्या हो? क्या हम बचाव की पैरवी (डिफेन्स) करें या जैसे स्वराज्य-आन्दोलन में करते थे वैसा केवल घटना का सही स्टेटमेण्ट (बयान) देकर समाधान मानें। इस बारे में भिन्न-भिन्न पहलुओं से चर्चा हुई, आखिर में आम राय रही कि :

आज कोर्ट के बहिष्कार का आन्दोलन हमें नहीं करना है, न तो लम्बी-चौड़ी कानूनी कार्रवाई में फँसना है। हरएक केस के बारे में उसके स्वरूप (Merit) को देखकर निर्णय लेना होगा।"

नेहरूजी का वक्तव्य

मैंने इस मामले को ढेबर भाई तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं तथा जवाहरलालजी तक पहुँचा दिया। पंडित जवाहरलालजी ने बेदखली के खिलाफ कड़ा वक्तव्य दिया। फलस्वरूप हम लोगों ने इस इलाके में बेदखली के खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया।

विनोबाजी की राय

पैंगही के मामले में जो गिरफ्तारी हुई, उस विषय में विनोबा के सामने कार्यकर्ताओं ने चर्चा की। कार्यकर्ताओं ने और स्वयं विनोबाजी ने यही राय दी कि मुकदमा लड़ा न जाय, बयान देकर सब जेल चले जायँ। विनोबाजी ने कहा कि मुकदमा लड़ने में कार्यकर्ता कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकेगा, उसमें

फँस जायगा। केवल एक ही कार्यकर्ता नहीं फँसेगा, हम सब लोग फँस जायेंगे।

मुझे यह नीति सही मालूम हुई। हमारा उद्देश्य नैतिक स्तर पर समाज को खड़ा करना है, दण्ड शक्ति के आधार पर नहीं। हमने अच्छी तरह से तहकीकात करके क्या न्याय है, यह समझ लिया है और उस हिसाब से सलाह भी दी है। सरकारी अधिकारी मानते हे कि हमने ज्यादती की है, तो वे हमे सजा दे। इसके बिना समाज मे नैतिक शक्ति जाग्रत नहीं हो सकती है। लोग यह दलील दे सकते है कि "ठीक है आपने पूरी तहकीकात करके निश्चित राय कायम की है, लेकिन आप अपनी सफाई नही देंगे, तो अधिकारी को मालूम कैसे होगा कि आप न्यायपक्ष मे हैं।" यह ठीक है कि जब उनके पास मुकदमा जाता है तो उनको असलियत मालूम नही होती, लेकिन जैसे हमारे पास जॉच करके समझ लेने का जरिया है, वैसे ही सरकार के पास भी होना चाहिए। वह समझ ले और उसके अनुसार फैसला करे। मेरा अनुभव यह है कि मौके पर पहुँचने से मामले की जानकारी अवश्य हो जाती है। दलील तो हर चीज की होती है। मुझे जँच गया कि विनोबाजी की सलाह व्यावहारिक दृष्टि से तो ठीक ही है, लेकिन नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक है।

हम लोग पुरी से लौट आये, लेकिन पुरी से हमारी हिदायत पहुँचने से पहले ही यहाँ के साथी जमानत पर छूट चुके थे। अगर सफाई नहीं देनी है, तो जमानत पर भी नहीं छूटना चाहिए। जमानत पर रिहाई फिर भी हम लोगो ने यही तय किया कि गॉव के मुसहर चाहे तो उनके लिए वकील किया जाय और मुकदमा लडा जाय, पर अपने कार्यकर्ता बयान देकर जेल चले जायँ।

पुरी-सम्मेलन से लौटकर पटना में जयप्रकाश बाबू, बैजनाथ बाबू आदि नेताओ ने यह तय किया कि इस वक्त पेगही के मामले में सफाई

दी जाय। उनका खयाल था कि आन्दोलन की आज की स्थिति मे सफाई न देकर सबका जेल चला जाना राष्ट्रीय सरकार को परेशानी मे डालना होगा। खादीग्राम के साथी को यह निर्णय पसद नहीं आया, लेकिन अनुशासन के नाते वे इसे मान गये और मुंगेर में वे वकीलों से बुद्धि-दान मॉगने गये। जिले के अत्यन्त प्रभावशाली वकील श्री अखिलेश्वर बाबू ने इस मामले को हाथ मे लिया।

सफाई देने का विचार

मुकदमा चलने लगा। जैसा हर मुकदमे का हाल होता है, वैसा ही इसका भी होने लगा। अधिकारी तारीख पर तारीख डालने लगे। इस प्रक्रिया मे जमींदार के मुकाबले मे गरीब मजदूर मजदूरी छोडकर कचहरी दौडते-दौडते थक जाते है और आखिर में हारकर जमींदार की बात मान लेते हैं। लेकिन यहॉ ऐसा नहीं हुआ। इन मुसहरो मे आपसी सगठन बन गया था। वे सब सप्ताह मे एक दिन की मजदूरी जमा करते थे और मुकदमा लडते थे।

अग्रेजी शासन-काल मे फैजाबाद जिले मे हम लोगो ने किस तरह बेदखली का मामला उठाया था, उसका विवरण आगरा जेल से लिखकर तुम्हे भेजा था। स्वतन्त्रता-सग्राम मे लगे हुए काग्रेस-जनो को मालूम है कि उस समय पुलिस और जमीदार किस प्रकार मिले रहते थे और किस प्रकार हाकिम जमींदार से सहानुभूति रखते थे। लेकिन गरीबों के हक मे उन दिनों दो बडी परिस्थितियॉ अनुकूल थीं। एक तो यह कि उन दिनो काग्रेस जैसी शक्तिशाली सस्था इन गरीबो के साथ थी और दूसरी यह कि अगर वकील किसी तरह से मौके पर मजिस्ट्रेट की जॉच मजूर करा लेते थे, तो न्याय की पूरी सम्भावना हो जाती थी।

स्थिति में परिवर्तन

दुर्भाग्य से स्वराज्य हो जाने पर ये अनुकूलताऍ नहीं रह गयीं। आज गरीबो के प्रति होनेवाले अन्याय का प्रतिकार करनेवाली कोई शक्ति-शाली सस्था देश मे मौजूद नहीं है। काग्रेस अब राष्ट्रीय सस्था न रहकर

शासनारूढ दल बन गयी है। विरोधी पार्टियाँ एकाग्रता से ऐसे कामो मे न लगकर चुनाव की आवश्यकता के अनुसार बहुधन्धी हो गयी है। मजिस्टेट की जॉच भी पहले जैसी नही होती है। मौके पर जाकर जो रिपोर्ट देते है, वह प्रतिकूल ही हो जाती है। यहाँ तक कि स्थायी घर की जगह पर लिख देते है कि यहाँ कोई घर-द्वार नही था इत्यादि। इन तमाम कारणो से स्वराज्य प्राप्ति के बाद गरीब जनता अधिक निर्दलित, शोषित तथा भयभीत हो गयी है। गाधीजी ने अपने आन्दोलन के मारफत देश की जनता में जो निर्भयता निर्माण की थी, वह स्वराज्य प्राप्ति के साथ काफूर हो गयी। बल्कि आम तौर से आज गरीब जनता उन दिनो से अधिक भयभीत दिखाई पडती है। पेगही के मामले तथा उसके फैसले को देखकर मेरे दिल मे यह भावना पैदा हुई कि आज की शासन पद्धति मे गरीबों को न्याय मिलना असम्भव है। केवल पेगही का मामला नहीं, खादीग्राम के बगल मे लभेद गॉव में भी एक मामले की वही दुर्दशा हुई, जो पेगही के मामले की हुई।

बेदखली के प्रश्न को लेकर उन दिनों मे बिहार मे कई जिलो मे गया। सर्व सेवा-सघ के प्रस्ताव को देशभर की भूदान समितियो को भेजकर उनसे कहा कि वे अपने इलाके मे बेदखली निवारण की कोशिश करे। प्राय सभी जगह से वही अनुभव आने लगा, जो हमे यहाँ हुआ।

इन तमाम अनुभवो के फलस्वरूप मै सोचता रहा कि हम जब शासन-मुक्त समाज की बात करते है, तब लोग घबरा जाते है कि इससे गरीब पिस जायेगे। यह बिल्कुल उलटी बात है।

गरीबों की कम्बल-परेड

इस प्रकार सगठित सैन्य और पुलिस बल से बॉधकर गरीबो को पीसने के बजाय अगर गरीबों को स्वतन्त्र रूप से मुकाबला करने के लिए छोड दिया जाय, तो वे अधिक मुकाबला कर सकते है। रह रहकर गाधीजी की पुरानी बात मुझे याद आने लगी। गाधीजी ने जब अंग्रेजो को भारत छोडने की बात कही, तो अच्छे अच्छे अंग्रेज पूछते थे कि अंग्रेज भारत को किसके हाथ मे

छोडकर जायँगे ? क्या भारत मे ऐसी कोई सगठित शक्ति है, जिसके हाथ मे अग्रेज देश की बागडोर छोड सकते है ? जवाब मे बापू कहते थे कि अगर कोई योग्य व्यक्ति या सस्था नहीं मिलती है, तो बेहतर यही है कि वे अराजकता के हाथ मे छोड जायँ, क्योकि सगठित लूट असगठित लूट से अधिक भयानक होती है। शासन-व्यवस्था की ओर से इस प्रकार खुले-आम अन्याय तथा निर्दलन को देखकर मेरे मन मे यही विचार उठता रहता है कि आज की परिस्थिति से अराजकता की परिस्थिति बुरी नहीं, क्योकि अराजकता की स्थिति मे कम-से कम जगह-जगह जनता सगठित होकर अन्यायी तथा अत्याचारी का मुकाबला तो कर सकती है। हम लोग जब जेल मे थे, तो वहाँ एक शब्द प्रचलित था, वह था 'कम्बल-परेड'। कैदी को कई कम्बलो के अन्दर लपेटकर पीटा जाता था, ताकि चिल्लाये, तो किसीको पता न चले और बाद मे गवाही के लिए शरीर पर कोई दाग न रहे। आज की परिस्थिति मानो गरीब जनता की 'कम्बल-परेड' की परिस्थिति है। अन्याय-अत्याचार से पीडित जनता की कही सुनवाई नहीं है। पता नहीं, भगवान् के दरबार मे सुनवाई है या नहीं।

लेकिन हम कर ही क्या सकते थे ? समाज और ससार उसी वर्ग के हाथ मे है, जो आज शोषण तथा निर्दलन मे लगे हुए है। उत्पादक

बेदखली और अधिकारी

श्रमिक-वर्ग को कौन पूछता है ? जिस वर्ग के लोग अन्याय तथा अत्याचार करते है, उसीके भाई-बन्धु जनता के प्रतिनिधि होते है, पुलिस और मजिस्ट्रेट होते है। एक जिले के जो मजिस्ट्रेट है, वे किसी दूसरे जिले के जमींदार हैं और अपनी जमीन से लोगों को बेदखल करते है, फिर वे दूसरे स्थान के मजिस्ट्रेट की हैसियत से किस तरह बेदखली के खिलाफ फैसला दे सकते है ? उनके अन्तर मे निहित स्वार्थ उनसे कहेगा कि "अरे, अगर बेदखली प्रथा समाप्त होगी, तो तू कहाँ रहेगा ?" इसी तरह जनता के प्रतिनिधि शासकगण भी उसी वर्ग के हैं। वे

भी क्या करें ? परिस्थिति की मजबूरी उनके लिए भी है। कभी-कभी मेरे मन में यह भी शका उठती है कि क्या हम जन-सेवक कहलानेवाले भी इस अन्याय का प्रतिकार करने के लायक है। आखिर हम भी तो उसी वर्ग के हैं। हमारे सामने भी जब सम्पत्ति-विसर्जन और श्रम-आधारित जीवन की बात आती है, तो हम भी घबरा जाते हैं और बगलें झॉकने लगते है।

अतएव जो लोग शासन मुक्त तथा शोषण-मुक्त समाज की दिशा मे सोचते हैं, उन्हे अत्यन्त गम्भीर विचार करना होगा। उन्हे अपने को तौलकर देखना होगा कि क्या वे इस क्राति के वाहन बनने की पात्रता रखते है ? क्या वे उत्पादक-वर्ग मे अपने को विलीन करने का हौसला रखते हैं ? क्या वे 'करो या मरो' का मत्र जपते हुए वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया मे अपने को डालने को प्रस्तुत हैं ? अगर नहीं, तो क्या वे भी जन-सेवक के रूप मे शोपण-चक्र की एक कडी मात्र नहीं हैं ? मै जब इन बातो को सोचता हूँ, तो कभी-कभी दिक् हारा हो जाता हूँ और मेरे भीतर निराशा उत्पन्न हो जाती है। लेकिन मानव की मानवता पर आस्था के कारण जल्दी ही निश्चिन्त हो जाता हूँ। सोचता हूँ कि ऐसी परिस्थिति है, तभी तो गाधी का जन्म हुआ। इसलिए हम सबको इन बातो से परेशान न होकर परिस्थिति की जड काटने मे एकाग्र होना चाहिए।

आन्दोलन का असर

पेगही के बेदखली के प्रश्न को लेकर हमने जो आन्दोलन किया, उसका असर अच्छा हुआ। यद्यपि पहले बताये हुए कारणो से हम असफल रहे, फिर भी इस इलाके मे बेदखली का जोर कम हो गया। अधिकारी वर्ग जमींदारों का साथ देता था, इसलिए 'गरीब मजदूर' कानून से हार जरूर जाता था, लेकिन हमारे आन्दोलन के कारण जमीनवाले को कानून का सहारा लेकर मुकदमा जीतने मे कम परेशानी और खर्च नही उठाना पडता था। उन दिनों बिहारके बहुत से जिले में

भूदान-कार्यकर्ताओ द्वारा बेदखली के खिलाफ आन्दोलन चलाया गया। यद्यपि सभी जगह करीब-करीब वैसा ही अनुभव आया, जैसा हमे यहाँ आया था, फिर भी बेदखली के खिलाफ जन-जाग्रति हुई। एक बार मुजफ्फरपुर मे कार्यकर्ताओ की बैठक मे मेरी उपस्थिति मे बेदखली की चर्चा चली। कार्यकर्ताओं ने कहा कि एक-दो मामलो मे हम सफल होते है, लेकिन अधिकाश मे हम असफल होते है। मैने पूछा कि बेदखली के कितने प्रतिशत मामले आप लोग अपने हाथ मे ले पाते है ? तो लोगो ने अन्दाज किया कि हजार मे एक भी नही।

मैने कहा कि "पुराने जमाने से किसानो का परम्परा से यह हक है कि वे जब चाहे जमीन दें और जब चाहे वापस ले ले, तो क्या आपके आन्दोलन के फलस्वरूप बटाईदारो मे यह चेतना नहीं आयी है कि यद्यपि मजबूरी के कारण वे बेदखली को रोक नही सकते है, फिर भी यह अन्याय है ?" तो उन्होने कहा : "हॉ, जनता मे यह बोध निश्चित रूप से आ रहा है।" मैने कहा : "फिर आप चिन्ता न करे। आप काम जारी रखे। अगर आप अपनी जनता मे यह बोध पैदा कर दें कि बेदखल करना अन्याय है, तो आपका काम हो गया। यह अन्याय-बोध ही इस प्रथा का अन्त कर देगा। तिलक महाराज स्वराज्य हासिल करके मरे थे क्या ? उन्होने भारतीय जनता के दिल मे 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है', यह बोध पैदा कर दिया था। इस बोध ने ही देश को आजाद किया है।

जनता की दिलचस्पी

खादीग्राम ने इस प्रश्न को उठाया, इसलिए मुँगेर जिले की गरीब जनता इस केन्द्र के प्रति आकर्पित हुई। समाजवादी तथा साम्यवादी लोग भी प्रभावित हुए। तब से सभी पक्षो के लोग हमसे सहयोग करने लगे। जिले मे तथा आसपास के गॉवो मे सम्पर्क करने के लिए यह घटना बहुत महत्त्व की साबित हुई।

आसपास के हर तबके के लोग हमारे पास आने लगे। वे अपनी

समस्याएँ हमारे सामने रखते थे और हम लोग उनके गाँवों में जाकर उन्हें समझाने की कोशिश करते थे। साल-डेढ़ साल से हम लोग हर शुक्रवार को गाँव में जाते थे, लेकिन वहाँ गपशप के अलावा दूसरा कोई कार्यक्रम नहीं रहता था। लेकिन अब हम कुछ निश्चित कार्यक्रम लेकर वहाँ जाने लगे। इससे ग्रामीण जनता को हमसे दिलचस्पी पैदा हुई। साथ ही साथ हमारी घनिष्ठता भी बढ़ी।

यों १९५५ से खादीग्राम के जीवन का दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। पहला अध्याय भीतरी संगठन तथा अपने पारिवारिक जीवन में श्रम और साम्य की साधना का था, दूसरा अध्याय जन-सम्पर्क-साधना का हुआ। इसका अनुभव फिर कभी लिखूँगा। ०००

क्रान्ति और श्रम-साधना : २३ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२-९-'५८

सन् १९५४ मे बीमारी की हालत मे ही मुझे सर्व-सेवा-सघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेवारी लेनी पडी। मई में जिम्मेवारी लेते ही जीवन-दान का सिलसिला शुरू हुआ। उसी साल जुलाई मे मुजफ्फरपुर मे शिविर हुआ इसी अवसर पर बिहार और उत्तर प्रदेश का 'भूदान-यज्ञ' साप्ताहिक मिलकर एक हो गया और वह सर्व-सेवा-सघ के मुखपत्र के रूप मे प्रकाशित होने लगा। लिखने-पढने से मेरा सदा से असहयोग रहा है, यह तुम जानती ही हो, फिर भी अपने परिवार मे इतने विद्वानो के होते हुए भी मुझे ही उसका सम्पादक बनना पडा। दादा धर्माधिकारी ने यह पत्र चलाने की जिम्मेदारी ली, लेकिन सम्पादक बनने को वे तैयार नही हुए। उन्होने कहा : "धीरेन्द्र भाई का नाम और मेरा काम।"

जुलाई मे मुजफ्फरपुर के शिविर के अवसर पर सर्व-सेवा-संघ की बैठक होने के कारण सभी प्रदेशों के भूदान कार्यकर्ता वहाँ आये थे।

उडीसा की यात्रा

लोग चाहते थे कि अध्यक्ष की हैसियत से मैं विभिन्न प्रदेशो का दौरा करूँ, पर कमर के दर्द के कारण मैं मजबूर था। जून में बगाल के शिविर में मैं गया था। पहले भी बीच-बीच मे बाहर जाता था। लोग मुझे पालकी पर लेटाकर ले जाया करते थे। इसलिए कतई इनकार करना सम्भव नही था। बिहार के बाद विनोबाजी उडीसा जानेवाले थे।

उडीसा मे उडीसा के साथी विनोबाजी की पूर्वतैयारी मे लगे थे। उडीसा के वयोवृद्ध नेता श्री गोपबन्धु चौधरी ने मुझसे कहा : "आपको उड़ीसा की यात्रा करनी ही होगी। दर्द की चिन्ता न करें। ऐसे ढग

से यात्रा होगी कि आपको यही लगेगा कि घर पर ही लेटे हुए हैं।" गोपबाबू के आदेश को अस्वीकार करना सम्भव नहीं था। मैं यात्रा के लिए तैयार हो गया। उस दौरे में मैंने शासन-मुक्त समाज का विचार तथा नयी तालीम के ग्रामीकरण की प्रक्रिया विस्तार से समझायी। इससे उड़ीसा का सारा बौद्धिक वर्ग अत्यन्त प्रभावित हुआ। विश्वविद्यालय के लोग कहते थे कि "हमें इसका अन्दाज ही नहीं था कि इसके पीछे इतनी फिलासफी है।" मैं उनसे कहा करता था : "आप लोग पण्डित लोग हैं, इसीलिए आप प्राचीन ग्रन्थों से बाहर नहीं निकलते। आधुनिक विचारों का भी कुछ अध्ययन किया कीजिये।"

उड़ीसा की यात्रा से कार्यकर्ताओं को भी पर्याप्त प्रेरणा मिली। मैंने देखा कि इस प्रदेश में जितने निष्ठावान् कार्यकर्ता हैं, उतने भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं हैं। लेकिन उनका बौद्धिक स्तर ऊँचा नहीं था। अध्ययन का अभ्यास था ही नहीं। शायद चिन्तन भी नहीं करते थे। विभिन्न कॉलेजों के अध्यापक तो शिकायत ही करते थे कि "यहाँ के भूदानवाले तो हमें अछूत ही मानते हैं।" मैंने गोपबाबू, मालती देवी आदि उड़ीसा के नेताओं से इस बात की चर्चा की। उन्होंने कहा कि "हमारे यहाँ ऐसा कोई कार्यकर्ता नहीं है, जो इनसे सम्पर्क कर सके।" मेरा कहना था कि "आज की दुनिया विचार-मंथन की दुनिया है। अगर हमारे कार्यकर्ता बौद्धिक स्तर पर अपने विचार का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे, तो सर्वोदय क्रान्ति आगे नहीं बढ़ेगी।" काफी चर्चा के बाद यह तय हुआ कि मैं खादीग्राम से किसी कार्यकर्ता को भेज दूँ, जो बौद्धिक वर्ग से सम्पर्क करे। उड़ीसा के साथियों ने यह वादा किया कि वे दो-चार नौजवानों को उनके साथ कर देंगे, ताकि छह माह के बाद भी यह काम जारी रहे। खादीग्राम लौटकर मैंने भाई शैलेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय को इस कार्य के लिए उड़ीसा भेज दिया।

उड़ीसा की यात्रा के बाद जब मैं खादीग्राम लौटा, तो मेरी कमर का दर्द करीब-करीब ठीक हो गया। उसका तात्कालिक कारण यही

समझा गया कि होमियोपैथी इलाज से ठीक हुआ । लेकिन मै मानता हूँ कि भगवान् ने ही उसे ठीक किया । जिस समय खादीग्राम के साथी मेरा इलाज और मालिश आदि करते थे, तो मैं उनसे कहा करता था कि तुम लोग मेहरबानी करके मेरा इलाज मत करो। ईश्वर की इच्छा है कि मैं चारपाई पर पडा रहूँ, तो पडा हूँ। जिस दिन उसे मुझसे कुछ दूसरा काम लेना होगा, तो वह मेरी कमर ठीक कर देगा । मैं उनसे कहता था कि लोग कहते हैं कि भगवान् 'मूक करोति वाचाल पगु लघयते गिरिम् ।' वे मूक को वाचाल बनाते हैं और पगु से पहाड पार कराते है । विनोद मे मै कहा करता था कि ईश्वर एक विषय मे तो पास हो चुके है, देखना है दूसरे विषय मे पास होते है या नहीं ? एक विषय के बारे मे इसलिए कहता था कि वचपन से मै वाचाल नही था । स्कूल-कॉलेज मे कभी किसी वाद-विवाद मे भाग नहीं लेता था । घर पर भी मै बहुत कम बोलता था । और असहयोग-आन्दोलन मे शामिल होकर बोलना तो दूर रहा, बहुत कम मौको पर जुलूस या सार्वजनिक सभा में शामिल होता था । १६ साल मूक ग्राम-सेवा करने के बाद १९३७-३८ में मैं सभाओ मे भाषण करने लगा । जो लोग मेरे भाषण सुनते, वे आश्चर्य मे पड जाते थे कि मैने बोलना कब से शुरू कर दिया ।

कमर का दर्द मिटा

१९४९ मे जब पहले-पहल बिहार के काग्रेस-शिविर मे मैने भाषण किया, तो ध्वजाभाई, रामदेव भाई, लक्ष्मीबाबू आदि मेरे पुराने मित्र आश्चर्य मे पड गये । कहने लगे : "धीरेन्द्र, तुम कब से लेक्चर देने लगे ?" मेरे भाई साहब रिटायर होकर कुछ दिन सेवापुरी आकर रहे थे । वे मेरे साथियों से कहा करते थे कि "अरे, इसके पेट पर गोली मारने पर भी मुँह से बोली नही निकलती थी । आज यह सारे हिन्दुस्तान मे घूम-घूमकर लेक्चर देता फिरता है । यह भी एक अजीब तमाशा है ।" इन्हीं कारणो से मै मानता था कि अगर मेरे जैसे 'मूक' को वह अपना काम लेने के लिए 'वाचाल' बना सकता है, तो उसे जब आवश्यकता महसूस

होगी, तो मेरी कमर भी ठीक कर देगा। हुआ भी वही, उडीसा से लौटने के दो-तीन माह बाद ही मै खादीग्राम के पास की पहाडी पर चढकर उतर आया।

आज भी मेरा विश्वास है कि जीवन की जितनी घटनाऍ घटी है, वे सब ईश्वरीय योजनाऍ ही है। सेवाग्राम से खादीग्राम आना, खादीग्राम आते ही कमर का दर्द होना—आदि सब उसीका विधान था। नही तो उस समय के आन्दोलन के प्रवाह मे मुझे कौन बैठने देता? न बैठता, तो शायद खादीग्राम न बन पाता। फिर जब खादीग्राम जम गया और मुझे अखिल भारतीय जिम्मेदारी उठानी पडी, तो एकाएक कमर ठीक हो गयी। नि सदेह इस समय ईश्वर मुझे देशभर मे घुमाकर विचार-प्रचार कराना चाहता था।

अगस्त १९५४ से अगस्त ५५ तक मै लगातार सारे देश मे प्रवास करता रहा। उस समय मैं जो कुछ बोलता था, प्रश्नो के जो उत्तर देता था, वह सब 'भूदान-यज्ञ' मे प्रकाशित होता था। तुमने देखा होगा कि दौरे के सिलसिले मे मैं श्रम-आधारित जीवन पर अधिक जोर देने लगा था। नयी तालीम के महत्त्व पर भी काफी जोर देता था। नयी तालीम के लिए गया सम्मेलन के पहले से ही बोलने और लिखने लगा था, क्योंकि मै देखता था कि बिना नयी तालीम के यह आन्दोलन हवा मे रह जायगा। मै कहा करता था कि जिस तरह आजादी की लडाई के दिनों में काग्रेस द्वारा सत्याग्रह, पिकेटिंग आदि के साथ साथ खादी-ग्रामोद्योग आदि का विधायक कार्य चलता था और वे कार्यक्रम एक-दूसरे के सहारे से ही चलते थे, उसी तरह आज की क्रान्ति के सदर्भ मे साहित्य-प्रचार, शिविर, सम्मेलन, पदयात्रा आदि के जरिये आन्दोलन के साथ साथ नयी तालीम का विधायक काम क्रान्ति-प्रक्रिया के अभिन्न अग के रूप में चलना चाहिए। मै कहता था कि ये दोनों कार्यक्रम भी एक-दूसरे के सहारे ही चलेगे। एक के बिना दूसरा पगु रहेगा। क्रान्ति के सदर्भ मे

श्रम-आधारित जीवन पर जोर

क्रान्ति तथा नयी तालीम के कार्यक्रम को मै देवता और वाहन की तुलना देता था। कहता था कि क्रान्तिदेवी नयी तालीम की पीठ पर ही बैठकर आगे चल सकती है और क्रान्तिदेवी को पीठ पर बैठाये बिना नयी तालीम की शालाएँ प्राणहीन जड पदार्थ जैसी ही रहेगी। उन दिनो के मेरे लेख और भाषण इसी आशय के हुआ करते थे। मेरे इन विचारो को सर्व-सेवा-सघ ने पुस्तिका के रूप मे छपवाया भी था।

सम्मेलन मे जब विनोबाजी ने तालीमी सघ को भी सर्व-सेवा-सघ मे विलीन होने की सलाह दी, तो मुझ बडी खुशी हुई, क्योकि मुझे इसकी आशा बनी कि अब सर्व-सेवा-सघ की योजना मे आन्दोलन तथा नयी तालीम का काम उसी तरह से अभिन्न रूप से चलेगा, जिसकी कल्पना मैं करता था। दुर्भाग्य से तालीमी सघ सर्व सेवा सघ मे विलीन नही हो सका। इस कारण आन्दोलन और नयी तालीम का काम पूर्ववत् अलग-अलग चलता रहा। मै मानता हूँ कि इससे आन्दोलन के सघटन और विकास मे हानि हुई है। जब तक ये दोनो साथ नही चलेगे, तब तक आन्दोलन को बल नही मिलेगा। बल्कि ग्रामदान के सदर्भ मे नयी तालीम के कार्यक्रम को ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद मानना चाहिए। वस्तुतः पोषण, शिक्षण तथा रक्षण ही ग्राम-स्वराज्य की बुनियाद है। बिना शिक्षण के पोषण का कार्यक्रम आगे नहा बढ सकता, क्योकि उत्पादन की क्रिया वैज्ञानिक न होने पर आज की परिस्थिति मे लोग पेट भी ठीक से नही भर सकेगे। दूसरे अगो का पोषण तो दूर की बात है। स्पष्ट है कि ग्राम-स्वराज्य मे रक्षण अहिंसात्मक रक्षण होगा। अहिंसात्मक रक्षण की सभावना सास्कृतिक विकास की परिणति मे ही है। यह तो सभी समझ सकते है कि सास्कृतिक विकास भी मूलतः शिक्षण-प्रक्रिया ही है। हमारे आन्दोलन का ध्येय ग्राम-स्वराज्य है, तो उसका माध्यम नयी तालीम ही हो सकती है।

नयी तालीम के अलावा कार्यकर्ता के श्रमजीवी बनने पर मैं अत्यधिक जोर देता था और प्रत्येक शिविर, सम्मेलन तथा बैठक मे इसे दोहराता

था, क्योंकि मेरी धारणा है कि भू-क्रान्ति के सन्देशवाहक यदि श्रमजीवी बनने की कोशिश में श्रम-आधारित जीवन नहीं बनायेंगे, तो वे क्रान्ति के वाहक की हैसियत में पंगु हो जायगे। मेरे ऐसे भाषणों से कितने ही प्रान्तों के कार्यकर्ताओं में खलबली मच जाती थी। कुछ कार्यकर्ता तो इस कारण मुझसे अप्रसन्न भी रहते थे।

इसी साल दिसम्बर या जनवरी में मेरा उत्तर प्रदेश का कार्यक्रम बना। उत्तर प्रदेश के लोग मुझे अपने प्रदेश का बताते हैं। वहाँ मैने अपनी जिन्दगी के सबसे बेहतरीन ३० साल बिताये है और विधायक कार्य से जनता की सेवा की है। उसी प्रान्त ने मुझे अनुभव देकर व्यापक काम करने के योग्य बनाया है। अतः उस प्रदेश के भाई मुझ पर अपना विशेष अधिकार मानते है। मै भी वहाँ के कार्यकर्ताओं पर अपना विशेष अधिकार मानता हूँ। इसलिए वहाँ के दौरे मे मै अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे अपने विचार प्रकट करने लगा।

मेरे दौरे का लाभ लेकर करण भाई ने उत्तर प्रदेश के तमाम कार्यकर्ताओं तथा मित्रो के दो शिविर रखे। उत्तर प्रदेश बहुत बडा प्रदेश होने के कारण पश्चिमी तथा पूर्वी हिस्से के लिए दो कार्यकर्ताओं के सम्मेलन रखने पडे। पश्चिमी सम्मेलन आगरा मे शिविर रखा गया और पूर्वी सम्मेलन फतेहपुर में। दोनो सम्मेलनो मे दादा धर्माधिकारी और बहन निर्मला भी शामिल हुई।

सम्मेलन मे और तमाम विचारो के अलावा कार्यकर्ताओं से श्रम-आधारित जीवन के बारे मे आग्रहपूर्वक कहा। उनसे स्पष्ट रूप से कह दिया कि यदि कार्यकर्ता अपने जीवन मे वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया को शुरू नहीं करते हैं, तो वे इस क्रांति का संदेश लेकर जनता मे जाने की पात्रता ही खो देते है। मैने उनसे सीधा सवाल किया : "आप अभी नारा लगा रहे थे 'जमीन किसकी ? जो जोते उसकी !' तो अगर यह नारा सफल हो जाय, तो आपकी क्या दशा होगी ?' मै उनसे कहता था कि

"आप देहातो मे जाकर २५-३० या ४० बीघेवाले जमीदार या किसान से कहते है कि आपको जमीन रखने का हक नहीं है। जितनी जमीन आप खुद अपने हाथ से और अपने परिवार की मदद से जोत सकते है, उतनी अपने पास रखिये, बाकी जमीन भूमिहीनो को बॉट दीजिये।" अर्थात् आप अपने ही जैसे मध्यम-वर्ग के एक व्यक्ति से कहते हैं कि वे सपरिवार शरीर श्रम से अपना गुजारा करे। मजदूर खटाकर मुनाफा लेकर उस पर गुजारा न करे। मै आपसे पूछता हूँ कि "मान लीजिये, वह व्यक्ति आपको चुनौती दे कि अच्छी बात है, आप मेरी जगह पर आइये और बताइये कि शरीर श्रम से उतनी ही जमीन जोतकर कैसे गुजारा किया जाता है? अपने गुजारे का जरिया आप मुझे दे दीजिये, तो आपमे से कितने नौजवान ऐसे है, जो इस चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं?"

इस प्रकार दोनो शिविरो मे मैने बडे आग्रह तथा कडाई के साथ यह यह बात रखी कि क्राति जिस स्तर पर पहुँच चुकी है, उस स्तर पर कार्यकर्ता यदि श्रम-आधारित जीवन अपनाने का काम न करें, तो इसकी आगे की प्रगति असम्भव है। जब लोग यह सवाल करते थे कि सदियो की आदत तथा सस्कार एक दिन मे कैसे बदल सकता है? तो मैं कहता था कि यह सही है कि एक दिन मे नहीं बदला जा सकता, लेकिन जो जहॉ है, वही से चलना तो शुरू कर सकता है। चलना शुरू करने के बाद यह भी हो सकता है कि तेज रफ्तार के कारण दिल्लीवाला कानपुरवाले से पहले पहुँच जाय, लेकिन चाहे जो पहले पहुँचे, सबको चलकर ही पहुँचना होगा। 'कलकत्ता चलो', 'कलकत्ता चलो' का नारा लगाने से कोई नही पहुँचेगा, उसी तरह अगर वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया मे सबको उत्पादक श्रमिक बनना है, तो श्रमजीवी बनने की साधना मे सबको लगना ही होगा। कोई आगे रहेगा, तो कोई पीछे, लेकिन सबको एक ही पथ का पथिक बनना पडेगा।

मेरे भाषणो से कार्यकर्ताओ मे बडी खलबली मची। उनमे असतोष

भी पैदा हुआ। दादा धर्माधिकारी, विमला बहन तथा करण भाई तक को बेचैनी हुई। दादा एक दार्शनिक विचारक हैं। वे तुरन्त विचार की तह तक पहुँच गये और निश्चिन्त हुए। लेकिन बहन विमला तथा करण भाई को उस दिन बेचैनी के कारण नींद नहीं आयी। करण भाई तो तड़के ३-३॥ बजे ही मेरे पास पहुँचे। कहने लगे : "आपके भाषणों ने हमें परेशानी में डाल दिया है। कार्यकर्ताओं के बारे में आपका जो विचार है, उसे देखते हुए हम सबको कोई अधिकार नहीं है कि हम इस आन्दोलन में रहें। अगर आप लोग इस ढंग से भाषण करेंगे, तो देश में कार्यकर्ता नहीं मिलेंगे। फिर यह क्रांति कहाँ रहेगी ?"

साथियों द्वारा विरोध

उन्होंने जयप्रकाश बाबू की बातों का भी हवाला दिया और कहा कि "श्रम जीवन का आपका यह आग्रह जयप्रकाश बाबू को भी पसंद नहीं है। वे भी कहते हैं कि 'धीरेन भाई अगर ऐसा आग्रह रखेंगे, तो अच्छे कार्यकर्ता आन्दोलन में नहीं आयेंगे'।"

हमेशा की तरह करण भाई उस दिन भी मुझसे खूब उलझे। उनकी बातों में व्याकुलता थी। कहने लगे "इस विचार से देश में क्रान्ति नहीं होगी। आप या आप जैसे इने-गिने आदमी कहीं बैठकर कुछ साथियों के साथ श्रम-साधना कर टॉल्स्टॉय फार्म जैसा कुछ केन्द्र भले ही बना लें, लेकिन इससे समाज-क्रांति नहीं होगी।" मैंने पूछा "क्या तुम मानते हो कि टॉल्स्टॉय फार्म ने क्रांति नहीं की ? टॉल्स्टॉय फार्म ने तो गांधी पैदा किया और आज जो हम क्रांति की बात करते हैं, उसकी गंगोत्री तो टॉल्स्टॉय जैसे लोगों की साधना ही थी न ?"

इस प्रकार काफी बहस हुई। अन्त में करण भाई ने कहा कि "आपकी दलील अकाट्य है, लेकिन मन को समाधान नहीं है। आपके ऐसे भाषणों से आन्दोलन को हानि पहुँचेगी।" मैंने उनसे कहा कि "अगर कार्यकर्ता इस दिशा में कदम उठा लें, तो क्रांति हजारगुनी गति से आगे बढ़ेगी। और अगर ऐसा नहीं हुआ, तो हमारी क्रांति निस्तेज हो

जायगी।" लेकिन आखिर तक वे कहते रहे कि "आपको ऐसा प्रचार बन्द करना चाहिए।"

सवेरा होते ही बहन विमला मेरे पास पहुँची। उन्होंने भी अपने स्वभावानुकूल मीठे शब्दों मे अपनी परेशानी बतायी। उन्हे मैंने विस्तार से अपने विचार समझाये। विचार उनकी समझ मे आ गया, लेकिन उसकी व्यावहारिकता पर वे शका करती रहीं। उन्होने पूछा : "तो क्या मैं दौरा बन्द करके कहीं बैठकर इस साधना मे लगूँ?" मैने कहा : "दौरा बन्द करने की आवश्यकता नहीं, लेकिन बीच बीच मे थोडे-थोडे दिनों के लिए किसी आश्रम मे बैठकर श्रम का अभ्यास करना ही चाहिए।"

उस दिन सारे शिविर मे इन्हीं बातो की चर्चा रही। मैने दादा से पूछा : "आप विचारक है, बताइये इसमें कहाँ विचार-दोष है?" उन्होंने कहा : "आरम्भ में मुझे भी कुछ घबराहट थी, लेकिन मैने विचार कर लिया और मैं मानता हूँ कि आपका विचार बिलकुल सही है। क्राति का अगला कदम यही है, भले ही हम सब कार्यकर्ता इस कदम के लिए असमर्थ हो जायँ।"

जयप्रकाश बाबू जैसे अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा विचारशील व्यक्ति के मतभेद और करण भाई जैसे अनन्य साथी के असन्तोष के बावजूद मैं जहाँ कहीं जाता था, अपने प्रवचन मे इसी विचार पर जोर देता था, क्योकि मैं उसी तरह निश्चयपूर्वक देख रहा था कि श्रम-साधना के बिना हमारी क्रान्ति एक कदम भी आगे नहीं बढ सकती।

यह सब चर्चा चलती रही और मेरी यात्रा भी साथ साथ चलती रही। तीन-चार माह के बाद बगाल के बॉकुडा मे विनोबा-पडाव पर

विनोबा की अनुमति

सर्व-सेवा-सघ की बैठक बुलायी गयी। विनोबाजी के पडाव पर सर्व-सेवा-सघ की बैठक होने पर देश के करीब सभी प्रमुख कार्यकर्ता मोजूद रहते हैं। वहाँ भी करण भाई ने और साथियो के साथ आग्रहपूर्वक कहा कि "आपको यह प्रचार बन्द करना चाहिए।" मैने उन लोगो से कहा

कि "मैं इस चीज को स्पष्ट देख रहा हूँ, उसे न कहूँ यह कैसे होगा ? फिर मानना न मानना आप लोगों के हाथ में है।" लेकिन वे कहने लगे कि "आपके इस प्रकार के भाषणों ने आन्दोलन को हानि पहुँचायी है। मैंने उनसे कहा कि "यह आन्दोलन विनोबाजी ने चलाया है, वे ही इसको आगे बढ़ा सकते हैं। हम सब उनके पीछे चलनेवाले हैं। अगर वे भी समझते हों कि इससे आन्दोलन को धक्का पहुँचेगा, तो मैं जरूर यह कहना बन्द कर दूँगा। लेकिन फिर मेरे पास दूसरा कुछ कहने के लिए रह ही नहीं जायगा। इसलिए वैसी हालत में मैं अपनी साधना में लग जाऊँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि इसीमें से क्रान्ति निकलेगी।"

आखिर करण भाई ने मुझे विनोबाजी के पास पेश कर दिया। अण्णासाहब को भी बुला लिया था। करण भाई ने अपनी तथा दूसरे साथियों की बात उनके सामने रखी। विनोबाजी मेरे विचारों से परिचित थे। उन्होंने मुझसे विशेष चर्चा नहीं की। अण्णासाहब की राय पूछी। अण्णासाहब ने मेरे ही पक्ष में कहा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा "धीरेन्द्र भाई का इस पहलू पर जोर देना आवश्यक है।" विनोबाजी ने 'हाँ' या 'ना' कोई राय नहीं दी। कहा कि "आप सर्व-सेवा संघ के दफ्तर को इस जीवन पर ढालिये।" मैंने कहा : "हाँ, ऐसा तो करेंगे ही, लेकिन आप साफ-साफ बताइये कि मैं अपना विचार कहना जारी रखूँ या बन्द करूँ ?" विनोबाजी मुस्कराये और बोले : "आप जरूर कहिये। लेकिन ऐसे ढंग से कहिये, जिससे न कर सकनेवालों पर असर ठीक हो।" मैंने पूछा : "भाषा तो मेरी ही होगी न ?" तो विनोबाजी हँस पड़े।

इसी प्रकार से १९५५ के अगस्त तक मैंने श्रम के विचार को अत्यन्त आग्रहपूर्वक हर प्रांत के कार्यकर्ताओं के सामने रखा। राजस्थान और उड़ीसा के अलावा अन्य प्रदेशों में कार्यकर्ताओं में थोड़े समय के लिए बड़ी बेचैनी रही, लेकिन थोड़े ही दिनों में वे महसूस करने लगे कि इस क्रांति के लिए श्रम-आधारित जीवन का होना आवश्यक है। ○ ○ ○

: २४ :

तन्त्रमुक्ति और निधिमुक्ति

श्रमभारती, खादीग्राम
५-९-'५८

सालभर देश के कोने-कोने की यात्रा करके मुझे एक नयी स्फूर्ति मिली । लम्बी बीमारी के कारण कहीं नहीं जा सका था । अढाई वर्ष के बाद विभिन्न प्रदेशो के मित्रो से मिलकर बडी खुशी हुई । भूदान-आन्दोलन के कारण बहुत से नये मित्र मिले । वे सब 'सर्वोदय' और 'भूदान-यज्ञ' मे मेरे विचारो को देखते रहते थे । यात्रा से वे मेरे और निकट आ गये थे । आन्दोलन की गतिविधि के बारे मे सबसे चर्चा होती थी ।

मित्रो से चर्चाएँ करके और स्थिति का अध्ययन करके मुझे ऐसा लगा कि अब समय आ गया है कि भूदान-आन्दोलन सस्थागत न रहकर जन-आन्दोलन का रूप ग्रहण करे । मैंने देखा कि प्रान्तो मे भूदान समिति के द्वारा नियुक्त कार्यकर्ताओ के अलावा दूसरे लोग भूदान का कोई काम नही करते थे । केवल जहाँ विनोबाजी जाते थे, वही कुछ दूसरे लोगो मे चहल-पहल होती थी । मैने महसूस किया कि आम जनता की यही धारणा है कि भूदान का काम सर्व-सेवा-सघ का या भूदान समिति का काम है और जैसे चरखा-सघ द्वारा खादी का काम चलता था, वैसे ही सर्व-सेवा-सघ की प्रवृत्ति के रूप मे यह काम चल रहा है ।

मैने महसूस किया कि इस तरह से आन्दोलन की प्रगति नहीं हो सकती । सञ्चित निधि तथा तन्त्रबद्ध कार्यक्रम की एक निर्दिष्ट मर्यादा होती है । उस मर्यादा पर हम पहुँच गये है । अतएव आज यदि आन्दोलन को आगे बढाना है, तो उसे तन्त्र तथा निधि के बाहर निकालना होगा । गाधी-निधि के आधार पर आन्दोलन चलाने के बारे मे मेरा विचार तुम्हे

मालूम हुई है। इस मदद को मैंने स्वीकार किया था। इसलिए नहीं कि मुझे उससे समाधान था, बल्कि इसलिए कि द्रष्टा पुरुष विनोबा ने कहा था।

उत्तर प्रदेश और बिहार के दौरे के सिलसिले में यह विचार मुझे सूझा और मई में बिहार में जिला समिति के संयोजक तथा मुख्य कार्यकर्ताओं की बैठक में मैंने पहले-पहल उसे व्यक्त किया। मैंने उस बैठक में कार्यकर्ताओं से अपील की कि वे तन्त्रमुक्त होकर जनता में घुसने की कोशिश करें। मेरे इस विचार पर काफी चर्चा हुई। साथियों को असम्भव-सा मालूम होने लगा। लेकिन काफी विचार-विनिमय के बाद उन्हें भी लगा कि मैं ठीक कह रहा हूँ। उस समय बिहार प्रान्तीय भूदान समिति के संयोजक लक्ष्मीबाबू थे। उन्होंने अपने-आपको तन्त्र-मुक्त करके सीधे जनता में प्रवेश करने की बात कही। मैंने साथियों से अपील की कि वे लक्ष्मीबाबू को छोड़ दें। क्योंकि मैं मानता था कि जब तक कुछ मुख्य कार्यकर्ता तन्त्रमुक्त तथा निधिमुक्त नहीं हो जायँगे, तब तक इस विचार को प्रेरणा नहीं मिलेगी। लेकिन बिहार के साथियों को लक्ष्मीबाबू को छोड़ना पसन्द नहीं था। वे कुछ धर्म-संकट में पड़ गये, क्योंकि मेरे विचार को वे पसन्द कर चुके थे। आखिर में उन्होंने यही तय किया कि विनोबाजी से पूछा जाय। वे जैसा कहें, वैसा किया जाय।

लक्ष्मीबाबू को छोड़ने की माँग

वे विनोबाजी से पूछने गये। विनोबाजी ने कहा कि लक्ष्मीबाबू तो स्वभाव से ही तन्त्रमुक्त हैं। उनके लिए तन्त्रमुक्ति की आवश्यकता नहीं है। वे वही काम करें, जो कर रहे हैं। बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि लक्ष्मीबाबू को दफ्तर में बैठ जाना चाहिए। बिहार के साथियों ने लौटकर मुझे विनोबाजी की सूचना बतायी। मुझे लगा कि अगर लक्ष्मी बाबू को इजाजत मिल जाती, तो उनके नेतृत्व में काफी नौजवान निकल आते, जो जन-आधारित रहकर जनता को प्रेरणा दे सकते थे। वह प्रेरणा वास्तविक जन-शक्ति का विकास करती। लेकिन विनोबाजी ने जब ऐसा कहा, तो मुझे लगा कि उसमें कुछ तथ्य होगा।

यद्यपि लक्ष्मीबाबू को तन्त्रमुक्ति की इजाजत नही मिली और मैंने एक सिपाही के नाते विनोबाजी के पीछे चलने का निश्चय कर रखा था, फिर भी मेरे मन मे वर्तमान परिस्थिति से समाधान नहीं था। मै स्पष्ट देख रहा था कि केन्द्रित निधि आधारित तथा तन्त्रबद्ध आन्दोलन एक निश्चित चहारदीवारी के भीतर घिरता चला जा रहा है।

तन्त्रमुक्ति का आवाहन

अतएव मैंने अपने विचार का प्रचार करना शुरू कर दिया। बिहार के कार्यकर्ताओ की बैठक के बाद मैं जहाँ भी गया, वहाँ मैंने तन्त्र के बाहर निकलकर जनता मे प्रवेश करने के लिए कार्यकर्ताओ का आवाहन किया। मेरा प्रवचन 'भूदान-यज्ञ' मे छपता था, इसलिए वह आवाहन देशभर के कार्यकर्ताओं तक पहुँचता रहता था। बिहार के छपरा, सहरसा तथा पटना जिलो के कुछ नौजवान भूदान-यज्ञ से वेतन आदि लेना बन्द करके जन-आधारित होकर काम करने लगे। छपरा के कुछ नौजवान मुझसे मार्ग-दर्शन लेने के लिए छपरा से खादीग्राम की ओर पैदल चल पडे। उत्तर प्रदेश के भी एकआध कार्यकर्ता निकले और कुछ निकलना चाहते थे। तन्त्रमुक्ति के विचार ने नौजवान कार्यकर्ताओ मे थोडी-सी हलचल पैदा कर दी। वह थोडी जरूर थी, लेकिन कुछ गहरी थी।

तन्त्रमुक्ति के विचार को व्यक्त करने के कारण कुछ साथियों को काफी परेशानी हुई। करण भाई तो बहुत नाराज हुए, जयप्रकाश बाबू ने भी असन्तोष प्रकट किया। वे कहने लगे कि "अगर आप लोग इस तरह विचार व्यक्त करते रहेगे, तो कार्यकर्ता भटक जायेगे और आन्दोलन बिखर जायगा।"

लेकिन मुझे साफ दिखता था कि चाहे कार्यकर्ता भटक जायँ और आन्दोलन बिखर जाय, परन्तु बिना तन्त्रमुक्ति के क्रान्ति अवश्य ही दब जायगी। इसलिए मैंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक अपने विचार व्यक्त करना जारी रखा।

श्रम-आधारित जीवन पर जोर देने के कारण करण भाई आदि साथियों की नाराजी की बात तुम्हें मालूम ही है, लेकिन तन्त्रमुक्ति के प्रश्न पर जितनी ज्यादा नाराजी थी, उसके मुकाबले वह नगण्य थी। श्रम के विचार को तो लोग स्वीकार करते थे, परन्तु इसे कुछ अव्यावहारिक मानते। इसलिए मेरे आग्रह से वे कुछ परेशान होते थे।

संघ की बैठक मे चर्चा

तन्त्रमुक्ति के विचार को लोग खतरनाक मानते थे। वे घबड़ाते थे कि इस विचार के कारण आन्दोलन तितर-बितर हो जायगा। इसलिए लोग मुझसे आकर लडते भी थे।

आखिर वर्धा मे सर्व-सेवा-संघ की बैठक मे लोगो ने यह चर्चा छेड़ दी और कहा कि संघ को इसके बारे मे नीति तय करनी चाहिए। संघ के सदस्यों मे दो मत थे। भाई सिद्धराजजी आदि कहते थे कि किसी न किसीको तो आगे के कदम का जिक्र करना ही होगा। धीरेन्द्र भाई हमेशा क्रांति के अगले कदम की बात करते है। तो उनके लिए ऐसी बात करना स्वाभाविक है। लेकिन करण भाई आदि दूसरे मित्र इसका घोर विरोध करते थे। श्रद्धेय जाजूजी यह सारी चर्चा सुनते रहे। कहने लगे "आखिर इससे आप लोगो का हर्ज क्या है? अगर कुछ कार्यकर्ता आपके तन्त्र में न रहकर तथा आप पर खर्च का बोझ न डालकर स्वतन्त्र रूप से आन्दोलन का काम करते है, तो उसमे नुकसान क्या है?" करण भाई ने कहा "नुकसान यह है कि इससे कार्यकर्ताओ मे अनुशासन भंग होता है।" निर्णय तो कुछ हुआ नहीं। लेकिन इस बहस मे सुबह का करीब-करीब सारा समय चला गया। दोपहर के भोजन के बाद करण भाई ने मुझसे गरमागरम बहस की। मैने उन्हे समझाने की कोशिश की, लेकिन समझा नहीं सका। अन्त मे कहने लगे "आप चाहे जो कहिये, लेकिन मेरी समझ मे यह बात नहीं आती।"

बिहार के पाँच-सात कार्यकर्ता अत्यन्त निष्ठा के साथ तन्त्रमुक्त तथा निधिमुक्त जीवन बिताते हुए काम करते रहे। नेताओं का उन्हें कोई

प्रोत्साहन नहीं था। वे अत्यन्त कष्ट स्वीकार करके भी जन-आधारित रहे।

कुछ कार्यकर्ताओं का साहस

इतिहास उनका नाम नही जानेगा, लेकिन ऐसे नौ-जवान ही क्राति की बुनियाद डालनेवाले होते हैं। इन निधिमुक्त कार्यकर्ताओ में पटना के दो भाई धैर्य के साथ डटे रहे। पटना मे ८-१० नौजवान प्रान्तीय राजधानी नजदीक होने के कारण अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति मे काम करते थे। यद्यपि वे भूदान-यज्ञ समिति भी चलाते थे, फिर भी वे मेरे विचार की ओर आकृष्ट थे। उन्होने अपने जिले मे मेरा कार्यक्रम रखा। उस बार मै कार्यकर्ताओ की चर्चा मे तथा आम जनता मे क्राति के स्वरूप तथा उसकी प्रक्रिया पर ही अधिक बोलता था। उस यात्रा मे वहाँ के कार्यकर्ता तन्त्रमुक्ति के विभिन्न पहलुओ पर चर्चा करते थे। मैं अत्यन्त उत्साह के साथ उन्हे समझाता था। थोडे ही दिनो मे पटना के कार्य-कर्ताओ ने केन्द्रित निधि से मुक्त होने का निर्णय किया। उन्होने बिहार भूदान समिति के सामने अपना प्रस्ताव रखा। भूदान समिति के सदस्यो को यह बात जॅची नहीं। उन्होंने उन्हे काफी समझाया। लेकिन जवानो की सकल्प-निष्ठा देखकर उनका उत्साह भग करना ठीक नही समझा और उन्हे ऐसा करने की इजाजत दे दी।

दस-बारह जवानो की टोली पटना की बैठक से लौटकर सीधी मेरे पास आयी। मैंने उन्हे आगे के लिए सलाह दी और सचित निधि के

'कटनी पडाव' का सुझाव

बाहर जनता पर कैसे आधारित रहा जाय, इस पर चर्चा की। उन्होने सम्पत्तिदान, अन्नदान आदि साधनो की योजना बनायी थी। मैने उन्हे एक बात सुझायी और वह यह कि इस बार फसल कटने के समय तुम लोग दो-दो, तीन-तीन की टोली बनाकर श्रमदान माँगो। पदयात्रा करके 'कटनी पडाव' का सघटन करो। पदयात्रा के पडाव के लिए जैसी पूर्वतैयारी करते हो, वैसी ही इस पडाव की भी पूर्वतैयारी करो। तीन दिन का पडाव हो। पडाव के कुछ बडे किसानो से तय कर लो कि

वे तुम लोगों से अपनी फसल कटवाकर मजदूरी दें और तुम्हारे लिए श्रमदान भी दें। मैने उनसे कहा कि इसमें 'एक पंथ दो काज' होंगे। श्रम-आधारित जीवन का प्रचार होगा। आन्दोलन की वैचारिक भूमिका बढ़ेगी और साथ-साथ लोगों का तुम्हारे प्रति आकर्षण बढ़ेगा। जो कुछ अन्न मिलेगा, उसे बढ़ती ही मानो। यह योजना उन लोगों को अच्छी लगी और वे इस दिशा मे सोचने लगे।

जब से मै निधिमुक्ति और तन्त्रमुक्ति की बात करने लगा था, तभी से कटनी की योजना को कार्यकर्ताओं के समक्ष एक मुख्य योजना के रूप में रखता था। कहीं-कहीं कार्यकर्ताओं ने इसकी सफल आजमाइश भी की। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले मे भाई पुजारी राय का प्रयोग तथा बनारस जिले के भाई सरजू शर्मा का प्रयोग उल्लेखनीय है। बिहार के मुंगेर तथा पटना जिले के कार्यकर्ताओं मे काफी तैयारी थी। लेकिन लगातार बाढ़ और सूखा के कारण फसल की बरबादी के चलते वे इस दिशा मे विशेष प्रयोग नहीं कर सके।

ईश्वर अपनी सृष्टि को एक निश्चित दिशा तथा गति से ले जाता है। उसके लिए वह योजना भी बनाता है। हम लोगों के दिमाग में जो कुछ भी आता है, वह मात्र उसी योजना का अंग-मात्र है। नहीं तो एक ही समय मे बिना परस्पर चर्चा किये ही विभिन्न व्यक्तियों के मन मे एक ही बात क्यों आती है। यद्यपि विनोबाजी ने लक्ष्मीबाबू को भूदान समिति से मुक्त करने से इनकार किया, फिर भी निस्सदेह वे उसी समय आन्दोलन के सदर्भ मे तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति की बात सोचते रहे होंगे।

तन्त्रमुक्ति का प्रस्ताव

सन् १९५६ मे कांचीपुरम् सम्मेलन के अवसर पर विनोबाजी ने साथियों से कहा कि "आप लोग आन्दोलन को जनता के हाथ मे सौंप दें और इसे तन्त्रमुक्त और निधिमुक्त कर दें।" उन्होंने कार्यकर्ताओं के समक्ष प्रस्ताव रखा "अब आप लोग भूदान समितियों को तोड़ दें तथा गांधी-

निधि से मदद लेना बंद कर दें। वास्तविक क्रांति होगी या नहीं, इसकी चिन्ता किये बिना आप लोग क्रांति का एक नाटक ही कर डालिये।"

विनोबाजी के इस प्रस्ताव से मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई, लेकिन उस समय उस पर विशेष चर्चा नहीं हुई। उसी दिन दोपहर बाद कार्यकर्ताओं की बैठक में तंत्रमुक्ति की चर्चा छिडी। मैं प्रस्ताव के पक्ष मे तो था ही, लेकिन मैं स्वयं उसमे भाग न लेकर साथियो की प्रतिक्रिया का अध्ययन करता रहा। यद्यपि जयप्रकाश बाबू की शिकायत थी कि मैं तन्त्रमुक्ति के विचार का प्रचार करता हूँ, तथापि उस चर्चा मे जयप्रकाश बाबू ही ऐसे व्यक्ति थे, जो उस प्रस्ताव के पक्ष मे बोले। उन्होने साथियो से अपील की कि वे इसका समर्थन करे। परन्तु दूसरे लोगो ने उसका समर्थन नहीं किया। फलत. विनोबाजी का प्रस्ताव वहीं रह गया।

विनोबाजी के प्रस्ताव से मुझे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सम्मेलन से लौटकर मैं अपने साथियो मे और जोर के साथ इस विचार का प्रचार करने लगा। आखिर वह दिन आ ही गया, जब पलनी का प्रस्ताव पलनी मे सर्व सेवा संघ की प्रबंध समिति के सदस्यो तथा प्रांतों के प्रमुख कार्यकर्ताओ ने तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का प्रस्ताव स्वीकार किया। ईश्वर की लीला अनंत है। वह कब किससे किस रास्ते काम करा लेता है, समझ मे नहीं आता।

बैठक समाप्त होने जा रही थी। आन्दोलन के स्वरूप तथा गतिविधि पर काफी चर्चाएँ हुई। गाधी-निधि को भेजने के लिए बजट पर भी काफी विचार हुआ और आगे की योजनाओं पर विचार किया गया। आखिरी दिन ५ बजे बैठक समाप्त होने को थी। जयप्रकाश बाबू २ बजे अपना भाषण समाप्त करके चले गये। अन्त मे विनोबाजी ने अत्यंत मार्मिक भाषण किया। उन्होने कार्यकर्ताओ को संबोधन करके कहा कि आन्दोलन को व्यापक करने के लिए यह आवश्यक है कि वह तन्त्रबद्ध तथा संचित निधि-आधारित न हो। उन्होंने फिर एक बार अपील की

कि लोग हिम्मत करके गाधी-निधि का आधार तथा भूदान समिति का सगठन छोड द और जन-जन मे प्रवेश करे।

विनोबाजी के भाषण ने उपस्थित मित्रो को सम्मोहित कर लिया। अध्यक्ष पद पर बैठा हुआ मै सबके चेहरे देखता रहा। मुझे लगा कि साथियो की अन्तर्निहित आत्मा विनोबाजी के इस प्रस्ताव की ताईद कर रही है। भाई सिद्धराजजी ने कहा कि सबको एक दिन के लिए रोक ले। सब लोग इस प्रश्न पर अन्तिम निर्णय करके जायँ। आश्चर्य की बात यह है कि म अभी आधी ही बात कह पाया था कि देखा कि सिद्धराजजी खडे होकर वही बात कह रहे ह, जिसके लिए म उनसे कह रहा था। उन्होने सब लोगो को विचारार्थ रोक लिया। रात को बैठक हुई और बिना विशेष चर्चा के प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सबके चेहरो पर अदम्य उत्साह था। प्रस्ताव अमल मे किस तरह लाया जाय, इसी पर चर्चा चलने लगी। लोग इतने जोश मे थे कि काफी बुजुर्गों के रहते हुए भी बैठक पर कोई नियत्रण नहीं था। किसीको धैर्य नही था। सब अपनी-अपनी बात कहने को अधीर से दीखते थे। परिभाषा भी भिन्न थी। रात काफी हो चुकी थी। अन्त मे श्री शकरराव देव ने कहा कि "भाई, इस बहस म क्या पडते हो कि हाथी कैसा है। यह हाथीवाले से ही पूछो। अब बैठक समाप्त करो। हम लोगों ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया है। इसका व्यावहारिक स्वरूप कैसा हो, इस पर कल विनोबाजी के साथ ही चर्चा की जाय।"

दूसरे दिन खूब देर तक विनोबाजी के साथ चर्चा करके लोगो ने एक कामचलाऊ व्यावहारिक चित्र तैयार किया, जिसे लेकर लोग अपने-अपने प्रात को रवाना हो गये। सबको पूरा समाधान था। हम लोग बिहार लौटे। बिहार के आन्दोलन के सदर्भ मे आगे का कदम क्या हो, इस पर विचार करने के लिए पटना मे तुरन्त बैठक बुलाने का निश्चय पलनी में ही कर लिया था।

पटना मे बैठक हुई। जयप्रकाश बाबू ने तन्त्रमुक्ति के विचार को

विस्तृत रूप से समझाया। मैं बहुत नहीं बोला, क्योकि मै पहले ही बिहार के मित्रो के सामने काफी कह चुका था। मैंने केवल एक

पटना मे बैठक

विचार उनके सामने रखा। मैने कहा : "यद्यपि तन्त्र-मुक्ति क्रान्ति की प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, फिर भी तन्त्रमुक्ति-व्यवस्था के बारे मे सोचना होगा। यह ठीक है कि अगर हम आन्दोलन ही तन्त्रमुक्त होकर नही चला सके, तो आन्दोलन की परिणति से शासन-मुक्त समाज कैसे चलेगा ? लेकिन शासन-मुक्त समाज मे भी विशृखलता नही रहेगी, सुव्यवस्था रहेगी। अतएव तन्त्रमुक्त-आन्दोलन के सदर्भ मे मैने कहा कि यद्यपि भूदान समितियो को भग कर हम तन्त्रमुक्त होते है, तथापि हम सब का सघ कायम रहता है। तन्त्रमुक्ति का अर्थ सघमुक्ति नही है। हम सब सेवक सघबद्ध है, यह बोध हरएक मे होना चाहिए। इसके लिए समिति-पद्धति के बदले सम्मेलन-पद्धति अपनानी चाहिए। मेरा सुझाव यह था कि कोई भी कार्यकर्ता अपने क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को सम्मेलन मे बुला ले। उसमे वे आगे के कार्यक्रम के बारे मे चर्चा करे तथा आपसी विचार-विनिमय करे। उसी बैठक में दूसरी बैठक का स्थान और समय निर्धारित करे। आगन्तुक सेवक मिल-कर अपने क्षेत्र के सभी सेवको की सूची तैयार करे तथा अगली बैठक के लिए एक सयोजक निर्धारित कर लें। इसी प्रकार हर बैठक अगली बैठक के बारे में निर्णय करे। ऐसे सम्मेलन बडे क्षेत्र के भी हो सकते हैं और प्रादेशिक तथा अखिल भारतीय भी हो सकते है।"

कुछ मित्रो ने सस्थाओ की स्थिति के बारे मे पूछा। कुछ मित्रो ने सर्व-सेवा-सघ की स्थिति के बारे मे भी पूछा। मैंने उनसे कहा कि आन्दोलन के लिए सस्थाओं की आवश्यकता अवश्य होगी। लेकिन सस्था आन्दोलन नही चलायेगी। आन्दोलन तो व्यक्ति ही चलायेगा। जिस सेवक को जिस व्यक्ति से प्रेरणा मिलती है, उससे प्रेरणा लेगा, मार्गदर्शन भी लेगा। कोई सीधा विनोबा से लेगा, कोई जयप्रकाश बाबू से और कोई मुझसे या लक्ष्मीबाबू से भी लेगा। अधिकाश सेवकों को तो अपने

क्षेत्र के अधिक अनुभवी सेवको से ही मार्गदर्शन मिलेगा। मस्था को मने रिक्शा या मोटर गाडी के साथ तुलना की। बाजार तो आदमी करता है, लेकिन आदमी को बाजार जाने के लिए इन सवारियो की आवश्यकता पड सकती है। मनुष्य आवश्यकता पडने पर इन सवारियो का उपयोग कर लेता है। उसी तरह सेवक जनता के भरोसे आन्दोलन को चलायेगा। सस्थाएँ अपनी जगह पर उसी तरह से खडी रहेगी, जिस तरह रिक्शा अपने स्टैण्ड पर खडा रहता है। सेवक आवश्यकता पडने पर सस्थाओं का उसी तरह उपयोग करेगा, जिस तरह बाजार जानेवाला रिक्शे का इस्तेमाल करता है।

जिस समय मैं यह बात कह रहा था, उस समय मेरे मन मे एक दूसरा विचार आ गया। इधर कई साल से तरुण कार्यकर्ताओं की वृत्ति मे एक विशिष्ट भावना का दर्शन हो रहा है। वे चाहते है कि सस्थाएँ उन्हे हर तरह से मदद करे, लेकिन सस्थाओ का कोई नियम उन पर लागू न हो। मैंने सोचा कि मेरे ऐसे भाषणो से देश की सस्थाएँ परेशान हो जायेंगी। मेरी बातो को उद्धृत करके वे मनमाने ढग से सस्थाओ का इस्तेमाल करना चाहेगे। इसलिए मैंने यह उचित समझा कि सेवको को सस्थाओ के इस्तेमाल की मर्यादा का भी बोध करा दूँ। मैने उनसे कहा कि यह सही है कि बाजार करनेवाला रिक्शा का इस्तेमाल करेगा, लेकिन उसे रिक्शा के लिए निर्धारित किराया चुकाना पडेगा। बिना टिकट की यात्रा निषिद्ध है। व्यक्ति चाहे तो पैदल भी बाजार जा सकता है, लेकिन अगर रिक्शा पर बैठना है, तो उसे रिक्शावाले का पूरा किराया देना होगा। यह उदाहरण देकर मैंने उन्हें स्पष्ट रूप से समझा दिया कि वे चाहे, तो सस्था की मदद के बिना ही आन्दोलन को चलाये। लेकिन सस्था का इस्तेमाल करना चाहे, तो उन्हे सस्थाओं के नियमो की पाबन्दी करनी होगी।

सस्थाएँ और कार्यकर्ता

पटना की बैठक मे कार्यकर्ताओ को आपसी चर्चा करके आगे के

कार्यक्रम के स्वरूप के बारे में चिन्ता करने का अवसर मिला, लेकिन चूँकि वहाँ थोडे ही प्रमुख कार्यकर्ता मौजूद थे, इसलिए यह सोचा गया कि प्रदेशभर के कार्यकर्ताओ का एक सम्मेलन खादीग्राम में बुलाया जाय और दो-तीन दिन बैठकर अधिक ब्योरे से इस प्रश्न पर विचार किया जाय।

खादीग्राम की बैठक मे भी जयप्रकाश बाबू तथा प्रदेश के अन्य नेताओ ने तत्रमुक्ति के हर पहलू पर चर्चा की। मुख्य चर्चा आथिक प्रश्न पर रही। सम्पत्तिदान पर ही सबने जोर दिया। कुछ लोगो ने अन्नदान तथ सूताजलि की भी चर्चा की। मुंगेर के श्री रामनारायण बाबू ने कटनी की योजना रखी। उन्होने कहा कि कार्यकर्ता फसल के समय कटनी करें और अपने साथ अनेक श्रमदानियो को शामिल करें।

खादीग्राम की बैठक

मेरे बायीं तरफ बैठे लोग आपस मे कानाफूसी करने लगे : "धीरेन्द्र भाई का भोपा बोल रहा है।" मैने जब उनकी तरफ ताका, तो वे हँस पडे। कटनी और श्रमदान का विचार सुनकर अधिकाश कार्यकर्ता हँसे, लेकिन बहुत से साथियो ने इसे पसद किया और इस पर गभीरता से विचार करने लगे। शाम को विभिन्न जिलो के दस-बारह नौजवान कटनी के सगठन के बारे मे विशेष रूप से चर्चा करने के लिए मेरे पास आये। वे पूछने लगे, कि इसका आयोजन कैसे किया जाय ? मैने उनसे कहा कि आप जिस तरह से सघन पदयात्रा का आयोजन करते है, उसी तरह से इसका आयोजन करे। फसल कटने के एक महीना पहले से ही पूर्व-तैयारी कीजिये। इलाके के किसानो से मिलिये। उन्हे केन्द्रित निधिमुक्ति का विचार समझाइये। शासन-मुक्ति के विचार के सदर्भ में तत्रमुक्ति की बात समझाइये। उन्हे बताइये कि आप अपने श्रम तथा मित्रो के श्रमदान से ही आन्दोलन चलाना चाहते है। उनसे कहिये कि आप फसल पर उनके खेत काटने की मजदूरी करेगे और वे जिस तरह मजदूरों को मजदूरी का हिस्सा देते है, उसी तरह आपको भी दे।

मैंने उन्हें बताया कि मुझे कोई सन्देह नहीं है कि उनमें से बहुत से किसान अपना खेत काटने देंगे। वे केवल खेत काटने देंगे, इतना ही नहीं, बल्कि वे आपके विचार तथा कार्य पद्धति से प्रभावित होंगे और आन्दोलन के मित्र बन जायेंगे। जो किसान अपने खेत कटवाने को तैयार होंगे, उन्हें श्रमदान का भी निमत्रण दीजिये। कहिये कि आप भी हमारे साथ खेत काटिये। जितना आप काटेंगे, उसमें से मालिक का हिस्सा आप ले जाइये और मजदूर का हिस्सा श्रमदान में हमें दे जाइये। इसके अलावा मेरा सुझाव यह भी था कि एक ओर तो वे किसानों से बात करें और दूसरी ओर वे नौजवानो से श्रमदान पत्र भरवायें और कटनी-यात्रा के पडाव पर सबको अपने साथ कटनी करने का निमन्त्रण दें।

खादीग्राम के सम्मेलन मे उपस्थित कार्यकर्ताओं को अच्छी प्रेरणा मिली। पलनी-प्रस्ताव ने उन्हे काफी घबराहट मे डाल दिया था, लेकिन सम्मेलन से वापस जाते समय वे प्रसन्न दीखते थे। ० ० ०

क्रान्ति के मार्गदर्शन का प्रश्न : २५ :

श्रमभारती, खादीग्राम
११-९-'५८

तन्त्रमुक्ति और निधिमुक्ति के प्रस्ताव से सारे देश मे कुछ हलचल पैदा हुई। मुझे कई प्रदेशों मे जाना पडा। मैं कार्यकर्ताओ तथा जनता में घूम घूमकर इस विचार को समझाता रहा। फिर भी मन मे रह-रहकर इस बात की परेशानी होती थी कि इस नयी प्रक्रिया का मार्गदर्शन कौन करेगा ? हम लोगो ने बापू के नेतृत्व मे जनता मे घुसकर सेवा की थी। उस सेवा में जनता का आधार तो था, लेकिन उस समय की स्थिति आज से भिन्न थी। देश को आजादी चाहिए, यह विचार समझाने की जरूरत नहीं थी। वह तो मनुष्य की सनातन आकाक्षा है। यह बात दूसरी है कि मजबूरी के कारण कोई गुलाम बना रहे।

जनता और नया विचार

इस सदर्भ मे जन-आधारित सेवा का अनुभव हम सबको अवश्य है, लेकिन इस भूदान-आन्दोलन का तो सदर्भ ही भिन्न है। यह एक नया विचार है। यह विचार सनातन प्रथा का विरोधी है। व्यक्तिगत सम्पत्तिवाद व्यक्ति के सरक्षण का उपादान है तथा राज्यवाद समाज का रखवाल है। यह विचार शायद सामाजिक इतिहास के आरम्भ से ही रहा है। हम कहते हैं कि सामूहिक श्रमवाद, सहयोगी उत्पादन तथा सम्पत्ति का सहभोग मानव-सरक्षण का सही और स्थायी उपाय है। हम कहते है कि राज्यवाद समाज का रखवाल नही है, बल्कि मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता के अपहरण का एक व्यवस्थित उपादान है। शताब्दियो से एक निश्चित दिशा मे विचार करते रहने के कारण यह नया विचार जल्दी समझ मे

आता नहीं, उसे स्वीकार करना तो दूर की बात। स्पष्ट है कि जिस विचार को जनता स्वीकार नहीं करती, उस विचार को आगे बढाने के लिए सहायता या सहानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता।

अतएव जिस समय हम तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का निर्णय करते है, उस समय हमारे सामने यह प्रश्न खडा होता है कि अगर सचित निधि का आधार नही लेते हैं और जिसे यह विचार मान्य है, उस छोटी-सी जमात का, आपसी सगठन तथा तन्त्र तोड देते है, तो हम किस आधार पर काम करगे ? जब सारी जनता नये विचार को स्वीकार नहीं करती तो उसके आधार पर जिन्दा रहना कैसे सम्भव होगा ? उसकी क्या प्रक्रिया होगी ? इन सब बातो पर निरन्तर चिन्तन करने लगा। हमारे बडे-बडे साथी जब मुझसे यह कहते कि निधिमुक्ति तो समझ में आती है, वह आसान है, लेकिन तन्त्रमुक्ति क्या है, उसकी बात समझ मे नहीं आती। मैं इससे उलटा सोचता था। मै मानता था कि आज के वैज्ञानिक युग में जिस समय मनुष्य का सास्कृतिक विकास ऊँचे स्तर पर पहुँचा हुआ है, उस समय सम-विचारवाले मनुष्यों का बिना तन्त्र बनाये मिल-जुलकर काम करना क्या मुश्किल है ? लेकिन रूढिग्रस्त जनता के आधार पर क्रान्ति-आन्दोलन कैसे चले—यह मेरे लिए अधिक कठिन प्रश्न था। मैं मित्रों से यही चर्चा किया करता था।

अतएव मैं महसूस करता था कि बजाय इसके कि मै देशभर मे घूमकर तन्त्रमुक्ति तथा निधिमुक्ति का विचार समझाऊँ, मेरे लिए यह अधिक आवश्यक है कि मै तन्त्रमुक्त तथा निधि मुक्त होकर गॉव मे चला जाऊँ और नये सदर्भ मे आन्दोलन चलाने की प्रक्रिया की खोज करूँ। नहीं तो हम सब पुराने अनुभव के आधार पर आन्दोलन का नेतृत्व करने की कोशिश करेंगे। उसमें से कोई प्रेरणा नहीं निकलेगी। पुरानी साधना की पूँजी पर हमारा जो व्यक्तित्व बना है, उस कारण हम नौजवानों को आकर्षित भले ही कर लें, लेकिन उन्हें आन्दोलन से प्रेरित

स्वयं प्रयोग के लिए तैयार

नहीं कर सकेगे। क्योंकि आन्दोलन की गतिविधि तथा प्रक्रिया की कला से हम सब 'Out of date' (पुराने) हो गये है।

ऐसा सोचकर मैने मित्रो से अनुमति मॉगी कि वे मुझे जनता के बीच जाकर बैठने और नयी क्रान्ति का मार्ग खोजने का अवसर प्रदान करें।

साथियों की अस्वीकृति

विनोबा तो हमारे नेता हैं ही, लेकिन उनके बाद हम लोग जयप्रकाश बाबू को अपना नेता माने हुए है। इसलिए मैने सबसे पहले उन्हींके सामने अपना विचार प्रकट किया। पर उन्होने मेरे इस विचार को पसन्द नहीं किया। वे बोले: "आपका इस तरह से बैठ जाना आन्दोलन के लिए लाभदायक नहीं होगा। बल्कि आपके लिए यह जरूरी होगा कि देश के विभिन्न हिस्सो मे जाकर कार्यकर्ताओ को प्रेरणा देते रहे।" दूसरे मित्रों ने भी मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। तुम्हे मालूम है कि मै हमेशा अपने स्वतत्र ढग से सोचता रहता हूॅ, परिस्थिति की ओर देखने का मेरा ढग कुछ अलग ही है और उसी ढग से मै समाधान के बारे मे सोचता हूॅ, फिर भी मैं अत्यन्त अनुशासन-प्रिय व्यक्ति हूॅ। पिछले ३७ वर्षों से हमेशा जहॉ कही मैने काम किया है, वहॉ कुछ साथियो के गोल मे ही काम किया है। उनके सामूहिक निर्णय को मै हमेशा मानता रहा हूँ। इसलिए यद्यपि निधिमुक्ति की खोज के लिए मै अत्यन्त व्याकुल था, फिर भी जब मैने देखा कि साथियो की तैयारी केन्द्रीय व्यवस्था से मुझे मुक्त करने की नही है, तो मैने अपनी बात पर विशेष जोर नही दिया और पूर्ववत् काम करता रहा। फिर भी निधिमुक्ति के लिए मुझे जो कुछ सूझता था, उसे मैं उन तरुण साथियो के सामने व्यक्त करता था, जो क्षेत्र मे काम करते थे, ताकि वे प्रयोग कर मुझे अपने अनुभव बताये।

एक अन्य समस्या भी मुझे परेशान करती थी। लेकिन उस दिशा में कुछ सूझता ही नहीं था। वह यह कि देश के तमाम कार्यकर्ता यदि केन्द्रित निधि से मुक्त होते है और उन्हे जनता के आधार पर छोड दिया जाता है और सर्व-सेवा-सघ अपना काम सचित निधि से चलाता

है, तो इसमें एक विरोधाभास है, लेकिन मैं मानता था कि सर्व सेवा संघ जैसी केन्द्रीय संस्था आन्दोलन को चाहिए ही। केन्द्रित संस्था किसी विशेष क्षेत्र की नहीं होती। क्षेत्रीय कार्यकर्ता या संस्था जिस क्षेत्र की सेवा करते हैं, अगर उनकी सेवा क्षेत्र के लोगों के लिए आकर्षक तथा समाधानकारक है, तो वे उनका पोषण आसानी से दे देते हैं। लेकिन केन्द्रीय संस्था का काम किसी क्षेत्र-विशेष की जनता देखती नहीं है। हमारा विचार इतना व्यापक नहीं हुआ है, जिससे वे अदृश्य केन्द्र को भी पोषण दे सकें।

विरोधाभास की समस्या

तुम कहोगी कि "हमारा विचार व्यापक नहीं हो सका है", यह एक निराशावादी दृष्टिकोण है। लेकिन अगर गहराई से विश्लेषण करोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि मेरा दृष्टिकोण वस्तुस्थिति का वर्णनमात्र है। यह सही है कि देश के पर्याप्त व्यापक क्षेत्र की जनता का आदर हमें प्राप्त है। विभिन्न पक्षों तथा श्रेणियों के लोग यह भी मानते हैं कि सर्व-सेवा संघ जैसी संस्था का होना आवश्यक है। लेकिन यह सब विचार की मान्यता के ही कारण है, ऐसी बात नहीं है। इसके अनेक कारण हैं।

सर्व-सेवा-संघ के प्रति आदर के कारण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आन्दोलन गांधीजी के साथ ओतप्रोत हो गया था। देश की जनता इस बात का विश्लेषण करने में असमर्थ थी कि कांग्रेस का जन्म गांधीजी के सार्वजनिक जीवन के आरम्भ के बहुत पहले ही हो चुका था। वह इतना नहीं समझ सकती थी कि गांधीजी कांग्रेस संस्था में आकर शामिल हुए थे और कांग्रेस ने गांधीजी द्वारा प्रदर्शित असहयोग तथा सत्याग्रह के मार्ग को पुराने मार्ग से उत्तम समझकर उनके नेतृत्व को स्वीकार किया था। यह स्वीकृति गांधीजी के पूरे विचार की नहीं थी, बल्कि आजादी हासिल करनेभर के लिए थी।

असली 'गांधी-वाले'

इतनी बात जनता समझ नहीं सकी थी। वह गाधीजी के त्याग, तपस्या तथा सादगी से प्रभावित थी। वह मानती थी कि गाधीजी ने जनता मे त्याग तथा सादगी का जो वातावरण पैदा किया है, वह भारतीय सस्कृति के विकास का एक बहुत बडा कदम है। लेकिन जब उसने देखा कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद देश का नेतृत्व गाधीजी के बताये मार्ग को छोडता जा रहा है, तो उसे बडी निराशा हुई। विनोबा ने भूदान-आन्दोलन के जरिये रचनात्मक कार्यकर्ताओ को जब विशिष्ट दिशा मे प्रेरणा दी, तो लोगो के मन में ऐसी आशा बॅधी कि भूदान-आन्दोलन देश के सामने गाधीजी द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन का कुछ मार्ग प्रशस्त करेगा। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का पहला कारण यही है कि राष्ट्रीय नेतृत्व की ओर से निराश जनता समझने लगी कि हम लोग 'असली गाधी-वाले' हैं।

पक्षों का त्याग

हमारे प्रति जनता के आकर्षण का दूसरा कारण देश की दलगत राजनीति है। स्वराज्य-प्राप्ति से लोगों को बडा आनन्द हुआ। लोगो ने समझा कि अब जनता का राज्य हुआ। अब जनता जिसे चुनेगी, वे जनता के सेवक होगे। लेकिन दो आम चुनावों के अनुभव से साधारण जनता को दल-गत राजनीति से अनास्था पैदा हो गयी है। ऐसी मनःस्थिति मे जब जनता देखती है कि देश में ऐसी एक जमात खडी है, जो सत्ता-प्राप्ति की होड से अलग रहकर सभी पक्ष के लोगो के प्रति समान प्रेम-भाव रखती हुई लोक-सेवा कर रही है, तो उसके मन मे स्वभावतः हमारे प्रति आदर पैदा होता है। इस आदर का कारण हमारे विचार की स्वीकृति उतनी नहीं है, जितनी हमारी वृत्ति और कृति का प्रभाव है।

जनता के आकर्षण का एक कारण और है। राष्ट्रीय सरकार अपनी योजना द्वारा देहातों मे ऊँचे जीवन-स्तर के लिए सहकार के आधार पर विकास-कार्य करना चाहती थी। वह काम जन-विकास का काम न होकर सरकार की ओर से जनता को कुछ राहत पहुॅचाने का कार्यमात्र बनकर

रह गया। सरकारी क्षेत्र की ओर से बराबर यह शिकायत होती रही है कि विकास कार्य मे जनता का सहकार नहीं है। सरकारी नेताओं द्वारा निरन्तर इस बात की अपील की जाती है कि जनता इस कार्य को अपना कार्य समझे तथा अपनी ओर से ही इसे चलाये। सरकार केवल उसकी मदद के लिए है। विकास का कार्य सरकारी मदद से जनता स्वत चलाये, इस सदर्भ को दृष्टि में रखकर विकास के कानून भी बनाये जाते है। लेकिन ये तमाम अपीलें और जनाभिक्रम के उद्देश्य के तमाम नियम व्यर्थ हो जाते हैं। यह सब अपना काम है और अपने को ही करना है, यह बात जनता के हृदय मे किसी तरह घुसती ही नहीं। बॉध बनाने का, कुआँ खोदने का और इसी तरह विकास कार्यों का नियम यह है कि आधा खर्च जनता उठाये और आधा सरकार दे। लेकिन हम देखते है कि वास्तविक क्षेत्र मे सरकारी आधी रकम से ही काम पूरा हो जाता है। बल्कि अधिकाश क्षेत्रो में ठेकेदार का मुनाफा तथा कर्मचारियों की सलामी भी सरकारी आधे मे से ही हो जाती है। यह सही है कि इस तमाम उदासीनता तथा अप्रामाणिकता के बावजूद देश मे कुछ काम हो जाता है। लेकिन उससे सरकार के उद्देश्य की पूर्ति नही होती।

ग्रामदान से प्रेरणा

सरकारी योजनाओं की इस प्रकार की असफलता को पूँजी बनाकर विरोधी दलों के लोग जनता के दिमाग मे भले ही कुछ हलचल पैदा कर ले और इस वास्तविकता का राजनैतिक अवसर के रूप में इस्तेमाल कर ले, लेकिन उनके विचारशील नेता भी इस परिस्थिति से चिंतित रहते है। वे सब देशभक्त ही है और जनता की सम्पत्ति का इस प्रकार का अपव्यय होते देखकर वे व्यथित होते है। वे सरकार की शिकायत करते है, लेकिन दिल मे वे भी यह समझते है कि आखिर सरकार भी क्या करे। इस उदासीन जनता को प्रेरणा देने के लिए उपाय ही क्या है। वे सरकार की शिकायत भले ही कर ले, लेकिन उन्हें भी जनता को विधायक प्रेरणा देने का कोई मार्ग नही दीखता।

ऐसी परिस्थिति में जब भूदान-आन्दोलन ग्रामदान के स्तर तक पहुँच गया और यह विचार विकसित होने लगा, तो सरकार को राष्ट्र-विकास का एक मार्ग दिखाई दिया। उसे लगा कि जनता मे सहकार वृत्ति तथा विकास-प्रेरणा जगाने का ग्रामदान अच्छा रास्ता है। यही कारण है कि आज सरकार तथा विभिन्न पक्षो के नेता ग्रामदान-आन्दोलन की ताईद करते है। ऐलवाल मे देश के करीब-करीब सभी पक्षो के उच्च कोटि के नेताओ ने एकत्रित होकर जब ग्रामदान की सफलता के लिए देशवासियो से सहकार की अपील की, तो जनता ने समझा कि यह बात कुछ महत्त्व की होगी, नहीं तो राष्ट्रपति, प्रधानमत्री तथा दूसरे विरोधी दल के नेता एक स्थान पर बैठकर एक स्वर से इसकी सफलता की कामना क्यो करते ? तो राष्ट्र के बडे-बडे नेताओ का प्रमाण-पत्र भी हमारे काम के प्रति आकर्षण का एक बहुत बडा कारण है।

मै रुक तो गया, लेकिन मेरे मन मे यह परेशानी निरतर बनी रही कि परम्परावादी मनुष्य के आधार पर क्राति-पुरुष कैसे आगे बढे ?

मार्ग-दर्शन का प्रश्न

इसकी प्रक्रिया की खोज की यात्रा वास्कोडिगामा की भारत-यात्रा जैसी ही अनिश्चित है। यदि हम लोग इसकी तलाश मे न निकले, तो कौन निकलेगा ? मार्ग का नेतृत्व हम करे और उसका अन्वेषण अनुभवशून्य लडके करे, यह कैसे सम्भव है ?

इसी बीच सन् '५७ की क्राति-यात्रा की चर्चा देशभर मे चल पडी। दिसम्बर '५६ मे कार्यकर्ताओ मे विशेष रूप से हलचल रही। इस माह के अत मे खादीग्राम मे विभिन्न प्रान्तो के मुख्यकार्यकर्ताओं का शिविर रखा गया। शिविर मे मार्गदर्शनार्थ जयप्रकाश बाबू, दादा धर्माधिकारी, नवकृष्ण चौधरी आदि बहुत से नेता पधारे थे। शिविर मे कुछ विद्यार्थी भी थे।

खादीग्राम का शिविर

इसी शिविर मे जयप्रकाश बाबू ने अपील की कि देश मे शिक्षण-सस्थाओ को बद करके विद्यार्थी क्राति-विचार फैलाने के लिए

देशभर में पदयात्रा करें। शिविर में आये हुए भाई नारायण देसाई तथा अन्य तरुण कार्यकर्ताओं ने श्रमभारती-परिवार के लोगों से चर्चा आरम्भ की कि उनमें से कुछ लोग यात्रा के लिए तैयार हैं या नहीं। आखिरी दिन नारायण भाई मुझसे झगड़ने आये। कहने लगे कि "क्रांति के लिए आप लोग क्या करेंगे?" मैंने उनसे कहा : "क्या तुम्हीं लोग क्रांति जानते हो, मैं नहीं जानता? क्या केवल चक्कर काटने से ही क्रांति होती है? क्या झंडा फहरानेवाला ही क्रांतिकारी है, सीनेवाला नहीं?"

श्रमभारती का निधिमुक्ति का निश्चय

नारायण भाई को मैंने जवाब तो दे दिया, लेकिन महीनों से मेरा दिमाग निधिमुक्ति की प्रक्रिया की खोज में लगा था। थोड़े ही दिन पहले खादीग्राम की आम सभा में मैंने साथियों से कहा था कि वे केन्द्रीय कोष का सहारा छोड़कर जन आधारित होकर देहातों में फैल जायँ। मैंने उनसे यह भी कहा था कि जितने लोग तैयार हों, वे २ अक्तूबर '५७ को यहाँ से प्रस्थान करें। इस प्रकार का विचार चल ही रहा था कि जयप्रकाश बाबू की अपील ने विचार को उत्तेजन दिया। दूसरे दिन प्रातः प्रार्थना में मैंने कह दिया कि सन् '५८ भर श्रमभारती के भाई बहन और बच्चे संचित निधि का आधार छोड़कर जिलेभर में पदयात्रा करें। खुशी की बात है कि साथियों में कोई ऐसा नहीं निकला, जो कहता कि उसकी तैयारी नहीं है। आखिर में दो तीन साथियों को आदेश देकर रोक दिया, ताकि खादीग्राम एकदम सूना न पड़ जाय। बाद को सर्व-सेवा-संघ का दफ्तर गया से खादीग्राम ले आया और मैं खुद बैठकर वहीं से काम चलाता रहा।

सन् '५७ में जब सब साथी यात्रा करने लगे, तो दिल को कुछ समाधान हुआ। मैं कम-से-कम इतना तो कह ही सकता था कि सर्व-सेवा-संघ चुप नहीं बैठा है। ○ ○ ○

रामधुन से हिंसा का प्रतिकार : २६ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-९-'५८

पिछले कई पत्रो मे भूदान-आन्दोलन की गतिविधि की ही मैं चर्चा करता रहा हूँ। वस्तुतः क्रान्ति के आरोहण मे आन्दोलन ही मुख्य चर्चा का विषय है। लेकिन तुम लोगो को शायद अधिक दिलचस्पी खादीग्राम में चलनेवाले मेरे प्रयोग मे हो, इसलिए आज उसीकी चर्चा करूँगा।

खादीग्राम के लोक सम्पर्क के काम का जिक्र मैं कर चुका हूँ। उस सिलसिले मे बेदखली-निवारण की चेष्टा का विवरण मैंने लिखा था। पैंगही तथा लभेद की बेदखली को लेकर हम लोगो ने जो आन्दोलन खडा किया था, उससे खास तौर से मल्लेपुर के बाबू लोग हमसे रुष्ट हो गये थे। इस इलाके मे ये लोग सबसे ज्यादा 'गरम ठाकुर' माने जाते हैं। हम लोगो का जनता मे घुलना-मिलना और उन्हीकी हित-रक्षा के लिए मार्गदर्शन करना उन्हें सम्भवतः अच्छा नहीं लगता था। अब तक वे गरीब जनता के प्रति जैसा व्यवहार करते थे, उसमे भी बाधा पडती थी। अतः वे यदि हम लोगो से रुष्ट हो गये, तो कोई आश्चर्य की बात नही है। इस कारण वे बीच-बीच मे खादीग्राम के भाइयो को सताया करते थे। उसके एकाध उदाहरण देखो।

यात्रा-टोली का अपमान

चरखा-जयन्ती पक्ष मनाने के लिए खादीग्राम की विभिन्न टोलियाँ २ अक्तूबर से अलग-अलग दिशाओ मे पदयात्रा के लिए निकलीं। उनमे एक टोली मल्लेपुर के इलाके के लिए भी थी। जब यह टोली मल्लेपुर पहुँची, तो उसका कोई स्वागत नहीं हुआ। अन्ततः किसी स्कूल के बरामदे मे उसे रात के लिए शरण लेनी पडी। टोली में बहनें और

बच्चे भी थे। उन्होंने इधर-उधर से हाँडी, चावल आदि बटोरकर रात के लिए खाना बनाया। बच्चों के लिए कुछ दूध भी मिल गया था। मल्लेपुर के निवासियों को पदयात्रियों के स्वागत से इनकार करने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ, वे रात को वहाँ आये और उन्होंने चावल, दूध आदि की हाँडी तोड़कर टोली को वहाँ से भगा दिया। विरोध का यह एक अनोखा नमूना था।

रुपया छीनने की घटना

खादीग्राम के लोगों को प्रायः मल्लेपुर के रास्ते बाहर जाना पड़ता था। उस समय वहाँ के नौजवान प्रायः हमारे कार्यकर्ताओं को मारते-पीटते और धमकाते थे। एक दिन उनका यह अन्याय पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यहाँ के एक कार्यकर्ता सूत खरीदने के लिए अगले स्टेशन गिद्धौर गये हुए थे। वे वहाँ से लौट रहे थे कि हठात् मल्लेपुर का एक नौजवान उन्हें पकड़कर पीटने लगा। उसने उनके हाथ की फाइल लेकर फाड़ दी और जेब में पड़ा ३०) निकाल लिया। इन भाई ने जब खादीग्राम में आकर घटना का बयान किया, तो हमारे सामने एक समस्या खड़ी हो गयी। हम सोचने लगे कि जब ऐसी बात होने लगी, तो सुरक्षा का क्या ठिकाना है। अधिकारी लोग विरोध में थे, इसलिए उधर से भी राहत पाने की कोई आशा नहीं थी। इस स्थिति के मुकाबले का अहिंसक उपाय क्या हो सकता है, यही हमारे सामने प्रमुख समस्या थी।

वस्तुतः बेदखली-आन्दोलन के सिलसिले में ही यह समस्या खड़ी हो गयी थी। गरीब जनता आँख के सामने पिसी जा रही थी। उसकी रक्षा कौन करे? जब रक्षक ही भक्षक हो जाय, तो उपाय क्या है? ऐसे प्रश्न रह रहकर मन में उठते रहते थे। बटाईदार बेदखल किये जाते हैं। बेदखली के खिलाफ तमाम कानून बने हुए हैं। देश के प्रधानमंत्री, जननायक विनोबा आदि तमाम नेता बेदखली के खिलाफ बोलते हैं। उनके सुर में सुर मिलाकर हम छोटे जनसेवक गरीबों को सलाह देते हैं कि वे अन्याय का मुकाबला करें, उससे दबें न। नेताओं के कहने के अनुसार

और कानून के अनुसार हम उनसे कहते है कि बेदखली का हक नही है। इसलिए भले ही जान चली जाय, जमीन न छोडे। हमारे कहने के मुताबिक, जब गरीब लोग जमीन पर डटते हैं, तो वे बेरहमी से पीटे जाते हैं। कई मौकों पर मार खाने के बावजूद वे डटे रहते हैं। परिणाम क्या होता है ? पुलिस आती है और उलटे गरीबो के खिलाफ फौजदारी का मामला दायर किया जाता है। जमींदार, पुलिस और मजिस्ट्रेट एक ही वर्ग के होने के कारण, वे कैसे और क्यो एक तरफ हो जाते हैं, इसकी चर्चा मै कर चुका हूॅ। फिर जमीन सरकार द्वारा जप्त की जाती है, उस पर धारा १४४ और १४५ लगाकर जमीन पर किसका कब्जा है, उसकी कानूनी जॉच करायी जाती है। जॉच के बाद फैसला सुनाया जाता है कि उस जमीन पर गरीब का कब्जा कभी रहा ही नहीं। ऐसी हालत मे 'चाहे जान चली जाय, पर जमीन पर डटे रहो'—इस सलाह की कीमत क्या है ? इतनी ही न कि इस प्रकार आन्दोलनो द्वारा आम जनता में अन्याय के प्रतिकार की भावना पैदा होती है। इसका असर अन्याय के प्रतिकार के सदर्भ मे कब दीख पडेगा, कौन जाने ? लेकिन तब तक गरीब जनता तो पिसती ही जायगी। मरने मिटने के लिए तैयार होने पर भी उनका हक खुलेआम छिनता ही जायगा। 'जमीन पर डटे रहो,' यह सलाह बड़े-बडे नेता भी देते है और हम लोग भी देते हैं। लेकिन इसका मतलब तब होता, जब १४४ और १४५ धारा लगने पर भी हम कह सकते कि 'चाहे जो फैसला हो, आपको सफाई देने की कोई जरूरत नही है। आप अपने हक पर डटे रहिये।' लेकिन आज ऐसा होना सम्भव नही दीखता। तुम्हे याद होगा कि जब हम लोगों ने पॅगही के मामले में सफाई न देकर जेल जाने का फैसला किया था, तो नेताओं ने इसकी इजाजत नहीं दी थी। उन्हे भय था कि ऐसा करने से अपनी सरकार को कठिन परिस्थिति मे डालना होगा। शायद यह ठीक भी था। हमने सरकार का विरोध करने का फैसला नहीं किया है। शायद उसके लिए जनता की तैयारी भी नहीं है।

ऐसी परिस्थिति मे समस्या का हल क्या हो सकता है, यह प्रश्न हम लोगों को परेशान करता था। उन दिनो खादीग्राम परिवार में प्राय. इन्हीं बातो की चर्चा चला करती थी। ऐसे रामधुन का प्रयोग अन्याय के विरोध मे कौन सी ऐसी अहिंसक प्रक्रिया हो सकती है, जिससे आज की जटिल परिस्थिति मे भी कुछ समाधान निकल सके। एक दिन भाई राममूर्ति ने मुझसे पूछा . "भाईजी, ऐसा क्यो न किया जाय कि जब कभी अन्याय हो, तो हम अन्याय करनेवालो से ही अपील करे। जितने मित्र यह मानते है कि यह अन्याय हो रहा है, उन्हे हम दावत दे और अन्याय करनेवालो के मकान के सामने बैठ जायें। वहाँ बैठकर रामधुन करते रहे और जब तक अन्यायी का दिल पिघल न जाय, तब तक रामका नाम लेते रहें।" मैंने पूछा : "अगर वे लाठी मारना शुरू करे, तो भी सब लोग बैठकर लाठी खाते रहेंगे न ?" उन्होने कहा : "हाँ, लाठी खाते रहेगे और रामधुन करते रहेगे।" मैने विनोद मे कहा "लोग मित्रो को भात खाने की दावत देते है और तुम लोग मार खाने की दावत दोगे ?"

इस तरह नाना प्रकार के विकल्पों पर चर्चा चलती रहती थी। इसी बीच मेरी गैरहाजिरी मे ही मल्लेपुर मे रुपया छीनने की घटना घटी। भाई राममूर्ति तथा खादीग्राम के दूसरे भाई रामधुन के साथ मल्लेपुर पहुँचे और उन भाई के घर के सामने राम-नाम लेते रहे। रवाना होने से पहले राममूर्ति भाई ने स्थानीय एस० डी० ओ० को इसकी सूचना दे दी थी।

खादीग्राम के साथियो की रामधुन की प्रक्रिया देखकर मल्लेपुर के बहुत से लोग घटनास्थल पर इकट्ठे हो गये।

काफी चर्चा तथा अपील के बाद जिस भाई ने रुपया छीन लिया था, उसने रुपया वापस कर दिया और हमारे साथी खादीग्राम लौट आये। मेरे लौटने के बाद उन्होने सारी कहानी सुनायी। उनकी योजना एक तरह से सफल हुई, लेकिन सवाल था कि अहिंसा के संदर्भ मे यह

प्रक्रिया जायज मानी जाय क्या ? गहराई से विचार करने पर यह सही अहिंसक प्रक्रिया है, ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि उस भाई ने जो रुपया वापस किया, उसके पीछे हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं थी। सामाजिक दबाव ही मुख्य रूप से था। एस० डी० ओ० का सागोपाग के साथ आ जाना ही एक बहुत बडा दबाव था। फिर गॉव के इतने लोगो के इकट्ठे हो जाने का भी दबाव था। लेकिन हमारे सामने प्रश्न यह था कि आज की परिस्थिति मे हम करे क्या ? कोई भी उपाय करते है, तो सरकारी विधिचक्र ऐसा है कि अत्याचारी छूट जाता है और मामला अत्याचार से पीडित व्यक्ति और सरकार के बीच का रह जाता है। ऐसी हालत में न्याय पर डटने का मतलब होता है सरकार से मोर्चा लेना, यानी सरकार से सत्याग्रह करना पडता है। रामधुन की प्रक्रिया मे भी अन्ततोगत्वा वही स्थिति पैदा हो सकती है। एस० डी०ओ० साहब कुछ स्वतत्र वृत्ति के मालूम पडते थे, नही तो वे कह सकते थे कि इस तरह से भीड करने से अमन चैन को खतरा पैदा होता है। यह कहकर वे दफा १४४ लगा सकते थे। ऐसी हालत मे या तो हम लोग लौट आते या कानून तोडकर सरकार से मोर्चा लेते।

रह रहकर मेरे मन मे निरन्तर यही खयाल आता था कि आज की परिस्थिति मे सरकार से भिडने के सिवा कोई चारा नही है। लेकिन उससे पहले दो बातो पर विचार करना जरूरी था।

नेहरूजी से मुलाकात

एक तो यह कि क्या जनता मे आज इतना सगठन है, जिससे वह वैज्ञानिक युग के राज्य से मोर्चा ले सकती है ? मैने देखा था कि स्वय गाधीजी भी देखते थे कि जनता मे भक्ति की कमी है, तो वे विदेशी शैतानी राज्य से भी मोर्चा लेना बन्द कर देते थे। दूसरी बात यह है कि क्या आज की सरकार मूलत: इतनी दूपित हो गयी है कि जिसके खिलाफ सत्याग्रह की आवश्यकता है। ऐसा मुझे जॅचता नही था। इन दोनो कारणों से जनता को अन्त तक डटने की सलाह दे नही पाता था। कभी-कभी सोचता था कि

सरकारी नेताओं से कुछ चर्चा करूँ, पर यह सोचकर रुक जाता था कि आज की दलगत राजनीति के जमाने में ऐसा करना व्यर्थ प्रयास होगा। इस प्रकार गरीबों के प्रति अत्याचार के प्रश्न पर, चाहे जिस प्रकार से सोचता था, किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाता था। आखिर एक दिन मन में आया कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू से मिलूँ और पूछूँ कि इसका उपाय क्या है।

आखिर जवाहरलालजी से मिलने के लिए उनसे समय माँगा। उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं उनसे मिलने चला गया। जब उनके सामने पहुँचा, तो मेरी मनःस्थिति अजीब थी। तुम्हे मालूम ही है कि पिछले ३७ साल से उन्हे हम लोग अपना हृदय-सम्राट् बनाये हुए हैं। दादा और जवाहरलालजी ने मेरे जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है, फिर भी ९० प्रतिशत प्रश्नों पर मेरा उनका मतभेद रहा है। लेकिन उनके प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति रही है कि शायद ही कभी ऐसा मौका आया हो, जब मैंने उनसे बहस की हो। अतएव जब उन्होंने मुझसे कहा "कहो धीरेन्द्र, अचानक कैसे आये?" तो मैं विषय पर चर्चा नहीं कर सका।

जवाहरलालजी से मेरी आखिरी मुलाकात १९४१ में हुई थी, जब वे व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रचार के लिए फैजाबाद आये थे। १५ वर्ष के बाद उनसे मुलाकात हुई। मेरा दिल भर आया। सरकार के साथ सत्याग्रह का नाता रखना है या नहीं, उनसे यह प्रश्न करना मुश्किल था। मेरा मानस उस समय उसके अनुकूल नहीं था। इसलिए मैं काम की बात न कहकर व्यक्तिगत बातचीत करके लौट आया। मैंने कहा "पन्द्रह साल से मुलाकात नहीं हुई थी, इसलिए प्रणाम करने चला आया।' इधर आते हो, पर मिलते नहीं। दिल्ली आया करो, तो कभी कभी मिल लिया करो।" उन्होंने उसी पुराने रिश्ते के अनुसार प्रेम से बातचीत की।

बाहर आकर मैं सोचने लगा कि यह क्या हुआ? बात करने गया था बेदखली के प्रश्न पर, लेकिन बिना चर्चा किये हुए ही लौट आना

ठीक हुआ क्या ? फिर मन मे खयाल आया कि शायद ईश्वर ने ऐसा करने से मुझे रोक दिया। सम्भवतः उससे कोई नतीजा न निकलता और गलतफहमी बढती या शायद इस चर्चा के लिए मेरी पात्रता काफी नही है और समय भी पका नहीं है।

कुल मिलाकर परिस्थिति के सन्दर्भ मे रामधुन का तरीका मुझे अच्छा लगा। यह सही है कि इसमे दवाव है, लेकिन साकार विश्व मे कोई वस्तु शुद्ध होती है क्या ? इसीलिए तो हमारे देश के ऋषियों ने सारे दृश्य-जगत् को माया कहा है। विनोवाजी भी कहते हैं कि इस ससार में कोई भी चीज न शुद्ध भ्रम है और न शुद्ध सत्य। कुछ सत्य और कुछ भ्रम मिलाकर ससार बना है। तो अगर रामधुन के तरीके मे दवाव का कुछ अश है, तो शान्ति का अश कुछ कम नहीं है। कम से कम आज गॉवों मे ऐसे मामलो में वात-बात पर जो लाठी चल जाती है या मुकदमेवाजी शुरू हो जाती है, उसके वदले मे अगर उस प्रकार की प्रक्रियाएँ चले, तो शायद अन्याय के अहिसात्मक प्रतिकार का प्रयोग काफी आगे बढे। ऐसा समझकर मैंने साथियो से कहा कि 'तुमने अच्छा ही किया'।

मै लिखने वैठा था खादीग्राम के प्रयोग के बारे मे, लेकिन प्रसगवश फिर से आन्दोलन की ही चर्चा चल पडी। ठीक ही है, आज हम सबके दिमाग मे युग क्रान्ति की वात इतनी ओतप्रोत हो गयी है कि घूम-फिर-कर वही वात सामने आ जाती है। कल फिर यहाँ के प्रयोग के बारे में लिखूँगा।

● ● ●

सम्वेतन और साम्ययोग

श्रमभारती, खादीग्राम
२१-९-'५८

आज फिर से खादीग्राम के साम्ययोग के प्रयोग के बारे मे लिखूँगा। खादीग्राम मे मेरे कुछ साथियो ने जब सपरिवार उस प्रयोग मे शामिल होने की बात तय की, तो मुझे बडी खुशी हुई। खादीग्राम मे पहाड, जगल होने के कारण प्रयोग की कमी नही थी।

स्त्री-पुरुष दोनो ही उत्पादक श्रम करे, इसका नियम पहले से ही रखा गया था। वैसे तो भारत की देहाती स्त्रियाँ भले ही मध्यम-वर्ग की ही क्यो न हो, उत्पादन श्रम करती ही है। कूटना पीसना, भोजन तैयार करना तो करीब-करीब सभी स्त्रियाँ करती है। लेकिन उनके लिए भी खाद ढोना, मिट्टी काटकर टोकरी मे उठाना आदि छोटा काम माना जाता है। पाखाने की सफाई तो स्त्री पुरुष कोई करते ही नही। मैंने विशेष रूप से इन्ही सब कामो पर जोर दिया, जिसे लोग छोटा मानते है। वर्ग-परिवर्तन की दिशा मे यह पहला कदम था।

भगवती भाई से प्रारम्भ कर जब सभी लोगो ने मजदूरो की तरह ही दैनिक मजदूरी पर कार्य करना स्वीकार किया, तो परिवर्तन की दिशा मे प्रगति ही हुई। मै प्राय यही कहता हूँ कि जीवन का स्तर ऊँचा है या नीचा, इसका उतना महत्त्व नही है, जितना जीवन के तर्ज का है। पाँच रुपया रोज पर काम करनेवाला व्यक्ति, मजदूर कहलायेगा, लेकिन ४०) मासिक वेतन पर काम करनेवाला 'बाबू' कहलाता है। तो यहाँ के स्त्री-पुरुष दूसरे मजदूरो की तरह हाजिरी बनाकर मजदूरी लेने जाते थे। यह देखकर मुझे खुशी होती थी। पूर्वसस्कार और पूर्वग्रह चाहे जो हो,

मजदूरों के साथ एकरूपता

लेकिन केवल औपचारिक दृष्टि से ही जब कार्यकर्ता तथा उनकी स्त्रियाँ और गाँव के मजदूर स्त्री-पुरुषों के साथ मिलकर एक ही भूमिका मे मजदूरी लेते थे, तो वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति के सदर्भ में यह छोटी बात नहीं थी। जिस समय कार्यकर्त्री बहनें हिसाबनवीस की खिडकी से मजदूरी लेती थीं, तो मैं उनके चेहरों को गौर से देखता था। शुरू-शुरू मे वे बहुत शर्माती थीं। उन्हे यह अच्छा नही लगता था। इसका परिणाम यह हुआ कि खादीग्राम के स्थायी मजदूरो तथा कार्यकर्ताओ में परस्पर व्यवहार का विशेष भेद नही रहा। अभी हाल मे ही एक भाई यहाँ काम करने आये थे। दो-तीन दिन तक खादीग्राम के वातावरण को देखकर वे अपने एक साथी से कहने लगे : "भाई, यहाँ तो अद्भुत साम्राज्य है, पता ही नहीं लगता कि कौन क्या है ?"

कार्यकर्ताओ के शिक्षण की दृष्टि से हम लोगो ने यह माना कि वर्ग-हीन समाज मे हरएक मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास होने की आवश्यकता है। इसलिए यह तय किया कि प्रत्येक कार्यकर्ता उत्पादन, व्यवस्था तथा शिक्षण, तीनो काम करे। उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्यकर्ताओं को पत्नियो को भी तैयार करने की कोशिश की गयी।

मैंने पिछले एक पत्र मे लिखा था कि खादीग्राम में बौद्धिक श्रम तथा शारीरिक श्रम का वेतन समान माना गया था। साम्ययोग की साधना मे दूसरा हो ही क्या सकता है ? वस्तुतः इस युग मे इससे कोई इनकार नही कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य को उत्पादक श्रम करना चाहिए, ऐसा आग्रह हम जब करते है, तो समाज के बुद्धिजीवी लोगों को बहुत अटपटा लगता है। वे कहते हैं कि प्रकृति ने हर चीज को एकरूप नहीं बनाया है। वे सृष्टि-वैचित्र्य का सिद्धान्त पेश करते हैं। लेकिन जब हम उनसे कहते हैं कि अगर थोडी देर के लिए मान भी लिया जाय कि प्रकृति ने कुछ लोगो को बौद्धिक शक्ति दी है और कुछ लोगों को केवल शारीरिक शक्ति दी है, तो शरीर-श्रमिक से आपको अधिक वेतन क्यो

बौद्धिक और शारीरिक श्रम

मिलना चाहिए ? ऐसा सुनकर वे चुप हो जाते हैं। भले ही वे सम-वेतन के लिए तैयार न हो, बहस के समय तो वे इस दलील को मान ही लेते हैं। अतः खादीग्राम में बौद्धिक श्रम तथा शारीरिक श्रम का सम्मान होना स्वाभाविक ही था।

शीघ्र ही हमारे इन साथियो ने यह महसूस किया कि केवल समान मजदूरी से ही साम्ययोग की साधना नहीं हो सकती, उससे सम-वेतन मात्र ही होता है। आज के विषमता के युग में किसी संस्था द्वारा समवेतन का मान्य करना साम्य की दिशा मे अत्यन्त क्रातिकारी कदम है, फिर भी इसे साम्ययोग की साधना नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि विनोबाजी सहभोग पर अधिक जोर देते हैं। जब भोग के संदर्भ में साथियो ने विचार करना आरम्भ किया, तो उन्होंने देखा कि यद्यपि सबकी मजदूरी बराबर है, फिर भी भिन्न-भिन्न परिवारो मे बच्चो की संख्या मे भिन्नता के कारण साम्य की सिद्धि नहीं हो रही है। इसके अलावा स्वास्थ्य खराब होने के कारण कोई कम बीमार पडता था, कोई ज्यादा बीमार पडता था। इस कारण भी किसीका खर्च ज्यादा होता था और किसीका कम। इन तमाम स्थितियो को देखकर मित्रों ने यह तय किया कि बच्चे, आरोग्य तथा विवाह के लिए सबकी सामूहिक जिम्मेदारी हो और उन पर जो कुछ खर्चा हो, वह सब समान रूप से बॉट ले। संस्था की ओर से साल मे केवल सात दिन की ही छुट्टी मजूर थी, बीमारी की छुट्टी इक्कीस दिन की थी। कार्यकर्ताओं ने इस छुट्टी को भी सामूहिक 'पूलिंग' (एकत्रीकरण) मे इस्तेमाल करने का तय किया और तदनुरूप संस्था से भी मजूरी ले ली।

यद्यपि साम्ययोग की साधना मे हम अनुभव के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन करते रहे हैं, फिर भी यह मत समझना कि यह सब साम्य-योग है। वस्तुत हमने साम्ययोग की साधना की शुरुआत ही नहीं की थी। हम जो कुछ करते रहे, वह साम्ययोग की दिशा की खोज मात्र था। हमारा विचार साम्ययोग का था, पर संस्कार शोषणजनित

विषमता का था। विचार के साथ आचार का अनुबन्धन कैसे हो, खादी-ग्राम के लोग इसीकी तलाश करते रहे। वास्तविक साम्ययोग तो तब हो, जब हम दूसरे का शोषण किये बिना ही सब मिलकर उत्पादन करे और मिलकर उसका उपभोग करे। इस तरह साम्ययोग के लिए अनिवार्य शर्त यह है कि हम स्वावलम्बी बने। केवल स्वावलम्बी बने, इतने से भी साम्ययोग की साधना नहीं होगी। यह भी हो सकता है कि कुछ लोग उन्नत साधनो आदि के द्वारा अपने श्रम तथा पुरुषार्थ से स्वावलम्बी भी हो जायँ और उस गोल के सब लोग समान रूप से उपभोग भी करने लग जायँ, तब भी वह साम्ययोग नही होगा, यदि उसके आसपास के निवासी यथेष्ट साधनो के अभाव मे अत्यन्त निम्न स्तर का जीवन बिताते हैं और इस गोलवाले अपने पडोसियो की सेवा करके उनका जीवन-स्तर अपने बराबर करने की कोशिश नहीं करते हैं और कोशिश के दौरान मे अपने साधन मे से त्याग कर उनके साथ सह-उपभोग करने की कोशिश नहीं करते। तब यह कैसे माना जाय कि ये लोग साम्ययोग की साधना कर रहे हैं? इसीलिए मैं कह रहा था कि यद्यपि हम अपने को साम्ययोगी परिवार कहते थे, फिर भी हमारी चेष्टा साम्ययोग की नहीं थी, बल्कि दिशा अन्वेषण की थी।

समवेतन और साम्ययोग

खादीग्राम मे साम्ययोग साधना की शुरुआत तथा उसका क्रम-विकास वस्तुतः चाहे जो हो, वह हम लोगो को आरोहण की प्रक्रिया मे एक पडाव आगे ले गया। जिस देश के लोग अत्यन्त व्यक्तिवादी सकीर्णता मे घिरे हुए हैं, यहाँ तक कि समान आदर्श के पीछे चलनेवाली सस्था के कार्यकर्ता भी व्यक्तिवाद तथा विषमता के शिकार है, वहाँ अगर हम एक कोने मे भी साम्ययोग के विचार के अनुसार जीवन-क्रम की तलाश करते रहे, तो भी वह निःसन्देह शान्ति की दिशा मे एक प्रगतिशील कदम माना जायगा। इसलिए हमारे मित्र थोडी सफलता से भी काफी सन्तुष्ट थे और

प्रयोग से प्रसन्नता

उत्साह के साथ नित्य नये प्रयोग का विचार करते थे। बाहर से आनेवाले दूसरे साथियो को भी खादीग्राम के जीवन से पर्याप्त प्रेरणा मिलती थी। वे जब देखते थे कि खादीग्राम के स्त्री-पुरुष और बच्चे चार घण्टे उत्पादक शरीर-श्रम करते है, मिल करके रहते है और मिल करके सामूहिक रूप से पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाते है, तो वे बहुत प्रभावित होते थे। किसी त्योहार पर, दशहरा या दिवाली पर जब दूसरे मित्र खादीग्राम मे आकर यह देखते थे कि यहाँ के पचीसो बच्चो के कपडे एक साथ बन रहे है और सबकी माताएँ साथ मिलकर सबके कपडे इकट्ठे सिल रही है, तो उन्हे बडा अच्छा लगता था। वे अपने-अपने यहाँ जाकर दूसरो से इसकी चर्चा करते थे। कुछ लोग तो पत्र पत्रिकाओ में लेख भी लिखते थे। यो धीरे-धीरे खादीग्राम की श्रम तथा साम्य की साधना की शोहरत देशभर के कार्यकर्ताओ मे फैल गयी।

इस प्रकार सन् १९५४ ५५ का वर्ष श्रम तथा साम्य की साधना का मार्ग ढूँढने मे बीता, पर उसके साथ-साथ खादीग्राम को ग्राम-रचना का उपयुक्त शिक्षण-केन्द्र बनाने, नयी तालीम की प्रयोगशाला चलाने और 'भू' क्रान्ति का सगठन करने का कार्यक्रम तो रहा ही। लेकिन मेरे लिए साथियो से मिलकर वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए, श्रेणी सघर्ष का विकल्प ढूँढने की कोशिश करना ही सबसे महत्त्व का था। मै यह नही कहूँगा कि हमारी कोशिश सफलता की ओर है, लेकिन यह बात नि.सन्देह कही जा सकती है कि खादीग्राम का प्रयोग दिशा निर्देश मे सफल रहा है। कारण, जैसे-जैसे हम प्रयोग करते गये, वैसे-वैसे हमे आगे का मार्ग भी सूझता गया और हम आगे के कार्यक्रम मे परिवर्तन करते गये।

साम्ययोग की कोशिश मे हम लोगो ने जो कुछ किया, उसमे वास्तविक समाधान क्या था, यह तो मालूम नही, लेकिन तुम्हारी दिलचस्पी के लिए इतना विवरण काफी है, ऐसा मै मानता हूँ। आगे चलकर साम्ययोग की क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हुई और हमने कैसे कैसे प्रयोग किये, उस सम्बन्ध मे फिर कभी लिखूँगा।

० ० ०

श्रमशाला के अनुभव : २८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१-१०-'५८

१९५४ मे गया-सम्मेलन के अवसर पर क्राति के आरोहण में जीवन-दान की एक नयी सीढी निकली। उसी सम्मेलन के अवसर पर यह स्पष्ट हुआ कि आज सर्व-सेवा-सघ का एकमात्र मुख्य काम भू क्राति को सफल बनाने का है—और वह खादी-ग्रामोद्योग, कृषि-गोपालन या नयी तालीम का जो भी काम करे, वह सारा काम भूदान-मूलक हो, यही अपेक्षित है।

बिहार मे २० लाख एकड से ज्यादा जमीन मिल चुकी थी। यो २५ लाख एकड का सकल्प लगभग पूरा हुआ। इस सकल्प-पूर्ति से देश-विदेश मे आन्दोलन की ख्याति फैली। विनोबाजी भी उन दिनो बिहार मे ही पदयात्रा कर रहे थे। इन दोनों कारणो से सारे आन्दोलन का आकर्षण बिन्दु बिहार हो गया था। इसलिए उसी अवसर पर निर्णय हुआ कि सर्व-सेवा-सघ का दफ्तर गया मे रहे। दूसरा निर्णय यह हुआ कि सेवाग्राम मे तालीमी सघ तथा सर्व-सेवा-सघ दोनो के अलग-अलग शिक्षण-कार्यक्रम न चले। वहाँ का सारा काम तालीमी सघ के द्वारा चले। इस निर्णय के अनुसार सर्व-सेवा-सघ ने सेवाग्राम तथा वर्धा का शिक्षण-कार्यक्रम समेट लिया और सेवाग्राम के मकान तथा अन्य सामान तालीमी सघ को सौप दिया।

आन्दोलन की ख्याति

आन्दोलन के मुख्य क्षेत्र तथा प्रधान दफ्तर के कारण देश की दृष्टि बिहार की ओर ही लगी रहती थी। सर्व-सेवा-सघ की ओर से इस समय खादीग्राम ही एक केन्द्र था, जहाँ नयी क्राति के सदर्भ मे शिक्षण का कुछ वातावरण बना हुआ था। मै खादीग्राम मे रहता था, इसलिए भी कार्यकर्ता-

शिक्षण के लिए देश की अपेक्षा खादीग्राम से ही थी। इन कारणों से यह निश्चय हुआ कि भूदान-कार्यकर्ताओं का शिक्षण मेरी देखरेख में ही खादीग्राम में हो।

सेवाग्राम का केन्द्र तालीमी संघ को दे देने के बाद सर्व-सेवा-संघ के लिए खादीग्राम ही मुख्य केन्द्र रह गया। प्रधान दफ्तर पास होने के कारण इसे मुख्य शिक्षण-केन्द्र बनाने की आवश्यकता बढ़ गयी।

खादीग्राम केन्द्र का विस्तार

अब तक खादीग्राम छोटा-सा केन्द्र था, थोड़ी जमीन काम लायक थी, बाकी पहाड़ और पत्थर ही था। मन सोचा कि अगर इसे ही मुख्य केन्द्र बनाना है, तो इस केन्द्र को ऐसा बड़ा बनाना होगा, जहाँ मुख्य रूप से खेती की पर्याप्त सामग्री हो। समय बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि सालभर में ही खादीग्राम को बड़े केन्द्र का रूप दिया जाय। इसलिए १९५५ में खादीग्राम का निर्माण-कार्य जोरों से चला। दो-तीन सौ मजदूर स्त्री-पुरुष यहाँ काम करने लगे।

मैं बता चुका हूँ कि १९५४ के बाद से ही मेरी कमर का दर्द अच्छा होने लगा और मैं सालभर देश का दौरा करते रहा। बीच बीच में जब खादीग्राम आता, तो इतने मजदूरों को काम करते देखकर मुझे लगता कि यह सारा वातावरण ठीक सरकारी ढंग का है। जैसे किसी सरकारी ठेकेदार का काम लगा हुआ है।

हमारी योजना और सरकारी योजना

मैं सोचता कि आज के राष्ट्र-निर्माण के दिनों में देशभर की रचनात्मक संस्थाओं की यही स्थिति होगी। हरएक संस्था में इसी तरह मजदूर काम करते होंगे और हर स्थान का दृश्य ऐसा ही होगा। अगर ऐसा ही है, तो हमारे काम करने के ढंग में और देश में विकास योजनाओं के काम में फर्क क्या है। यह सही है कि खादीग्राम में कुछ फर्क था। यहाँ मजदूर काम कर रहे हैं, तो कार्यकर्ता बैठे नहीं है। वे भी कुदाल लेकर मजदूरों की तरह ही आधे समय उनके

साथ मिट्टी खोदकर खेत बनाते हैं। लेकिन यह सब वर्ग-परिवर्तन के सदर्भ मे अपनी विकास-योजना ही थी। लेकिन वर्ग परिवर्तन की प्रक्रिया एक-तरफा तो हो नही सकती। इस प्रक्रिया मे 'हुजूर और मजदूर' दोनो को ही आना है। हुजूरो की श्रम शक्ति के विकास तथा मजदूरो के बौद्धिक तथा सास्कृतिक स्तर के उन्नयन से ही तो पूर्ण मानवरूपी एकवर्गीय समाज बनेगा।

मजदूरों में क्रान्ति कैसे हो ?

जैसा कि पहले बता चुका हूँ, हम लोग श्रम साधना द्वारा वर्ग-परिवर्तन की दिशा मे बढने की कोशिश करते थे। लेकिन इन दो-ढाई सौ मजदूर भाई बहनो को हम ऐसी कोई प्रेरणा नहीं देते थे, जिससे वे भी वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया मे भाग ले सके। तुम पूछोगी कि काति की प्रेरणा कहीं किसी पर लादी जा सकती है क्या ? उसकी प्रक्रिया तो तब शुरू होगी, जब वर्गविशेष मे चेतना हो। तुम्हारा पूछना सही होगा, लेकिन सदियो से शोषित तथा उत्पीडित रहने के कारण जिस मजदूर-वर्ग की चेतना शक्ति शून्य हो गयी है, उसमे कौन चेतना पैदा करेगा। वही करेगा न, जिसमे चेतना पैदा हो चुकी है। तो अगर हम वर्ग-परिवर्तन की क्राति को मानते है और अगर यह मानते है कि हममे इस क्राति की चेतना है, तो क्या मजदूर वर्ग मे इस क्राति के लिए चेतना पैदा करना हमारा काम नहीं है। मै अपने-आपसे पूछता था कि अगर जिम्मेवारी हमारी है, तो हमारे मातहत जो मजदूर काम कर रहे हैं, उन्हे सचेतन बनाने के लिए हम क्या कर रहे हैं ?

पढाई शुरू करने का विचार

मैं यह सब सोचता था, लेकिन मुझे कोई रास्ता नहीं सूझता था। एक दिन यह विचार आया कि इन सबको पढाना क्यो न शुरू करूँ ? यह सोचकर मैने सभी मजदूर भाई-बहनों को बुलाया और उनसे पूछा कि उनमे से कितने लोग पढना चाहते है ? करीब-करीब सभीने हाथ ऊपर उठा दिये। मैंने उनसे कहा कि आज उन्हे ८ घटे मे जितनी 'मजदूरी मिलती

है, पढनेवालो को ७ घटे मे उतनी ही मजदूरी मिलेगी। लेकिन शर्त यह है कि उनकी हाजिरी ८ घटे के बजाय ९ घटे की हो, जिसमे ७ घटे श्रम करे और २ घटे पढ। करीब करीब सभी लोगो ने पढने के लिए अपना नाम लिखाया। दूसरे दिन से खादीग्राम मे सफल परिवर्तन हो गया। सात घटे काम करने के बाद सब लोग शाम को अपने-अपने वर्ग मे पढने चले जाते थे। 'श्रमभारती' अब सही माने मे 'श्रमभारती' बन गयी। शाम को मालूम होता था, मानो बाकायदा स्कूल लगा हुआ है। थोडे ही दिनो मे मजदूर भाई बहनो मे परिवतन आने लगा। पहले जसे ठेकेदारी का वातावरण लगता था, उसके बजाय अब भाईचारे का वातावरण हो गया।

मजदूर वर्ग के लोग जब पढने लगे, तो स्वभावत वर्ग मे उनसे तरह-तरह की चर्चा होने लगी। इससे उनमे भी दिलचस्पी बढी आर वे अनेक प्रश्नों पर जानकारी लेने की कोशिश करने लगे। मैने अपने साथियो से कहा था कि साक्षरता तो अवश्य होनी चाहिए, लेकिन श्रमभारती में उसीको मुख्य वस्तु नही बनाना चाहिए। यहाँ के शिक्षण मे सामाजिक चर्चा खास तार से होनी चाहिए ओर ऐसा होता रहा। इस प्रक्रिया से मजदूर वर्ग मे से कई भाई ऐसे निकले, जो हमारे साधारण कार्यकर्ता जैसे लगते थे। मजदूर हमारे साथ जल्दी ओर आसानी से इसलिए भी घुल मिल गये कि हम लोग सब भाई-बहन उनके साथ समान स्तर मे मिट्टी खोदने का और दूसरा श्रम कार्य करते थे।

मजदूरो की शिक्षा आरम्भ होने से मुझे अत्यधिक सतोप था। मै उनकी प्रगति को बडे ध्यान से निरीक्षण करता रहा। बीच-बीच मे उनसे चर्चा भी करता था। इनके समूह मे १५-१६ वर्ष के कुछ लडके लडकियाँ भी थी। मैने देखा कि ये लडके दूसरे लोगो को अपेक्षा अधिक दिलचस्पी दिखाते है। इससे मन मे खयाल आया कि इनकी दिलचस्पी का सदुपयोग करना चाहिए। हम हजारो रुपये खर्च करते है और सैकडो मजदूरो से काम लेते ह। केवल खादीग्राम में

लडको की पढने मे विशेष दिलचस्पी

ही सौ-दो सौ मजदूर काम करते थे। उन दिनो अपनी यात्रा मे मै जितनी सस्थाओ मे जाता था, सभी जगह नयी-नयी इमारते बनते देखता था और मजदूरो को काम करते देखता था। गाधी आश्रम के मेरठ और अकबरपुर केन्द्र तथा बिहार खादी समिति के मुजफ्फरपुर और इसी तरह से कई बडे-बडे खादी-केन्द्र मैने देखे, तो मुझे इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि केवल इमारत मे ही नहीं, सरजाम बनाने मे, रँगाई-छपाई मे और दूसरे अनेक प्रकार के उत्पत्ति के कामो मे भी हजारो की सख्या मे मजदूर काम करते है। ऐसी सस्थाओ में मजदूरो के काम का दर्शन किसी फैक्टरी के काम से भिन्न नही जान पडता। मैंने अदाज किया कि राष्ट्रीय विकास के दिनों मे केवल गाधीजी के नाम पर खुली रचनात्मक सस्थाओं मे ही कम-से-कम ५० हजार मजदूर काम करते होगे। अगर इन तमाम मजदूरो के स्थान पर हम १२ वर्ष से ३० वर्ष उम्र के लडको से काम ले और उन्हे पढाये, तो नयी तालीम की दिशा मे एक बहुत बडा कदम होगा। मन मे ऐसी कल्पना आते ही मै इस प्रश्न पर विचार करने लगा। शुरू-शुरू मे ऐसा महसूस हुआ कि शायद नयी तालीम की दिशा में ऐसा सोचना गलत होगा, क्योकि इसमे केवल उद्योग है और दूसरी चीजों का अवसर नहीं। फिर सोचा कि आज की नयी तालीम इससे बहुत भिन्न है क्या ?

सामाजिक वातावरण कैसे ?

तुम लोगो को इस बात का अनुभव है ही कि नयी तालीम के जो तीन माध्यम है, उनमे से उद्योग के सिवा शेष दो माध्यमो की प्राप्ति बुनियादी शालाओ मे नही हो पाती है। शाला मे कुछ बागवानी तथा थोडी-बहुत कताई बुनाई कराकर या एकाध अन्य उद्योग चलाकर उद्योग के मारफत शिक्षण की प्रक्रिया चला लेते है। लेकिन सामाजिक वातावरण या प्राकृतिक वातावरण को हम शाला के अन्दर पैदा नहीं कर पाते है। क्योकि दोनो मे से एक को भी कृत्रिम रीति से गढा नही जा सकता है। परिवार के व्यक्तियो मे आपसी नैसर्गिक सम्बन्ध तथा पडोसी परिवारो के साथ आपसी सहज सम्बन्ध शाला मे या सस्थाओ में निर्माण

नहीं किया जा सकता। शाला मे बच्चे पढने के लिए आते है, लेकिन होते हैं वे ग्राम-समाज के, शाला-समाज के नहीं। सस्थाओं मे जो रहते हैं, वह उनका असली घर नहीं है। उनके जीवन-मरण की समस्या एक-दूसरे से जुडी हुई नहीं है। सम विचार या सम योजना के आधार पर एकत्र लोगों का सघ बन सकता है, परिवार नहीं। परिवार तो स्नेह-सम्बन्ध से ही बन सकता है। इस सम्बन्ध को बनाया नहीं जा सकता, वह बनता है। उसके लिए परम्परा चाहिए। यही कारण है कि आज हमारी सस्थाओं के कार्यकर्ताओ मे परस्पर उतना भी पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है, जितना कि आपस मे झगडनेवाले देहाती परिवारों के बीच देखा जाता है। माना कि छोटे छोटे स्वार्थों को लेकर वे आपस में झगडते है, फिर भी उनकी अन्तरात्मा यह जानती है कि वे जीवन मरण के लिए एक-दूसरे के साथ बँधे हुए है। इसलिए तुम लोगो की बुनियादी शालाओ मे नयी तालीम सस्थाओं के शिक्षण के लिए सही सामाजिक वातावरण नहीं मिलता।

वही स्थिति नैसर्गिक वातावरण की भी है। देशभर मे हम नयी तालीम की जितनी शालाएँ या सस्थाएँ चलाते है, उनमे शायद ही एकाध सस्था ऐसी होगी, जिसे विशेष रूप से नैसर्गिक वातावरण प्राप्त हो। देहातो मे फिर भी कुछ मिल जाता है, शहरो मे तो उसका नितान्त अभाव है। फिर भी हम इसी परिस्थिति मे से नयी तालीम निकालने की कोशिश तो करते ही है। तो इतना बडा अवसर किसलिए छोड दिया जाय?

इसलिए जब मैंने देखा कि हमारी सस्थाओ मे विभिन्न उद्योगो के सिलसिले में करीब पचास हजार मजदूर काम करते ह, तो मुझे ऐसा लगा कि यह क्षेत्र नयी तालीम के लिए एक व्यापक क्षेत्र है।

जैसा कि मेरा स्वभाव है, नयी तालीम के उस पहलू पर विचार करते हुए मेरा चिन्तन बहुत दूर तक चला गया। यहाँ तक कि तुम लोग मुझे शेखचिल्ली के नाम से पुकारने लगोगी। मैने हिसाब जोडा कि मेरे यहाँ जितने मजदूर है, उसके बदले में अगर दस-ग्यारह से लेकर पन्द्रह-सोलह

वर्ष के लडके रखूँ, तो सख्या कम-से-कम ड्योढी हो जायगी और अगर काम के घण्टे ८ के वजाय ५-६ रखे जायँ, तो यह

राष्ट्रव्यापी शिक्षण-योजना

सख्या दूनी से कम न होगी। इसका मतलब यह हुआ कि सस्थाओ मे ही एक लाख के करीब शिक्षार्थी मिल जायेगे। ये शिक्षार्थी ऐसे होगे, जो कभी भी चालू-बुनियादी या गैरबुनियादी शालाओ मे भरती होनेवाले नहीं हैं। फिर आगे सोचने लगा कि सरकार राष्ट्रनिर्माण का काम कर रही है। उसकी एक पचवर्षीय योजना बनी है, जिसके अनुसार गॉव गॉव मे कुऑ, तालाब, सडक, नहर आदि मे लाखो मजदूर काम कर रहे हैं। अगर इन मजदूरो के चौथाई भी मजदूर शिक्षण-प्रक्रिया में आ जायँ, तो यह सख्या कई लाख तक पहुँच जायगी। अगर देश के नेता इधर ध्यान दे, तो राष्ट्र-निर्माण की कोई अलग योजना न बनकर शिक्षण योजना के फलस्वरूप राष्ट्र-निर्माण की लक्ष्य-पूर्ति हो सकती है।

आखिर नयी तालीम का लक्ष्य तथा उसकी प्रक्रिया क्या होगी? उसका लक्ष्य देश का नागरिक बनाना है न? स्वराज्य मे नागरिक कौन हैं? गाधीजी ने एक बार स्वराज्य की परिभाषा बताते हुए कहा था कि "नागरिक वे होगे, जिन्होने शरीर-श्रम से राष्ट्र की सेवा की है।" यानी शरीर-श्रमिक ही वोट का अधिकारी होगा। तो शिक्षण का उद्देश्य सबसे पहले वोट देनेवालो की ही शिक्षा है न? फिर नयी तालीम की प्रक्रिया उत्पादक श्रम के माध्यम से ही तालीम देने की है न? जरा सोचो तो कि यदि ये दोनो बाते सही है, तो तुम्हारी नयी तालीमशाला कहॉ होगी? शिक्षण का क्षेत्र किसे कहोगी? क्या विद्यालय का अलग से भवन बनाकर उसमे कुछ जमीन और उद्योग जोडकर उसीमे उत्पादक श्रम का अवसर निर्माण कर सारे श्रमिको के बच्चो को वहॉ लाकर शिक्षण देना है या आज वे जहॉ कही भी उत्पादक श्रम करते है, शिक्षण को ही उसी जगह ले जाना होगा? अगर तुम शाला मे सबको बुलाकर शिक्षण देना चाहती हो, तो क्या यह शक्य होगा?

वस्तुतः राष्ट्र-निर्माण का मतलब ही है राष्ट्र के नागरिक का निर्माण। समस्त विकास-योजना इस नागरिक निर्माण की प्रक्रिया का माध्यम होनी चाहिए। अतएव अगर नयी तालीम को व्यापक और प्रगतिशील बनाना है, तो राष्ट्रीय विकास-योजना के सिलसिले मे जो कुछ निर्माण कार्य हो रहा है, उसीको शिक्षा का माध्यम बनाना होगा। आखिर नयी तालीम-शाला में उन कार्यक्रमो से अधिक क्या करती हो। खेती की तरक्की, ग्रामोद्योग का प्रसार, गृह-निर्माण, मार्ग-निर्माण, सिंचाई व्यवस्था का कार्यक्रम आदि के अलावा नयी तालीम की सस्थाओं मे अधिक कुछ होता है क्या? अगर ठीक से निरीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि अधिक तो होता ही नही, बल्कि उतना भी नही होता, जितना विकास-योजना के सिलसिले मे होता है। कल ही मै एक बुनियादी शाला मे गया था। मैंने लडको से पूछा कि आज देश मे सबसे ज्यादा सकट किस बात का है। लडको ने तुरत जवाब दिया कि "अन्न का सकट आज मुख्य सकट है।" मैने जब पूछा कि "यह सकट दूर कैसे हो", तो उन्होने कहा कि "अन्न उत्पादन मे वृद्धि करने पर होगा।" "कैसे वृद्धि हो?" पूछने पर जवाब मिला. "सब लोग जमीन पर मेहनत करे।"

आगे की प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट हुआ कि जो लडके शाला मे शिक्षा पाते हैं, वे गॉव के खेत मे काम करने नही जाते है और जो काम करते हैं, वे शाला मे पढने नही आते।

चर्चा के दौरान मे एक लडके ने कहा कि हम लोग भी खेती करते है और अपने अहाते के कोने मे एक खेत दिखला दिया। मैने पूछा कि कितना खेत है, तो उन्होने कहा 'दो कट्ठा।' शिक्षार्थियो की सख्या ७८ बतायी। मैंने जब पूछा कि दो कट्ठा जमीन पर ७८ लडके खडे हो जाने पर धान रोपने के लिए कितनी जमीन बच जाती है, तो बच्चे हॅसने लगे।

इसलिए नयी तालीम के प्रश्न पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय विकास-योजना के सन्दर्भ मे ही विचार करना होगा। बुनियादी

शालाओ के उपलब्ध साधन से उत्पादक श्रम करना तो दूर की बात है, श्रम का नाटक भी नही हो सकता। इसलिए मैंने सोचा कि खादीग्राम मे जो निर्माण-काम हो रहा है, उसी काम को केन्द्र बनाकर यदि कुछ प्रयोग कर लूँ, तो इस विचार को आगे बढाने की दिशा मे बहुत मदद मिलेगी।

प्रयोग करने का निश्चय

अपना यह विचार मैं अपने साथियो के सामने बराबर रखता रहा हूँ। एक दिन मैने उनसे कहा कि अब मजदूरो की जगह छोटे लड़को को रखना शुरू कर दो और उनके शिक्षण की एक योजना बना डालो। योजना का स्वरूप क्या हो, इस पर काफी चर्चा होती रही। चर्चा होकर तय हुआ कि फिलहाल छह घण्टा काम करे। उनकी श्रम शक्ति को देखकर मजदूरी तय की जाय और उन्हे दो घण्टे पढाया जाय। इसके अलावा उन्हे सामाजिक शिक्षा देने के लिए मन्त्रिमण्डल बनाकर उन्हींके काम के अलग-अलग हिस्सो की जिम्मेदारी दी जाय।

इस शाला का नाम श्रम-शाला रखा गया। अक्तूबर १९५५ मे इसका श्रीगणेश किया गया। जनवरी से ही बुनियादी शाला चल रही थी। उसे इसके साथ मिलाया नहीं गया, बल्कि एक स्वतन्त्र शाला के रूप मे इसका काम शुरू किया गया। शुरू में ऐसा सोचा था कि श्रम-शाला के बच्चो को भी बुनियादी शाला के विभिन्न वर्गों मे बैठाया जाय, क्योंकि बुनियादी शाला में भी दो ही घटे की पढ़ाई थी, लेकिन गॉव के बच्चे बडी उम्र तक पढे हुए नहीं थे। इसलिए उम्र मे तथा सामाजिक होश की विषमता के कारण श्रमशाला के बच्चे बुनियादी शाला के विभिन्न वर्गों के बच्चो के साथ मेल नही खा रहे थे। इसलिए दोनों को एक मे मिलाने का विचार छोड दिया गया और दोनो को अलग अलग चलाने का ही निश्चय किया गया।

इस प्रकार खादीग्राम मे बुनियादी शाला के आठ वर्ग तथा श्रम-शाला के पॉच वर्ग मिलाकर तेरह वर्ग चलने लगे। तेरह वर्ग में तेरह

अच्छे शिक्षकों की समस्या खडी हुई, लेकिन साथियों में से चुनकर वह समस्या हल की गयी। इस हल में बहनों ने भी साथ दिया। शिक्षकों में तीन-चार बहनें भी थीं।

श्रमशाला बडी धूम से चली। आसपास के गाँवों के मजदूर और गरीब किसानों में काफी उत्साह दिखाई दिया। बच्चे भी उत्साही थे।

श्रमशाला की धूम

धीरे-धीरे बच्चे जब शिक्षा की महत्ता को समझने लगे, तो समय विभाजन में कुछ परिवर्तन किया गया। पहले पाँच घंटे, बाद में चार घण्टे कमाई का काम तथा दो घंटे कताई और दो घंटे पढाई का कार्यक्रम रखा गया। ऐसा कार्यक्रम रखने पर बच्चों की कमाई में बहुत अन्तर नहीं आया, क्योंकि उत्साह तथा दिलचस्पी के साथ काम करने के कारण उनमें श्रम-शक्ति की वृद्धि होने लगी। पहले वे एक दिन में जितना काम करते थे, उससे अधिक काम करने लगे। उसे देखकर मैंने मजदूरी बढाने की बात सोची।

इन्हीं दिनों अण्णासाहब गया में आये हुए थे। मैं भी वहाँ गया हुआ था। अण्णासाहब हमेशा से ऐसे कामों में दिलचस्पी लेते रहे हैं। मैंने उनसे इसकी चर्चा की और कई बातों में उनकी सलाह ली। सर्व-शक्ति की बात सुनकर उन्हें बडी खुशी हुई। उन्होंने कहा : "आप मजदूरी बढाने की जो बात सोच रहे हैं, वह पैसे में न देकर अन्न के रूप में दीजिये। तो बढती हुई श्रम शक्ति कायम रहेगी, नहीं तो उत्साह के कारण आज जो अधिक मेहनत कर रहे हैं, वह अधिक दिन टिकेगी नहीं। बल्कि इसके फलस्वरूप उनकी जीवन-शक्ति का ह्रास होगा।" अण्णासाहब की यह बात मुझे जँच गयी। मैंने वहाँ से लौटकर अपने साथियों से कहा कि काम खूब कसकर करो और जो मजदूरी दे रहे हो, इसके अलावा नाश्ता दो। नाश्ता देने से उनके उत्साह तथा स्वास्थ्य दोनों में वृद्धि होने लगी। छह घंटे के बदले चार घंटे श्रम और नाश्ता

इन दोनो बातों से उनकी जीवनी शक्ति काफी बढ गयी। थोडे मे ही उनकी शक्ल बदल गयी।

श्रमशाला के प्रयोग ने नयी तालीम की दिशा मे नया विचार तथा नयी रोशनी प्रकट की। बच्चे पढाई के मामले मे इतनी तेजी से प्रगति करने लगे कि हमारे सभी शिक्षक हैरान हो गये। बुनियादी शाला के बच्चो से वे हर बात मे आगे बढ गये। वे पॉच घण्टे मिट्टी खोदने और काटने का काम करते थे, दो घण्टे कताई करते थे और दो घण्टे पढते थे। इस तरह इनका कार्यक्रम नौ घण्टे का था। बुनियादी शाला के बच्चो का कार्यक्रम आठ घण्टे का ही था। फिर भी खाना खाने के बाद ये बच्चे पेड के नीचे कबड्डी खेलते थे और अत्यन्त प्रसन्न रहते थे, लेकिन बुनियादी शाला के बच्चे, जो उन लोगों से अच्छा भोजन पाते थे, दूध पीते थे और उनसे कहीं हलका श्रम करते थे, दिन मे डेढ घण्टे सोते थे और हर काम मे सुस्ती करते थे। उनके चेहरो पर श्रमशाला के बच्चो से उत्साह तथा स्फूर्ति भी कहीं कम थी। यद्यपि शुरू मे ये लोग पढाई में बहुत पिछडे हुए थे, फिर भी थोडे ही दिनो मे इनकी प्रगति बुनियादी शाला के बच्चो से कहीं अधिक थी। हिसाब मे तो उनकी गति आश्चर्यजनक थी। मै कभी-कभी सोचता था कि हम जगह-जगह छात्रावास खोलकर मध्यम वर्ग के बच्चो को लेकर बुनियादी तालीम का जो चित्र निकालने की कोशिश कर रहे है वह कहीं निष्फल चेष्टा तो नही है? लेकिन फिर यह भी विचार आता था कि नयी तालीम का क्षेत्र जब सर्वव्यापी है, तो हर श्रेणी के लिए तालीम की प्रक्रिया ढूंढनी ही होगी। इसलिए निष्ठापूर्वक दोनों शालाएँ चलाता रहा।

छात्रों की आश्चर्य-जनक प्रगति

खादीग्राम की समस्या अत्यन्त कठिन थी। साम्ययोग के आधार पर नौजवानो को आकर्षित करना, उन्हे टिकाना और साथ साथ सख्या की आवश्यकता की पूर्ति करना कठिन समस्या थी। आन्दोलन की जिम्मेदारी, आसपास की विकास-योजना, श्रमभारती का निर्माण,

दफ्तर हिसाब आदि व्यवस्था का सचालन आदि तो था ही, उसके अलावा तेरह वर्ग चलाने की समस्या अत्यन्त कठिन हो रही थी। भाई राममूर्ति, रुद्रभानु भाई, अमरनाथ भाई आदि साथी हमेशा परेशान रहते थे। शिक्षक जुटाने की समस्या उनके लिए अत्यन्त कठिन थी।

एक ओर शिक्षकों के प्रश्न पर साथियों की परेशानी थी, सरी ओर नयी तालीम की सही प्रक्रिया क्या हो, इस प्रश्न पर नयी दिशा मे मेरा चिन्तन चलता था। यह हमे एक नये प्रयोग की ओर ले गया। जनवरी १९५६ मे हमने हिम्मत करके बुनियादी शाला तथा श्रमशाला को एक साथ मिला दिया। दानो को मिलाने मे एक सामाजिक कारण ने भी बहुत हद तक काम किया। वह कारण था श्रेणी-विषमता। मैने देखा कि श्रमशाला के बच्चे श्रम शक्ति मे, सामान्य बुद्धि मे, पढाई में, प्रगति मे, जीवन के आनन्दोपभोग मे तथा जिम्मेदारी महसूस करने मे बुनियादी शाला के बच्चो से ऊँचे थे, फिर भी बुनियादी शाला के बच्चे उन्हे हेय दृष्टि से देखते थे। वे अपने को 'मालिक लोग', 'बाबू लोग' मानते थे और श्रमशाला के बच्चों को मजदूर। मैने पहले ही कहा था कि खादीग्राम में मेरी चेष्टा हुजूरो की श्रम-शक्ति मे वृद्धि तथा मजदूरो मे सास्कृतिक प्रगति से दोनो को एक मे विलीन करने की ही रही है। बुनियादी शाला के बच्चों की मानसिक वृत्ति इस चेष्टा को विफल कर रही थी। इसलिए भी आवश्यक हो गया कि दोनो को एक मे मिला दिया जाय। इस प्रकार श्रमशाला और बुनियादी शाला को मिलाने मे तीन बातो ने काम किया .

श्रमशाला और बुनियादी शाला का संगम

१. श्रेणीहीन समाज कायम करने की आवश्यकता।

२. श्रमशाला के बच्चो का बौद्धिक विकास तीव्र गति से होना।

३. शिक्षकों की सख्या मे कमी होना।

बुनियादी शाला और श्रमशाला को एक मे मिलाने मे एक-आध वर्ग के दो विभाग करने पडे। एक ही वर्ग मे कई उम्र के बच्चे होने

से सामाजिक विकास के हिसाब से दो विभाग किये गये । इस तरह तेरह वर्गों के स्थान पर आठ वर्ग न होकर दस हो गये । खेत मे और भूमि-सुधार मे काम के घण्टे श्रमशाला के बच्चो के लिए बुनियादी शाला के बच्चों की ही तरह चार घण्टे रखे गये । यद्यपि चार घण्टे की कमाई के कारण श्रमशाला के बच्चों की आमदनी कुछ कम हो गयी, फिर भी बच्चे छोडकर नहीं गये, क्योंकि अब तक उनमे शिक्षा की भूख पैदा हो गयी थी ।

बुनियादी शाला और श्रमशाला को मिला देने से बच्चो मे आशा के अनुरूप ही प्रतिक्रिया हुई । बुनियादी शाला के बच्चों ने सगठित विरोध
किया । उन्होंने मजदूरो के बच्चों के साथ एक आसन
आशा के अनुरूप पर बैठकर शिक्षा लेना नापसन्द किया और वद्रमानु
प्रतिक्रिया भाई से अपनी नापसन्दगी जाहिर की । इस मनो-
भावना को मिटाने में तीन चार महीने का समय चला
गया, इसलिए व्यवस्थित शिक्षा-क्रम मे विशेष प्रगति नहीं हो सकी । धीरे-धीरे बच्चो मे मानसिक व्यवधान समाप्त होने लगा, फिर उन्होंने रुचि से साथ-साथ काम करना, साथ खेलना और साथ पढना शुरू किया ।

कार्यकर्ताओ की कमी थी, इसलिए प्रत्येक शिक्षक को शिक्षण के काम के अलावा व्यवस्था का काम भी देखना पडता था । विभागों की
जिम्मेदारी तथा शिक्षण की जिम्मेदारी के कारण
शिक्षकों के स्वास्थ्य शिक्षण-कला का अध्ययन, अभ्यास-क्रम तैयार करना
पर बुरा असर आदि काम रात को ही हो सकता था । चार घंटे
पथरीली जमीन पर कठिन शरीर-श्रम, दो घंटे मौखिक
शिक्षण वर्ग, दो-तीन घंटे अपने-अपने विभागों की जिम्मेदारी, काम के साथ-साथ रात को दस-ग्यारह बजे तक समवाय पाठ तैयार करना और साथ-साथ अपना भी अध्ययन जारी रखना आदि कामों के कारण खादी-ग्राम के साथियो पर बहुत अधिक बोझ पड़ गया । इसीसे करीब-करीब सभी लोगो का स्वास्थ्य बिल्कुल बिगड गया । भाई राममूर्ति का स्वास्थ्य

एकदम गिर गया। वे जब से आये, तभी से अस्वस्थ थे, लेकिन सबके साथ समान परिश्रम के साथ साथ उन्हे शिक्षकों की तैयारी भी करनी पडती थी, इससे उन पर और अधिक बोझ पडा, लेकिन उत्साह अधिक था, इसलिए सब लोग एकाग्रता से आगे बढते रहे।

जनवरी १९५६ मे खादीग्राम में जयप्रकाश बाबू, अप्पासाहब आदि सर्वोदय के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति सर्वोदय-योजना पर चर्चा करने के लिए एकत्रित हुए थे। वे सब अपनी चर्चा के साथ साथ श्रमशाला की योजना को भी गौर से देखते रहे और हम लोगों से इस बारे मे चर्चा भी करते रहे। श्रमशाला की योजना जयप्रकाश बाबू को बहुत पसन्द आयी। श्रमिक वर्गों की शिक्षा की एक नयी प्रक्रिया से उन्हे बहुत खुशी हुई। वे सबसे अधिक प्रभावित इस बात से हुए कि श्रमशाला के कारण हमे आसपास के देहातो मे पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करना आसान हो गया था।

खादीग्राम मे चर्चा

यह सम्पर्क तब और भी गहरा हुआ, जब उस वर्ष आसपास के देहातो में जापानी धान खेती का आन्दोलन चला। पिछले साल खादी-ग्राम की पथरीली जमीन पर जब हमने एक एकड मे ५६ मन धान पैदा किया तथा ३७॥ मन प्रति एकड औसत पैदावार हुई, तो आसपास के किसान आश्चर्य से चकित हुए। जब हम आये थे, वे हमसे कहते थे कि "इस जमीन पर भाँग भी पैदा नहीं हो सकती है, आप इस पर खेती करना चाहते हैं ?" अतएव जब उन्होने देखा कि हमने उसी जमीन पर एकड पर ५६ मन धान पैदा किया, तो हमारी खेती करने की बुद्धि पर उनकी श्रद्धा हुई। पहले वे हँसते थे। कहते थे, "ये बाबू लोग क्या खेती करेंगे ?" अब वे हमसे सलाह लेने के लिए आने लगे। हमारी श्रमशाला के बच्चे जापानी धान खेती की कला अच्छी तरह सीख गये थे, इसलिए उनके घरो से जापानी धान खेती की प्रक्रिया शुरु कराना आसान हो

पडोसी गाँवों पर असर

गया। धीरे-धीरे दूसरे किसान भी हमारे पास आने लगे और अपनी जमीन पर जापानी पद्धति से धान रोपने की कला बताने का अनुरोध करने लगे। इस प्रकार श्रमशाला के बच्चो की आवश्यकता देहाती क्षेत्र मे भरपूर साबित हुई। कही से माँग आती थी, तो वे जाकर यह काम करा देते थे। इस प्रकार श्रमशाला तथा बुनियादी शाला के सम्मिश्रण से जिस नयी तालीम के प्रकार का विकास हो रहा था, वह काफी समाधानकारक मालूम हुआ। केवल हमे ही ऐसा लगता था, सो नहीं, बल्कि छात्रावास के मध्यवर्गीय बच्चो तथा देहात के श्रमिकवर्गीय बच्चो दोनो को समाधान था। इतना ही नही, बल्कि बिहार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के जो भी मित्र खादीग्राम मे आते थे, उनको भी यहाँ की शिक्षा ने काफी प्रभावित और आकर्षित किया। फलस्वरूप मासिक २५), ३०) खर्च देकर भी लोग हमारे पास बच्चे भेजने लगे।

यह सब हुआ, पर मेरे मन मे पूर्ण समाधान नहीं था। मै अक्सर कहा करता था कि यह श्रमशाला बीच की चीज है, नयी तालीम का वास्तविक स्वरूप तो ग्रामशाला के रूप मे ही प्रकट हो सकता है। मै लिख चुका हूँ कि सस्थाओं मे और देश मे निर्माण-कार्य के सिलसिले में लाखों बालको तथा किशोरो का श्रम शाला की प्रक्रिया से शिक्षण हो सकता है।

ग्रामशाला की कल्पना

यद्यपि यह प्रक्रिया मुख्यतः उद्योग द्वारा शिक्षण की प्रक्रिया न होकर उद्योग के साथ शिक्षण की प्रक्रिया है, फिर भी आज देश मे जो बुनियादी शिक्षा चल रही है, उससे यह अधिक वास्तविक होगी। क्योकि इसमे बच्चे जो काम करते हैं, उसमे उनकी दिलचस्पी होती है और उन्हे अधिक जिम्मेदारी से काम करना पडता है। लेकिन सस्था के अन्तर्गत कृत्रिम उपाय से औद्योगिक सयोजना तथा सामाजिक परिकल्पना से नयी तालीम के लिए सही पृष्ठभूमि नहीं बन पाती है, इसलिए मै काफी तेजी से ग्रामशाला के विचार का चिन्तन करने लगा।

इस बीच हम खादीग्राम के सभी भाई-बहन दो-तीन दिन के लिए

भाई जयप्रकाशजी के सोखोदेवरा आश्रम गये हुए थे। जयप्रकाश बाबू जब जनवरी में खादीग्राम आये थे, तो ऐसा सोचा था कि सर्वोदय की विभिन्न संस्थाओं के लोग बीच-बीच में इकट्ठे होकर सहवास, सहचिन्तन तथा सह-सम्वाद मे समय बितायें, तो विचार की पुष्टि, कार्य-क्रम की स्पष्टता तथा परिवार-भावना के विकास मे मदद मिलेगी। उन्होंने इस मामले में पहल करने के लिए खादीग्राम के पूरे परिवार को सोखोदेवरा आने का निमन्त्रण दिया। हम लोगों ने उनका निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और वहाँ पहुँचे। जयप्रकाश बाबू ने तीन दिन की चर्चा का विषय ही श्रमशाला और ग्रामशाला रखा था, ताकि वहाँ के मित्रों को हमारे प्रयोगों से लाभ मिले। हम लोग भी अपने प्रयोग की ब्योरेवार रिपोर्ट वहाँ ले गये थे। सोखोदेवरा के मित्रों के प्रश्नों के उत्तर देने में मेरे मन मे भी जो बाते साफ नहीं थीं, वे साफ हुई, उनकी शकाओं मे ऐसे कई पहलू थे, जिन पर मैंने पहले विचार नहीं किया था, विशेषत. आन्दोलन के सदर्भ में 'ग्रामशालाओं का क्या स्थान है?' इस प्रश्न पर पर्याप्त चर्चा हुई। वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया मे श्रमशाला तथा ग्रामशाला विशेष महत्त्व का स्थान रखती है, इसका विवेचन मैंने काफी विस्तार से किया। इस प्रकार सोखोदेवरा की तीन दिन की चर्चा ने मुझे बहुत मदद दी और इस सम्बन्ध मे मै अधिक गहराई से सोचने लगा।

सोखोदेवरा में चर्चा

धीरे-धीरे मेरे मन मे यह विचार पक्का होता गया कि ग्रामशाला ही सर्वोदय-आन्दोलन की एकमात्र बुनियाद हो सकती है। वस्तुत आज जो आन्दोलन चल रहा है, वह सिर्फ विचार प्रचार है, बुनियादी कार्यक्रम नहीं है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि आज हम लोग जो आन्दोलन चला रहे हैं, वह क्रान्ति की पूर्व तैयारी मात्र है।

इस प्रकार सोचते-सोचते मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अगर खादी-ग्राम के लोग आन्दोलन के वाहक बनना चाहते हैं, तो वे खादीग्राम की

चहारदीवारी के अन्दर रहकर नहीं बन सकते । उन्हे गॉव-गॉव मे फैलना

गाँव-गाँव मे फैलने का विचार

होगा और जनता मे विलीन होकर उनके आधार से तथा उनके जरिये आन्दोलन चलाना होगा और इसका रचनात्मक स्वरूप ग्राम-शाला ही होगी । ऐसा सोचकर मैने अपने साथियो मे यह विचार प्रकट करना शुरू किया और अन्त मे यह बात भी कह दी कि एक दिन निश्चित कर उन्हे गॉव-गॉव में फैलना है ।

● ● ●

ग्रामराज-सम्मेलन

: २९ :

श्रमयात्रा के पड़ाव से
१४-१२-'५८

नवम्बर '५४ मे सणोसरा मे नयी तालीम का जो सम्मेलन हुआ उसकी अध्यक्षता मैंने तुम्हारे आग्रह के कारण ही स्वीकार की थी। वहाँ के अध्यक्षीय भाषण मे मैने नयी तालीम के बारे मे अपने विचार तथा परिकल्पना व्यक्त की। तुम्हे याद होगा कि उस भाषण की चर्चा देशभर मे हुई और नयी तालीम के कार्यकर्ताओ ने उससे नयी प्रेरणा पायी। कुछ मित्रो मे नयी शकाएँ भी उत्पन्न हुई। उत्पादक शरीर श्रम की अनिवार्यता की बात स्वभावत. पढे-लिखे मध्यम वर्ग के गले मे उतरती नहीं, अतएव इस पहलू पर जो जोर था, उससे कुछ मित्रो को परेशानी थी। इस युग मे सस्था की चहारदीवारी तालीम का उपादान बनने के लिए असमर्थ है। सारे समाज के समस्त कार्यक्रमों को तालीम का माध्यम बनाकर पूरे समाज को ही तालीम-सस्था बनाने की जो कल्पना थी, उसका आकर्षण मित्रों मे था, परन्तु उसकी सम्भावना में शका थी। यह सब था, लेकिन देशभर मे इन विचारों का खूब ही मन्थन चला। सणोसरा मे तो इस पर निरन्तर चर्चा चलती ही रहती थी। आखिर में मनुभाई और उनके साथियो के आग्रह से अधिक चर्चा के लिए सम्मेलन के बाद भी एक दिन मुझे रुकना पडा। काफी गहराई से चर्चा हुई। यद्यपि किसीको यह विचार ग्राह्य नही हो सका कि प्रत्येक को श्रम-आधारित जीवन व्यतीत करना ही चाहिए, फिर भी बौद्धिक श्रम तथा शरीर-श्रम का मूल्य बराबर हो, इस बात पर सब लोग एकमत थे। फिर मैंने मनुभाई से कहा कि "आप लोग कुल बुनियादी तालीम की सस्थाओ मे इतना कर ले कि शरीर-श्रम और बौद्धिक श्रम का मूल्य बराबर है, तो

फिर फिलहाल मुझे सन्तोष होगा।" क्योकि मैं मानता था कि अगर समाज इस समानता को स्वीकार कर ले, तो हर मनुष्य के जीवन के तौर-तरीके में साम्य आ जायगा और परिणामतः शरीर-श्रम की अनिवार्यता का दर्शन स्वयमेव हो जायगा।

आन्दोलन और नयी तालीम

सणोसरा-सम्मेलन के बाद से मेरा चिन्तन आन्दोलन और नयी तालीम की अभिन्नता की ओर तेजी से बढने लगा। उस चिन्तन के फलस्वरूप १९५५ के पूरे वर्ष मे खादीग्राम के निर्माण-कार्य के सम्बन्ध मे किस तरह मजदूरो की पढाई शुरू हुई और आखिरी अक्तूबर १९५५ मे किस तरह श्रमशाला का जन्म हुआ, उसका विवरण तथा उसके सिलसिले मे वर्षभर के चिन्तन के प्रवाह का व्योरा पिछले पत्र में लिख चुका हूँ।

अखिल भारत सर्व-सेवा-सघ के अध्यक्ष पद की जिम्मेदारी सँभालने के बाद देशभर मे दौरा कर आन्दोलन की परिस्थिति का दर्शन किया था, उससे मेरे मन पर यह असर पडा कि विनोबा के कारण यद्यपि इस आन्दोलन का विचार-प्रचार जोरों से हो रहा है, तथापि आन्दोलन का स्वरूप जन आन्दोलन के बजाय सस्थागत प्रवृत्ति का रूप धारण कर रहा है। जिस प्रकार खादी का काम चरखा-सघ की एक प्रवृत्ति के रूप मे चल रहा था, उसी तरह यह आन्दोलन भी सर्व-सेवा-सघ की एक प्रवृत्ति के रूप मे चल रहा है। यह अनुभूति मेरे मन पर बोझरूप बनी रही।

आन्दोलन गाधी-स्मारक-निधि के खर्चे से सर्व-सेवा-सघ द्वारा सस्थापित, भूदान समिति द्वारा नियुक्त कार्यकर्ताओं की मार्फत अत्यन्त सीमित दायरे में चल रहा था। जनता उसे अपने काम के रूप मे लेती ही नहीं थी, समझती भी नहीं थी। मैंने महसूस किया कि जब तक आन्दोलन गाधी-निधि के सहारे तथा तन्त्रबद्ध कार्यकर्ताओ के जरिये ही चलता रहेगा, तब तक यह प्रवृत्ति का ही रूप बना रहेगा, आन्दोलन का रूप नहीं लेगा। विनोबाजी के उत्तर प्रदेश मे रहते ही जिस समय गाधी-निधि के खर्चे से

आन्दोलन चले, ऐसा प्रस्ताव हुआ था, मैंने उसका किस तरह विरोध किया था, यह बात पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हूँ। लेकिन अब मेरे मन में दृढ प्रत्यय हो गया कि केवल केन्द्रित निधि-मुक्ति काफी नहीं है, बल्कि कार्यकर्ता तन्त्रमुक्त होकर जन-आधारित बने, जन-जन मे फैल जायँ, तभी आन्दोलन जन-आन्दोलन बनेगा और तभी इसमें तेज आ सकेगा। तन्त्र-मुक्ति के इस विचार के बारे में भी पिछले कई पत्रों मे मैं विस्तार से लिख चुका हूँ। इस समय खादीग्राम की आरोहण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में इसे व्यवहार मे किस तरह लाया जाय, यही विचार मुझे हर समय घेरे रहता था।

आखिर मैंने निश्चय ही कर लिया कि खादीग्राम को विकेन्द्रित कर अपने साथियों को जगह-जगह देहातों मे भेज दूँ, ताकि वे जन आधारित जीवन बिताकर अपने को जनता मे विलीन कर सकें और नयी तालीम को केन्द्र मानकर आन्दोलन को आगे बढा सके। मैंने इसके लिए एक व्यवस्थित क्रम भी बना लिया और पूरी योजना निर्धारित करके एक दिन सभी साथियों को बुलाकर इसकी घोषणा कर दी।

विकेन्द्रित करने का निश्चय

तारीख ७ जनवरी १९५६ को सुबह प्रार्थना के बाद साथियों को सम्बोधित करके मैंने कहा : "सन् '५७ की मंजिल क्या है, उसके लिए '५७ की २६ जनवरी तक हमारी पूरी तैयारी हो जानी चाहिए और १५ अगस्त १९५७ तक ग्रामराज के लिए व्यापक आन्दोलन शुरू हो जाना चाहिए। उस दिन स्वराज मिले १० वर्ष हो जायँगे। दस वर्ष बहुत काफी हैं। अतः वह दिन हमारे कूच करने का होगा। उस दिन खादीग्राम का क्या होगा, कह नहीं सकता। मिल-बहिष्कार, अम्बर चरखा, नयी तालीम आदि सब काम ग्रामराज के साथ ही चलते रहेंगे।

इस दृष्टि से हमे उत्पादक-वर्ग के अन्दर बाहोश नेतृत्व पैदा करना है और उसी दृष्टि से हमे अपना जीवन ढालना होगा। उत्पादक वर्ग मे चेतना आये और अनुत्पादक-वर्ग की वर्ग-निराकरण की तैयारी हो।

जब तक यह विलीनीकरण की प्रक्रिया दोनो तरफ से नही होगी, तब तक यह वर्ग-संघर्ष नहीं टल सकेगा।

अभी १९५५ तक अपनी भूमिका निर्माण कर रहे थे। पहले अपनी भूमिका बनायी, फिर जनता मे गये। अब जनसाधारण ने जान लिया है कि ये लोग कुछ दूसरे प्रकार के सेवक है। दूसरी बात यह हुई है कि हम लोगो ने अपने जीवन की भी कुछ तैयारी कर ली है। साम्ययोग आदि की भूमिका बनी है। हम यहाँ तक पहुँच गये है कि अब हममे यह विश्वास पैदा हो रहा है कि हमे क्रान्ति का सिपाही बनना है, अब उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना कार्यक्रम बनाना है।"

कार्यक्रम की रूपरेखा क्या होगी, उसके प्रारम्भिक स्वरूप के बारे मे भी मैंने कुछ बताया। इस पर भाई राममूर्ति की डायरी में जो नोट है, वह इस प्रकार है :

"१. इस थाने मे और जिलेभर मे जिला समिति के द्वारा ग्रामराज-सम्मेलन हो।"

२. गाँव-गाँव मे ग्रामोदय समितियाँ बने।

जिन गाँवो मे अधिक विषमता हो, उन्हें अभी छोड दें। ऐसा गाँव ले, जहाँ सभी खेती आदि करते हो। विषमता के गाँवों मे अभी केवल प्रचार हो। हमारा अधिक काम सम्भवतः आदिवासी क्षेत्र मे होगा।

ग्रामोदय समिति का विचार फैलाये। कम-से-कम गाँव मे तीन आदमी निकले, जो ग्रामोदय के लिए उद्यत हो।

गाँव उत्पादन के प्रति मन मे एक सेर अनाज दे। इतना होने पर ग्रामोदय समिति को मान्यता मिलेगी।

ग्रामोदय समिति के सदस्यो को खादीग्राम मे एक महीने की ट्रेनिङ्ग दी जाय। खर्च गाँव से मिले। कोशिश हो कि सदस्यों में दो पढे-लिखे हो, ताकि शिक्षक का काम कर सके।

कार्यक्रम—शोषण-निराकरण का काम (भूमि, वस्त्र, शिक्षा और न्याय)।

नीति—चुनाव मे नहीं लड़ेंगे, लेकिन सर्वसम्मति से चुने जायँ, तो काम करेंगे।

चुनाव मे पार्टी को नहीं, सज्जन को वोट दें। गाँवभर मिलकर तय कर ले कि वोट किसे देना है। पार्टी को गाँव मे अखाड़ा न बनाने दें। चुनाव की बाते हम तभी कहेंगे, जब हमसे पूछा जायगा। अपनी तरफ से प्रचार नहीं करेंगे। जो कार्यकर्ता गाँव में जायगा, वह अपनी जीविका के लिए अनुत्पादक-वर्ग से खलिहान नहीं लेगा, श्रमशाला, धर्मगोला आदि के लिए भले ही ले ले। हमे टिकना भी उत्पादक-वर्ग के ही घर मे चाहिए। कार्यकर्ता उसी गाँव मे निवास करेगा, जहाँ की ग्रामोदय समिति आग्रह करके उसे बुलायेगी, स्थायी केन्द्र का विचार अभी नहीं है।

एक क्षेत्र लेकर कार्यकर्ता उसमे फैले रहे। कभी-कभी मिलते रहे। इस तरह सस्था का स्वरूप तो हो, पर सीमा न हो। गाँव की जनता ही सस्था का सदस्य बने। हम अपना ध्यान अभी दक्षिण मुँगेर पर दें। एक साथ बँधा क्षेत्र होना चाहिए। क्षेत्र व्यक्ति का न होकर विचार और आदोलन का हो।

साप्ताहिक श्रम का कार्यक्रम, ग्राम प्रचार—रघुनाथ भाई, रवीन्द्र भाई, कोई और। हम बारी-बारी से अनुकूल क्षेत्र मे रहे—कहीं बैठे या पदयात्रा करे साल मे तीन महीने। अभ्यास मे अकेले जाना है, सपरिवार नहीं। बहने तैयार हो जा सकती है। एक महीना बाहर रहने पर कार्यकर्ता कुछ पायेगा नहीं, वह गाँव पर निर्भर रहेगा। उसकी अनुपस्थिति मे बच्चे का पूरा खर्च 'पूल' होगा। पत्नी के पास ३०) छोड़कर बाकी सब 'पूल' मे रख दिया जायगा। अगर स्त्री चाहेगी, तो आज की तरह ही रह सकेगी।

तात्कालिक कार्यक्रम

सन् १९५७ के पहले भी जो स्थायी रूप से जाना चाहेगा, जा सकेगा। उसका परिवार यहाँ रह जायगा। कोई अनुकूल क्षेत्र मिल जायगा और कार्यकर्ता की जरूरत मालूम देगी, तो उसे यहाँ से छोड़ा जा सकेगा, भले

ही यहाँ के काम का कुछ नुकसान हो। स्त्री चाहे, तो वह भी जा सकेगी। बच्चे यहाँ 'पूल' में रह जायँगे।"

उन दिनो खादीग्राम के मित्रो को भी ऐसी अनुभूति हो रही थी, मानो उनकी प्रगति रुक रही है। वैसे तो प्रगति रुकी नहीं थी, श्रमशाला तथा उसके जरिये आसपास के देहातो मे व्यापक कार्यक्रम दिन-प्रति-दिन आगे ही बढ रहा था और उसके जरिये ग्राम-निर्माण कार्य के सिलसिले मे देहातों मे सामुदायिक जीवन भी धीरे-धीरे बन रहा था; फिर भी उन्हे लगता था कि आरोहण के पथ पर जैसे आगे की कड़ी दिखाई ही नहीं दे रही है। अतएव मैंने जब ऊपर की घोषणा की, तो खादीग्राम में अत्यन्त उत्साहवर्द्धक वातावरण बन गया। उसे देखकर मुझे बहुत खुशी हुई और मैं मानने लगा कि शायद ईश्वर खादीग्राम के साथियों से कुछ काम कराना चाहता है।

वैसे तो सन् १९५६ की शुरुआत ही खादीग्राम के लिए अत्यन्त उत्साहवर्द्धक थी। सन् १९५४ में चारों तरफ के विरोध एक तरह से समाप्त हो गये थे। १९५५ मे श्रम-भारती परिवार के आन्तरिक जीवन की साधना मे भी कुछ सफलता दिखाई दी। कृषि, गोपालन आदि सभी विभागों मे उत्साहवर्द्धक प्रगति दिखाई दी। बेदखली आदि स्थानिक अन्याय के प्रतिकार के कार्यक्रम से जनता तथा नेताओं में लोकप्रियता बढी। फलस्वरूप दिसम्बर १९५५ मे खादीग्राम के वार्षिकोत्सव को विशिष्ट सफलता मिली।

१९५५ का सितम्बर मास मैंने कलकत्ता शहर के लिए दिया था। उस समय कलकत्ता के कॉलेजो मे तथा विभिन्न मुहल्लो मे मैंने सर्वोदय के विचार का विवेचन किया था। तब विभिन्न दलों के नौजवान मेरे सम्पर्क मे आये थे। इससे बगाल में विचार का काफी प्रचार हुआ। निरन्तर अखबारों मे रिपोर्ट छपने के कारण विहार के विभिन्न पक्षों मे भी उसका असर हुआ। उन्हीं दिनों ढेबर भाई कलकत्ता गये हुए थे।

ढेबर भाई से अनुरोध

'मै मोटर से गिर पडा', यह सुनकर वे मुझे देखने आये। मैंने सहज ही उनसे पूछा कि क्या वे दिसम्बर मे हमारे वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता करने के लिए आ सकते है? मैंने उनसे इसलिए भी आग्रह किया कि मै चाहता था कि खादीग्राम के उत्सवो मे विभिन्न पक्षों के लोग सम्मिलित हों। सन् १९५४ का उत्सव दादा (आचार्य कृपालानी) की अध्यक्षता मे हुआ था, तो मै सोचता था कि इस बार ढेबर भाई अध्यक्ष हो, तो अच्छा रहेगा। ढेबर भाई तुरन्त मान गये और मैने खादीग्राम लौटकर यह बात साथियो को बतायी।

अक्तूबर, नवम्बर का मेरा समय बाहर ही बीत गया। नवम्बर के अन्त मे लौटकर मैंने सोचा कि इस बार का सम्मेलन आन्दोलन के अगले चरण के सन्दर्भ मे ही आयोजित किया जाय। १९५४ मे भूदान का विचार पुष्ट हुआ, १९५५ मे उडीसा मे जाकर ग्रामदान का दर्शन हुआ। मुझे स्पष्ट दिखाई देता था कि ग्रामदान के कार्यक्रम के साथ साथ अगर हम अगले कदम का दर्शन नही करायेगे, तो दुनिया हमारे काम का सही चित्र नही देख सकेगी—यह सोचकर मैंने वार्षिकोत्सव के अवसर पर ग्राम-स्वराज्य के विचार-प्रचार का श्रीगणेश करने की बात सोची। पिछले साल खादीग्राम के आसपास पानी के सकट के कारण उस समस्या के समाधान मे जन-शक्ति के उद्बोधन के लिए वार्षिकोत्सव को पानी-सम्मेलन का रूप दिया था। उसी प्रकार इस वर्ष अपने वार्षिकोत्सव को ग्रामराज-सम्मेलन का रूप देने का निर्णय किया। मै चाहता था कि १९५६ मे हम ग्रामराज या ग्राम स्वराज्य के विचार-प्रचार पर ही अपनी शक्ति को केन्द्रित करे।

सभी दलों को निमन्त्रण

बिहार का सारा कांग्रेस समाज मेरा और खादीग्राम का कैसा विरोधी रहा, उसकी कहानी तुम लोगो को मालूम ही है। खादीग्राम के ग्रामराज-सम्मेलन के अवसर पर ढेबर भाई का अध्यक्ष होना मानो खादीग्राम के लिए आशीर्वाद ही था। मैंने इसे कांग्रेस के मित्रो के विरोध को घटाने का

एक अवसर ही माना। इसलिए मैने बिहार के सभी मन्त्रियो तथा काग्रेस अधिकारियो को स्वय जाकर आमन्त्रित किया। दूसरे सभी पक्षो के नेताओ तथा कार्यकर्ताओ को भी मैने आमन्त्रित किया। सौभाग्य से सभी लोगो ने मेरा निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया।

काल अपना काम करता है। हर चीज का अपना अवसर तथा समय होता है। खादीग्राम की आन्तरिक साधना तथा आसपास की जनता की सेवा इतनी अधिक नही थी, जिसके द्वारा बिहार के सभी पक्षों के नेताओ का स्नेह प्राप्त करने की योग्यता हासिल हो सकती। फिर भी यदि सब लोगो ने प्रेमपूर्वक हमारा आमन्त्रण स्वीकार किया, तो इसे काल की महिमा या जमाने का चमत्कार ही कहा जायगा।

हृदयस्पर्शी दृश्य

सम्मेलन मे ढेबर भाई के साथ मुख्य मन्त्री श्रीबाबू, अनुग्रह बाबू और सात अन्य मन्त्री, बिहार-काग्रेस के अध्यक्ष, काग्रेस के अनेक मुख्य कार्यकर्ता, पी० एस० पी० के नेता, बहन सुचेता तथा प्रान्त के दूसरे नेता, कम्युनिस्ट पार्टी के नेता भाई कार्यानन्द शर्मा तथा उनके अनेक मुख्य कार्यकर्ता जिस समय एक साथ एक ही प्लेटफार्म पर बैठे हुए थे, तो वह एक अद्‌भुत ही दृश्य बन गया था। सामने तीस-चालीस हजार जनता उस दृश्य को निहार रही थी और उनमें से काफी लोग आँसू भी बहा रहे थे। स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे कन्धे से कन्धा मिलाकर लडनेवाले मित्र, जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पृथक्-पृथक् हो गये थे, वे जब एक साथ एक प्लेटफार्म से जनता की भलाई के एक कार्यक्रम के समर्थन पर बोलते थे, तो सामने बैठे विशाल जन-समुदाय का हृदय गद्गद हो उठता था।

आन्दोलन की लोकप्रियता से खादीग्राम के मित्र काफी उत्साहित थे। ढेबर भाई, श्रीबाबू तथा दूसरे सभी मित्र खादीग्राम के साम्ययोग-प्रयोग, वहाँ की खेती और गोपालन आदि कार्यों की सफलता को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। ढेबर भाई ने कहा : "जब धीरेन्द्र भाई ने मुझे खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया,

तो मै समझता था कि वहाँ एक छोटा-सा आश्रम होगा, एक बुनियादी शाला होगी और आसपास के देहातो मे चरखा आदि के द्वारा कुछ ग्राम-सेवा होती होगी, लेकिन यहाँ आकर यहाँ के सामाजिक प्रयोग तथा इस पत्थर पर की गयी भौतिक सफलता को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।"

सम्मेलन के बाद जब मै श्रीबाबू से बात कर रहा था, तो उन्होने मुझसे कहा : "धीरेन्द्र भाई, मै यहाँ के बारे मे इधर-उधर से कई बाते सुनता था, लेकिन आपने यहाँ इतना काम कर लिया है, इसकी कल्पना ही नही कर सकता था। आपने तो गजब का काम किया है।" मैने मुस्कुराते हुए उन्हे जवाब दिया कि "यह सब आप जैसे बुजुर्गों के आशीर्वाद से ही हुआ है।" इस प्रकार बाहर से जितने मित्र आये हुए थे, सभी ने यहाँ के काम की प्रशसा की।

इस प्रकार खादीग्राम की १९५६ की जिन्दगी व्यापक शुभकामना तथा स्नेहाशीष से ही प्रारम्भ हुई थी। फिर उसी वर्ष जनवरी तथा फरवरी के महीने मे मैंने जिलेभर मे ग्रामराज सम्मेलन का आयोजन कराकर बडी-बडी सभाओ मे उस विचार का प्रचार शुरू किया। इससे जिले मे भी आन्दोलन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा हुआ।

लेकिन फिर भी कार्यकर्ताओं मे कुछ जडता आने लगी। वे नित्य के कार्यक्रम के घेरे मे कुछ मायूसी सी महसूस करते थे। मेरी समझ मे नहीं आता था कि ऐसा क्यो है? क्या इस देश का यह विशिष्ट चरित्र है? सुनियोजित, सर्जनात्मक क्रान्ति के आरोहण के लिए तो वर्षों की साधना की आवश्यकता है। दुनिया मे क्रान्ति के इतिहास में क्रान्तिकारी के जिन चरित्रो का दिग्दर्शन हुआ है, इस देश मे उसका अभाव क्यों महसूस होता है? क्रान्तिकारी का धैर्य तो मेंढक के धैर्य जैसा होता है। जाड़े में जब परिस्थिति अनुकुल नहीं होती, तो वह धैर्य के साथ महीनो गड्ढो में बैठा रहता है, गर्मी मे जब अनुकूल वातावरण मिलता है, तो लम्बी छालॉग

नौजवानों मे निराशा

भरकर आगे बढता है। पर हमारे आन्दोलन मे जब लगातार एकाग्रता के साथ रचनात्मक काम करने का अवसर आता है, तब इस देश के नौजवान धैर्य खो देते हैं। देश के तरुणो मे जीवन-शक्ति और जीवन-तत्त्व का ऐसा अभाव देखकर मै परेशान होता था। जोशीले कार्यक्रमवाले आक्सीजन का इन्जेक्शन देकर यदि क्रान्तिकारी की जान बचाये रखने की आवश्यकता पडती है, तो ऐसे वाहन पर सवार होकर क्रान्ति देवी कहाँ तक पहुँचेगी? मैं भारत के युवको का यह हाल देखकर परेशान तो होता था, पर धैर्य नहीं खोता था। सोचता था कि देश मे जो कुछ सामग्री है, उसीको लेकर तो हमे आगे बढना होगा। मेरे लिए खादीग्राम मे आरोहण के लिए पर्याप्त सामग्री थी, फिर भी साथियों की भावनाओ के लिए कुछ खुराक खोजता था, वह सहज ही उपलब्ध भी हो गयी।

आह्वान का स्वागत

जिस दिन मैने साथियो का आह्वान करके अपनी घोषणा सुनायी थी, उस समय की उनकी प्रसन्नता को देखकर मुझे हर्ष अवश्य हुआ था, लेकिन जैसा कि मैने कहा है कि ऐसा ही कार्यक्रम प्रसन्नता के लिए आवश्यक होता है, यह देखकर मुझे कुछ चिन्ता भी अवश्य हुई। लेकिन हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही ऐसा है, इसलिए अनुभव से इसमे भी सुधार होगा, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो गया और खादीग्राम के आन्तरिक प्रयोगो मे एकाग्रता के साथ लग गया।

उन्ही दिनो राष्ट्रीय शिक्षा के सन्दर्भ मे मेरा जो विचार है, उसकी कुछ ऐतिहासिक कडी भी दिखाई देने लगी। मै सोचता रहता था कि

क्रमविकास

"क्या ग्राम शाला का विचार अकस्मात् सूझा हुआ राष्ट्रीय शिक्षा का विचार है या मानव-प्रगति की आवश्यकता की एक कडी मात्र है?"

मनुष्य की राजनैतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक प्रगति के साथ-साथ शिक्षा-पद्धति के प्रकार में भी परिवर्तन होता रहा है। केवल गुणात्मक

प्रगति की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही नहीं, अपितु आकारात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी शिक्षा-सस्थाओ के स्वरूप मे परिवर्तन होता रहा। मै सोचता रहता था कि अति प्राचीनकाल मे भारत मे, पश्चिमी एशिया मे तथा यूरोप और अन्य देशो मे शिक्षा-सस्था का एक ही प्रकार यानी गुरुकुल का प्रकार चलता था। चाहे वह मानेस्टरी हो, मकतब हो और गुरुकुल या ऋषिकुल हो—पद्धति सबकी समान होती थी। कोई गुरु होता था, गृहस्थो के बच्चे वहाँ जाकर उसके साथ रहते थे और गुरु-परिवार बनता था। एक परिवार के बच्चे होने के नाते वे सब आपस मे एक-दूसरे को गुरु-भाई मानते थे। इस तरह दुनिया मे अनेक गुरुकुल थे, जहाँ शिष्य दीर्घकाल तक रहकर स्नातक बनते थे और फिर गार्हस्थ्य-जीवन मे प्रवेश करने के लिए जाते थे। प्रारम्भ मे समाज के बहुत थोडे लोगों को विद्याभ्यास की आवश्यकता थी, इसलिए गुरुकुलो के आकार छोटे होते थे। धीरे धीरे शिक्षा की चाह बढने लगी और ऐसे गुरुकुलो का कलेवर भी बढने लगा। एक नालन्दा मे ही दस हजार विद्यार्थी छात्रावास मे रहकर ज्ञानार्जन करते थे।

लेकिन धीरे-धीरे दुनिया से राजतन्त्र का लोप होता गया, लोकतन्त्र का युग आता गया, तो शिक्षा की माँग अत्यधिक व्यापक होती गयी।

सार्वजनिक पाठशाला-पद्धति

फिर दस हजार शिष्योवाले गुरुकुल भी निहायत नाकाफी साबित होने लगे। ऐसी हालत मे शिक्षा-सस्थाओं के स्वरूप मे भी परिवर्तन होना आवश्यक था। फिर यह सम्भव नहीं था कि तमाम बच्चे घर से अलग होकर गुरुकुलो मे जाकर रहे। यह भी प्रश्न था कि इतने बच्चो के लिए आखिर कितने गुरुकुल खोले जायें। अत: शिक्षा की व्यापक माँग ने सार्वजनिक पाठशाला-पद्धति का आविष्कार किया।

फिर जमाना बदला। समाजवाद का विचार फैला। प्रत्येक मनुष्य के लिए समान अवसर की माँग हुई और वह माँग दिन-दिन बढती गयी। समान अवसर की माँग तो हुई, लेकिन लोगो ने उसका अर्थ

नही समझा। विचार भावना-उद्दीपक था, इसलिए मनुष्य का इस ओर आकर्षण होना स्वाभाविक था। लेकिन उसके लिए मनुष्य को जो कीमत देने की जरूरत है, उसके लिए वह तैयार नही। समाजशास्त्रियो ने समझा कि बालिग मताधिकार से समान अवसर प्राप्त हो जायगा। पर उन्होने यह नही सोचा कि जब तक प्रत्येक मनुष्य को बौद्धिक, सास्कृतिक, आर्थिक और नैतिक विकास के लिए समान अवसर नही मिलेगा, तब तक अवसर प्रदान की बात मौखिक मात्र होगी, वास्तविक नही। इसलिए यदि ससार मे प्रत्येक को समान अवसर देना है, तो शिक्षा पद्धति के प्रकार तथा शिक्षा-सस्थाओ के स्वरूप मे ऐसा परिवर्तन करना होगा, जिससे प्रत्येक मनुष्य को उच्चतम विकास के लिए समान अवसर मिल सके। आखिर मानव का विकास शिक्षण-प्रक्रिया का ही विकास है न?

आज सारे ससार मे अनिवार्य शिक्षण की बात चलती है। अधिकतर लोग ऐसा मानते हैं कि एक हद तक सबको शिक्षा दी जाय और उच्च शिक्षा की व्यवस्था कुछ लोगो के लिए ही की जाय।

अनिवार्य शिक्षण की ओर

दूसरे उन्नत देशो मे क्या होता है, मुझे मालूम नहीं। विदेशो मे कहीं गया नही। पुस्तके पढने का व्यसन नहीं, विभिन्न मित्रो से विभिन्न रिपोर्टें सुनने को मिलती है, पर वे कभी-कभी परस्पर-विरोधी भी होती है। इसलिए स्वभावतः मेरा चिन्तन भारत की भूमि पर ही होता है। इस देश मे सबको केवल प्राइमरी शिक्षा मिलने की व्यवस्था हो जाय, तो उसीको यहॉ के समाजशास्त्री समान अवसर मान लेगे। लेकिन यदि गहराई से देखा जाय, तो क्या आज की पाठशाला-पद्धति से इतना थोडा भी होना शक्य है? पहली बात यह है कि प्राइमरी पाठशालाओ मे पहुँचेगा कौन? जिसका बच्चा घर के काम-काज से तथा घर की अर्थ-योजना से मुक्त होगा, वही न? जिस देश मे स्त्री-पुरुष और बच्चो के मिलकर मेहनत करने पर भी भरपेट खाना नही मिलता है, उस देश के बच्चो को दिनभर बैठाकर पढाया कैसे जा सकता है? अतः आज के स्कूलो मे

पढने के लिए उन्हींको अवसर मिलेगा, जिनकी आर्थिक स्थिति ऐसी है जो बच्चो को घर से खाली कर सकती है।

मै बता चुका हूँ कि समान अवसर का अर्थ है, उच्चतम प्रगति लिए समान अवसर। थोडी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत की आर्थिक स्थिति ऐसी हो गयी है कि प्रत्येक बच्चे को घर से खाली किया जा सकता है, फिर भी यह प्रश्न आयेगा कि किस उम्र तक उसे खाली किया जा सकता है? उच्चतम श्रेणी तक पहुँचने की योग्यता रखनेवाले सभी बच्चो के लिए क्या अलग से शिक्षण-संस्थाएँ खोलना सम्भव होगा? इन तमाम प्रश्नो पर मै गहराई से विचार करता रहा, तो मैने देखा कि समाजवाद के इस युग मे, समान अवसर की भावना के इस युग में, 'सर्वजन हिताय' और 'सर्वजन सुखाय' की आकाक्षा के इस युग मे वर्तमान सस्थागत शिक्षण पद्धति भी पुरानी हो गयी है। आज की सार्वजनिक शिक्षण-पद्धति भी इस युग की आकाक्षा तथा आवश्यकता को पूरा करने मे असमर्थ हो रही है।

युग की आकांक्षा

वस्तुत: आज मै अकेला ही इस दिशा मे सोचता हूँ, ऐसी बात नही है। इधर कुछ वर्षों से ग्राम-विश्वविद्यालय की चर्चा काफी जोरो से हो रही है। आज देश की वर्तमान शिक्षा-पद्धति जिस तरह से देश के जवानो को निस्तेज तथा पुरुषार्थहीन बना रही है, उससे सभी वर्गो के नेता लोग चिन्तित हैं। अंग्रेज लोग ब्रिटिश नौकरशाही को मजबूत बनाये रखने के लिए इस देश मे एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहते थे, जिसकी शकल-सूरत देशी हो, लेकिन दिल और दिमाग अंग्रेजी हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होने एक विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति चलायी। स्पष्ट है कि अत्यन्त सफलता के साथ वे अपने लक्ष्य तक पहुँच गये। उनकी सफलता इतनी पूर्ण थी कि उनके चले जाने के दस ग्यारह साल बाद आज भी देश का शिक्षित वर्ग उसी प्रकार से जन-जीवन से

वर्तमान शिक्षा-पद्धति

अलिप्त, नौकरशाहीवाली मनोवृत्ति का ही बना हुआ है। इसीसे देश के राष्ट्रीय नेता शिक्षित वर्ग द्वारा सगठित सरकारी तन्त्र की मार्फत राष्ट्र-विकास की चेष्टा मे असफल हो रहे हैं, क्योकि देश की जनता से समरस हुए बिना इस देहाती राष्ट्र की लोक-चेतना को जगाना ऐसे वर्ग के लिए सम्भव नही।

अतएव राष्ट्रीय नेता इस विषमय शिक्षा-पद्धति के बदले मे ऐसी शिक्षा-पद्धति की खोज मे हैं, जिसके फलस्वरूप देश के जवान सतेज और प्राणवान् बन सके। ऐसी शिक्षा-पद्धति की खोज के लिए वे समय-समय पर शिक्षा-कमीशनो की नियुक्ति करते रहते है। इन कमीशनो के सदस्य देश के अनेक विद्वान् तथा शिक्षा-विशारद देश की परिस्थिति का अध्ययन कर एक ही नतीजे पर पहुँचते है। प्रायः सभी यह बात कहते हैं कि देश की राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप चाहे जो हो, ग्रामीण जीवन से उसका ओतप्रोत रहना अनिवार्य है। कारण भारत मुख्यतः ग्रामीण राष्ट्र है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा हो किस प्रकार ? गहराई से विचार करने पर अनिवार्य रूप से हर विचारक बापू की नयी तालीम की ओर आकर्षित होता है।

शिक्षा के विकल्प की खोज

तर्क से विचार पुष्ट होता है, लेकिन आचार निखरता नहीं। आचार का स्रोत सस्कार है। जब बुद्धि और सस्कार का परस्पर विरोध होता है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है। बुद्धि उसे तर्कशुद्ध परिणाम की ओर आकर्षित करती है और सस्कार उसे पुरातन रूढि मे फँसाये रखता है। फलस्वरूप जहाँ वह बुद्धि से कुछ आगे बढता है, वहाँ सस्कार उसे पीछे घसीटता रहता है। परिणाम यह होता है कि वह एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता है।

दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा के विकल्प की खोज ऐसे ही विद्वान् करते है, जो इसी विषमय शिक्षा की उपज है। ग्रामीण जीवन से वे केवल अलिप्त ही नहीं, सुदूर भी है। यही कारण है कि वे बुद्धि से बापू की

नयी तालीम की प्रशसा करते है, उसके विचार को मानते है, उसके शास्त्रीय पहलुओ को स्वीकार करते है, लेकिन जब उसे अपनाने लगते है, तो प्रकार मे आमूल परिवर्तन कर डालते है। बाइबिल मे लिखा है कि भगवान् ने मनुष्य को अपनी ही शकल मे बनाया, क्योकि उसकी आकाक्षा अपनी सृष्टि को अपने ही अनुरूप बनाने की रहती है। अब ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही रूप मे बनाया है, तो नि'सन्देह मनुष्य की आकाक्षा ईश्वर की आकाक्षा से भिन्न नही होगी। अतएव यह स्वाभाविक है कि मनुष्य भी अपनी सन्तान को अपने ही अनुरूप बनाये। इसलिए वर्तमान शिक्षा-पद्धति की उपज विद्वान् स्वभावत जब नयी तालीम के माध्यम से अपनी सन्तान के जीवन को बनाना चाहते है, तो वे उसे अपने ही अनुरूप देखना चाहते है। इसलिए राष्ट्रीय आवश्यकता के सदर्भ मे विचार करने पर जब वे नयी तालीम को मान्य कर उसे अपनाते है, तो उसके प्रकार मे इतना फर्क कर देते है, जिससे इस तालीम की उपज सन्तान भी उनके अनुरूप बन सके।

यही कारण है कि राष्ट्रीय सरकार और नेता नयी तालीम को राष्ट्रीय शिक्षा का प्रकार तो मानते है, पर उस तालीम से उन्हे सन्तोष नही होता। रह-रहकर वे यह मानने लगते है कि नयी तालीम से पुरानी तालीम ही अच्छी है, क्योकि नयी तालीम के नाम से वे जिस तालीम को अपनाते है, उसकी उपज को वे पुरानी तालीम की उपज से घटिया देखते है। ऐसा होना स्वाभाविक है। वह घटिया होगा ही, क्योकि लोग नयी तालीम से निकले स्नातको को पुरानी तालीम के स्नातको के समान ही देखना चाहते है और आयोजनपूर्वक नयी तालीम के रूप को उसके अनुसार बनाने की कोशिश करते है। फलस्वरूप वे बापू की नयी तालीम का स्वधर्म छोड देते है और पुरानी तालीम के स्वधर्म की पृष्ठभूमि पर नयी तालीम को खडा करना चाहते हैं। उसका परिणाम ऐसा होगा ही।

शिक्षा की सशकित स्थिति

इस प्रकार देश के शिक्षाशास्त्रियो तथा नेताओ को आज पुरानी तालीम के नतीजो से बेचैनी है, लेकिन नयी तालीम से भी समाधान नहीं है। ऐसी सशंकित स्थिति मे आज की शिक्षा पडी हुई है। स्वभावतः जब लोग यह देखते हैं कि शिक्षित वर्ग को ग्राम्य-जीवन से ओत-प्रोत किये बिना राष्ट्र की प्रगति असम्भव है, तो उनके दिल मे ग्राम-विश्वविद्यालय की कल्पना का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही है।

ग्राम-विश्वविद्यालय की चाह बढ रही है, लेकिन वह हो कैसे ? अपनी सन्तान को अपने जैसा ही बनाने की सनातन आकाक्षा शिक्षित जनो के सस्कार मे बद्धमूल है। ग्राम-विश्वविद्यालय की रूपरेखा सोचने मे भी वे वही भूल करते हैं, जो भूल वे बापू की नयी तालीम के विचार के अनुसार बुनियादी शिक्षा को चलाने मे करते है। नतीजा यह होता है कि ग्राम-विश्वविद्यालय बनने के बाद वह ग्राम-विश्वविद्यालय न होकर गॉव मे एक विश्वविद्यालय का रूप ले लेता है और ग्रामीण भूमि में पुरानी मनोवृत्ति का ही निर्माण हो जाता है। इसे देखकर भी विकल्प के अन्वेषको को समाधान नहीं होता है। समाधान चाहे न हो, फिर भी आज देश का चिन्तन उसी दिशा मे है, जिस दिशा मे सणोसरा-सम्मेलन के बाद मैं जोरो से विचार कर रहा हूँ। इसलिए मै कह रहा था कि ग्रामशाला या ग्राम-भारती का विचार कोई मेरे अकेले का नहीं है। देश के सभी विचारशील व्यक्ति इस बारे मे सोचते है। लेकिन मेरे चिन्तन की दृष्टि और दिशा उनकी दृष्टि और दिशा से सम्पूर्ण भिन्न है, यह तो तुम देख ही सकती हो।

ग्राम-विश्वविद्यालय की ओर

इस प्रकार अपने साथियो को गॉव के सहारे गॉव के ही नागरिक बनकर उनमे विलीन होने की जो घोषणा की, उसके पीछे केवल आन्दोलन के अगले चरण का ही विचार नहीं था, नयी तालीम का भविष्य-चिन्तन भी था। वस्तुतः मेरे दिमाग मे आन्दोलन की प्रगति और नयी तालीम का विस्तार कभी दो चीज नहीं रहे हैं। इसलिए अगर मै कहूँ कि साथियो को

गॉव-गॉव मे विलीन करने की घोषणा कुछ मेरे दिमाग की उपज नहीं थी, बल्कि आन्दोलन की सहज कडी मात्र थी, तो गल्त नहीं होगा। वैसे यह कदम दस साल पहले ही उठाना चाहिए था, जब बापू ने चरखा-सघ के सामने नया विचार रखा और कहा था कि सघ को सात लाख गॉवो मे विभक्त हो जाना है और कार्यकर्ताओ को स्वावलम्बी बनकर जन-जन मे विलीन हो जाना है।

क्रान्ति-यात्रा का निर्णय

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-१२-'५८

एक ओर से इन बातो पर विचार चल रहा था कि हम सब गॉव मे फैल जायॅ, ग्राम स्वराज्य के विचार जनता मे फैलाये, इसके लिए रचनात्मक पुरुषार्थ की प्रेरणा जगाये और जहॉ तक सभव हो, गठनमूलक कार्यक्रमो का सगठन किया जाय और दूसरी ओर से ऐसा प्रयत्न चल रहा था कि श्रमशाला के माध्यम से आसपास के देहातो मे प्रवेश कर उनमे ग्रामदान तथा ग्राम-स्वराज्य का विचार जगाया जाय। उनमे सामुदायिक पुरुषार्थ जगाने के लिए बॉध बॉधने के कार्यक्रम चलाने का विवरण पहले लिख चुका हूँ। किस तरह बच्चो की मार्फत किसानो की खेती-बारी मे सुधार करने की योजना बनाने की कोशिश कर रहा था, वह भी लिख चुका हूँ। अब शनैः-शनैः आसपास ग्रामशाला का कार्यक्रम कैसे शुरू किया जाय, इसकी चर्चा चली। कौन शुरू करे, कहॉ से शुरू हो, बालवाडी के बाद शिशु-विहार या बुनियादी शाला हो इत्यादि प्रश्नो पर प्रायः चर्चा होती रहती थी। इसी बीच १९५६ के अन्त मे सभी प्रान्तो के प्रमुख कार्यकर्ताओ का खादीग्राम मे एक शिविर आयोजित किया गया था। उसमे कार्यकर्ताओ के अलावा सर्वोदय-विचार का आकर्षण रखनेवाले कुछ नये तरुणो को भी आमन्त्रित किया गया था। चर्चा का विषय यह था कि १९५७ मे क्रान्ति की तीव्रता कैसे पैदा की जाय। चर्चा का सार यह रहा कि सन् १९५७ मे सर्वोदय विचार के अनुसार रचनात्मक कार्यकर्ता अपने सामान्य काम को कुछ स्थगित करके देशभर मे पद-यात्रा करे। विनोबाजी ने तो आज की परिस्थिति में क्रान्ति-यात्रा को ही नयी तालीम के लिए तात्कालिक प्रक्रिया माना है।

इस शिविर मे जयप्रकाश बाबू ने तरुणो का आह्वान करते हुए कहा था कि कम-से-कम सालभर के लिए वे अपनी पढाई स्थगित करके क्रान्ति के लिए आगे बढे।

हमारे तरुण साथी भाई नारायण देसाई और विमला बहन आदि तो दो तीन दिन लगातार खादीग्राम के कार्यकर्ताओ तथा विद्यार्थियों को इस बात के लिए उकसाते रहे कि वे अवश्य ही क्रान्ति-यात्रा मे शामिल हो। उन्हे भय था कि सस्था के अन्तर्गत होने के कारण वे शायद इस दिशा मे सोच न सके।

क्रान्तिकारी कौन ?

शिविर समिति के बाद नारायण भाई, नवबाबू, दादा धर्माधिकारी, विमला बहन और दो-एक नौजवान एक दिन के लिए खादीग्राम में रुक गये थे। उस दिन भी उन्होने यहाँ के साथियो को उकसाने की कोशिश की। शाम को भाई नारायण मुझसे पूछने आये कि आप लोग सस्था मे बैठे रहेगे ? क्रान्ति मे शामिल नही होगे ? मैने उन्हे समझाने की कोशिश की कि उनकी यह धारणा गलत है कि सस्था मे बैठकर काम करने से क्राति नही होती है। मैने उनसे पूछा कि क्या झण्डा फहरानेवाला ही क्राति करता है, झण्डा सीनेवाला नही ? मुझे याद था कि स्वतन्त्रता-सग्राम के दिनो मे झण्डा सीनेवालो की भी गिरफ्तारी होती थी। मालूम नहीं कि नारायणभाई को इसकी जानकारी थी या नही। फिर मैने विनोद मे कहा कि "पुराने जमाने मे लोग मानते थे कि सिर काटने से ही क्राति होती है। इस गाधी-युग मे लोगो ने इतना तो समझ लिया है कि बिना सिर काटे भी क्राति हो सकती है। लेकिन गाधी-युग मे भी विनोबा की बदौलत अब तुम लोग दूसरी बात मानने लगे हो, वह यह कि सिर काटने से तो नही, लेकिन चक्कर काटने से ही क्राति होती है।" मैने जोर से कहा कि "यह सब तुम लोगो का वहम है। हम लोग खादीग्राम मे बैठकर बहुत बडी क्राति कर रहे है।" काफी देर तक यह चर्चा चलती रही।

मै नारायण भाई से तो इस प्रकार की बाते कर रहा था, लेकिन मेरे मन मे कुछ दूसरी ही चीज चल रही थी। जिस समय जयप्रकाश बाबू ने शिक्षण-सस्थाओ को आह्वान किया था कि वे अपना कार्यक्रम स्थगित करके क्राति-यात्रा मे शामिल हो, उसी समय मेरे मन मे यह विचार उठा कि अगर जयप्रकाश बाबू ने आह्वान किया, तो सर्व-सेवा-सघ की ओर से ही यह आह्वान है, ऐसा मानना चाहिए। ऐसी हालत मे सर्व-सेवा-सघ की शिक्षण-सस्था अपना नियमित कार्यक्रम चलाती रहे और बाहर के लोगो का आह्वान करती रहे, यह शोभनीय नही है। इसलिए सबसे पहला कदम श्रम-भारती को ही उठाना चाहिए, नहीं तो जयप्रकाशजी की वाणी मे तेज नही आयेगा। ऐसा विचार कर सोचने लगा था कि इसका स्वरूप कैसा हो ? शिक्षक और बडे बच्चे निकल सकते है और शायद कुछ कार्यकर्ता भी निकल सकेगे। लेकिन उतने मात्र से क्या ऐसा कोई असर हो सकेगा, जिससे आन्दोलन को वेग मिले। मुझे ऐसा नहीं लगता था कि ऐसा कुछ हो सकेगा। एकाएक एक विचार आया। मैंने सोचा कि २ अक्तूबर १९५७ से साथियों को बाहर निकलना है, ऐसी बात कह ही चुका हूँ, तो वह तारीख अगर पहली जनवरी ही हो जाय, तो क्या अन्तर पडनेवाला है ? बल्कि पहले के निश्चय के अनुसार केवल श्रम-भारती के ही लोग निकले, तो वे देश मे अकेले पड जायँगे। इस समय आन्दोलन की ओर से पूरे देश का आह्वान है, तो हमारे साथियो को भी विशेष प्रेरणा मिलेगी और बडे निर्णय का अग होने के नाते उन्हे बल भी मिलेगा। आन्दोलन के मान्य नेताओ के आह्वान पर यह कदम उठाने के कारण इसका असर दूसरो पर भी पडेगा।

विचार-मन्थन

इतना सोचकर मैंने करीब करीब निश्चय ही कर लिया था कि साथियो से कहूँ कि वे सब सपरिवार सालभर तक जिलेभर की पदयात्रा करे। लेकिन हमेशा की आदत के कारण मै जल्दबाजी मे नही था। उसके लिए हर पहलू पर विचार कर रहा था। सब निकल जायँगे, तो

खादीग्राम का क्या होगा ? कुछ पहरेदारो का प्रवन्ध करके वन्द रखा जाय, तो गाय वैलों का क्या होगा, जो लोग वाहर जायँगे, उनके परिवार शायद पूरे साल तक नहीं घूम सकेंगे, तो उनका क्या प्रवन्ध होगा इत्यादि वातो पर विचार करता रहा। अन्त मे यही निश्चय किया कि

सालभर पदयात्रा का विचार

घोपणा कर ही दी जाय, क्रान्ति के आरोहण मे कभी-कभी ऐसा भी समय आता है, जब इतनी वातों पर विचार करने का अवसर नही मिलता।

वस्तुत॰ नारायण भाई से दलील करने के पूर्व ही मैं करीव-करीव निर्णय कर चुका था। इसलिए उनकी वहस के आखिर मे मैंने कहा कि "यह सही है कि तुम लोग तरुण हो और क्रान्तिकारी हो, लेकिन इतना निश्चित रूप से जान लेना कि मै तुम लोगो से कम क्रान्तिकारी नहीं हूँ और शायद तुम लोग मेरे कदम से कदम भी नही मिला सकोगे।" यह सब वाते मै विनोद मे ही कर रहा था। दूसरे दिन सवेरे प्रार्थना के वाद ही मैने अपनी वात कह सुनायी।

प्रार्थना-प्रवचन के समय नारायण भाई आदि भी उपस्थित थे। शायद वे यहाँ भी कुछ प्रश्न पूछनेवाले थे, लेकिन मेरी घोपणा सुनने की शायद किसीकी तैयारी नही थी, इसलिए फिर कोई प्रश्न नही उठा। वे वैसे ही काफी उत्साहित हो गये थे। दादा और विमला वहन ने उस समय तो कुछ नहीं कहा, वाद मे वोले कि "आपने यह ठीक नहीं किया।"

प्रार्थना-प्रवचन मे घोपणा

विनोवा या जयप्रकाश वावू जिन सस्थाओ के लोगो को निकालने के लिए कहते हैं, उनकी भूमिका खादीग्राम की भूमिका से अलग है। यहाँ आप लोग जिस तरह के सस्कारो का निर्माण कर रहे है, वे इस आन्दोलन के लिए आवश्यक प्रेरणादायी तथा पथ-प्रदर्शक है। उन्होने और भी कहा कि इस तरह आपका यह वना-वनाया Base (आधार) विखर जायगा, फिर आप इसको पुनः सगठित नहीं कर सकेंगे। लेकिन मैने कहा कि आन्दोलन के लिए तो यह आवश्यक ही है। दादा को ही नहीं, और

भी कई लोगो को ऐसा लगता था कि यह कदम ठीक नहीं हुआ। लेकिन भाई सिद्धराज और सर्व-सेवा-सघ के अन्य काफी लोग काफी उत्साहित थे।

सुबह मैने अपने साथियो से कहा कि "उन्होने जयप्रकाश बाबू का आह्वान सुना है। आन्दोलन की गतिविधि को बराबर ध्यान मे रखा है। विनोबाजी के भाषण भी सुने है। देश मे सन् १९५७ एक विशेष स्थान रखता है, इसलिए जनता भी '५७ की विशेष आशा रखती है। श्रम-भारती-परिवार ने सर्वोदय-ससार मे कुछ विशिष्ट आशाओ का निर्माण किया है। गिरते-पडते भी उन्होने श्रम और साम्य का कुछ नमूना पेश किया है। अभी दो-एक दिन से नारायण भाई, विमला बहन आदि आप लोगो से इतनी चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि आपसे उनकी कुछ अपेक्षाएँ है। विनोबाजी ने सन् '५७ का साल प्रचार के लिए विशिष्ट साल माना है। आज कार्यकर्ताओ मे आशा और उत्साह है। ऐसे समय मे श्रम-भारती-परिवार के सब लोग सालभर तक क्रान्ति-यात्रा करे, तो मुझे बहुत खुशी होगी। सब भाई लोग जायँ, बहने भी उनके साथ जायँ और सम्भव हो, तो बच्चो को भी साथ रखे। बहनो और बच्चो मे से जो साथ नहीं जा सकेगे, वे सब मेरे पास रहेगे। वैसे तो मै पहले ही कह चुका था कि आप लोगो को २ अक्तूबर से गाँव मे जाकर बसना है, लेकिन उस समय की योजना मे और आज के निकलने मे अन्तर है। वह योजना खादीग्राम के कार्यक्रम को गाँव-गाँव मे विलीन करने की योजना थी, लेकिन यह यात्रा जिलेभर मे फैलकर क्रान्ति की प्रेरणा देने की यात्रा होगी।"

मैंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक देखा कि श्रमभारती-परिवार के सभी भाई-बहनो ने मेरे निर्णय को उत्साह के साथ स्वीकार किया। बडे बच्चे

साथियों को निर्णय स्वीकार

भी उत्साहित थे, लेकिन प्रश्न यह था कि पद-यात्रा का सगठन किस तरह किया जाय, उसकी पूर्व तैयारी कैसे हो? हमने यही तय किया था कि मुँगेर जिले के अन्तर्गत ही सघन-यात्रा की जाय। पूर्व तैयारी के लिए दो महीने का समय रखा, जिससे छब्बीस वर्ष का वार्षिकोत्सव २६

जनवरी के दिन यात्रा के प्रथम पडाव पर ही मनाया जाय। यह योजना सोचकर भाई पचदेव तिवारी के साथ दो-एक कार्यकर्ता तथा उत्तर-बुनियादी के छात्रों को पूर्व तैयारी के लिए भेज दिया गया। विचार रह था कि पूर्व तैयारी के सिलसिले मे किधर से यात्रा का प्रारम्भ किया जाय, जिसमे स्थानीय लोगो को अधिक-से-अधिक साथ ले सके, इसकी भी जॉच कर ले। पूर्व तैयारी की टोली को रवाना करके मैने मुॅगेर जिले के निवेदक भाई रामनारायणजी को बुलाया। रामनारायण बाबू तथा जमुना बाबू खादीग्राम के मित्र ही नहीं, बल्कि जिले मे हमारा एक बहुत बडा सहारा है। यह खबर सुनकर वे अत्यन्त उत्साह के साथ खादी-ग्राम पहुँचे और मुझसे आकर उन्होने पहली बात यही पूछी कि "आपने अचानक यह क्या निर्णय कर लिया ?" मैने उन्हे आन्दोलन की स्थिति समझायी और कहा कि आन्दोलन के भविष्य के लिए यह आवश्यक है।

रामनारायण बाबू के साथ हम लोगो ने काफी चर्चा की। उन्होने कहा कि यह कार्यक्रम बहुत क्रान्तिकारी तथा आन्दोलन को आगे ले जानेवाला तो अवश्य है, परन्तु खादीग्राम भी बन्द न होकर किसी-न-किसी रूप मे चलता रहना चाहिए, क्योकि इसका भी देश पर बडा असर है। वैसे तो खादीग्राम की शिक्षण-प्रवृत्ति के अतिरिक्त सारे काम किसी-न-किसी रूप मे चलाने के लिए तीन-चार साथियो को नहीं जाना है, यह मैंने पहले ही दिन कह दिया था, लेकिन इतने से ऐसा नहीं दिखाई देता कि खादीग्राम चल रहा है। फिर भी उतने पैमाने पर अगर चलता रहता है, तो पद-यात्रा के लिए यह एक छोटा आधार जरूर बनता है। मैने रामनारायण बाबू को यही बताया, इससे उन्हे सन्तोष हुआ।

इधर कई महीनो से सर्व-सेवा-सघ के मुख्य दफ्तर की हालत अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। अण्णासाहब को कोरापुट मे बैठाना पडा। भाई सिद्धराज बीमारी तथा प्रान्तो मे दौरो के कारण दफ्तर मे रह नहीं पाते थे, वल्लभस्वामी को भी दक्षिण मे विनोबाजी की मदद के लिए भेजना पडा था। केवल दफ्तर मन्त्री भाई कृष्णराज वहाॅ रह गये थे। दफ्तर

मुख्य दफ्तर खादीग्राम में

के कार्यकर्ताओ में विचार-निष्ठा कम थी। जीवन मे भी कोई अनुशासन नही था। कृष्णराज भाई को भी कभी-कभी गैरहाजिर रहना पडता था, क्योकि विनोबाजी ने उन्हे बिहार के काम में मदद करने की जिम्मेदारी सौपी थी। इस तरह कुल मिलाकर दफ्तर बडी ही शोचनीय दशा मे था। विचार-निष्ठा की कमी से कार्यकर्ताओं मे गाम्भीर्य का अभाव था। भाईचारे का विचार जब आदर्श से अलग होता है, तो उसका सहज परिणाम जो होना चाहिए, वह हुआ—यानी दफ्तर के वातावरण मे अनुशासन-हीनता का आधिक्य रहा। इस स्थिति को देखकर मैं चिन्तित रहता था। सर्व-सेवा-सघ की साधारण सभाओ तथा प्रबन्ध समिति की बैठको मे हर बार यह कहता था कि अगर आन्दोलन को ठीक से चलाना है, तो यह आवश्यक है कि प्रान्तो के मुख्य कार्यकर्ता प्रान्त का कार्य-भार दूसरो को सौंपकर अखिल भारतीय केन्द्र को मजबूत करे। लेकिन विनोबाजी और जयप्रकाश बाबू से लेकर सभी साथी इसे ठीक नही मानते थे। इसलिए मैं इस विचार मे अकेला ही पड जाता था। आज भी मेरी दृष्टि वही है कि प्रान्तो के मुख्य कार्यकर्ताओ को यह नही समझना चाहिए कि उनके दूसरे साथी कार्यभार को ठीक से नही चला सकेगे और यदि कुछ खतरा मालूम होता हो, तब भी उन पर ही काम छोडकर अखिल भारतीय टीम बनानी चाहिए। विशेषतः तन्त्र-मुक्ति के सम्बन्ध मे यह अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो केन्द्र की ओर से जोरदार प्रेरणा के अभाव मे नीचे के कार्यकर्ताओ मे निराशा फैलेगी। साथ-साथ दूसरे नये तरुण कार्यकर्ता आगे नही बढेगे। नतीजा यह होगा कि कार्यकर्ताओ का प्रवाह रुक जाने से आन्दोलन का प्रवाह भी कुठित हो जायगा। अभी पिछले सप्ताह सोखोदेवरा मे जयप्रकाशजी के साथ देश के सभी मुख्य कार्यकर्ताओ ने उपस्थित होकर चर्चा की थी। वहाँ भी मैने इसी बात पर जोर दिया था। यद्यपि सभी लोग यह मानते थे कि अगर लोग बीच-बीच मे मिलते रहे, तो काफी होगा, फिर भी मेरा विचार भिन्न था। मैं

इसी बात पर जोर देता था कि सब लोग एक साथ रहे। इधर-उधर के प्रयोग हम लोग, जो कुछ पुराने हो गये है, करते रहे और दूसरी आयु के लोग साथ मिलकर एक परिवार या टीम बनाये। टीम बनाने के लिए सह-चिन्तन और सह सम्वाद मात्र पर्याप्त नहीं है, उसके लिए दीर्घ सहवास की आवश्यकता है, इस बात पर भी मै जोर देता रहा।

इस प्रकार का विचार निरन्तर प्रकट करते रहने के बावजूद म शायद अन्त तक अकेला ही रहा। इसी कारण प्रधान केन्द्र की दुर्दशा को देखकर भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

श्रम-भारती-परिवार के बाहर निकलने से खादीग्राम के बहुत-से 'निवास' खाली हो गये थे। मैने सोचा कि अगर दफ्तर खादीग्राम मे लाऊँ और अपनी ही देखरेख मे चलाऊँ, तो सम्भवत. वातावरण कुछ सुधर जाय। खादीग्राम की प्रवृत्तियो के साथ जुडे रहने से दफ्तर के कार्यकर्ताओ की दृष्टि व्यापक होगी और विचार मे पुष्टि आयेगी, ऐसी सम्भावना थी। श्रम और साम्य के वातावरण से भी उनको लाभ होगा, यह भी ध्यान मे आया। यह समझकर मने.साथियो को बाहर भेजने से पहले ही दफ्तर को गया से खादीग्राम बुला लिया। खादीग्राम में दफ्तर लाने से उनके कार्यक्रम मे परिवर्तन हुआ। कार्यक्रम मे श्रम दाखिल हुआ और देहाती वातावरण के प्रभाव से उनके मानस का भी कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ। लेकिन यहाॅ का जीवन उनमे से बहुतो को पसन्द नहीं था, इसलिए चार-पॉच साथियो को छोडकर शेप सभी चले गये। फिर उतने ही कार्यकर्ताओ को लेकर तथा खादीग्राम के बचे हुए साथियो को लेकर मैने किसी तरह दफ्तर का काम जारी रखा।

इस प्रकार खादीग्राम के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

ललमटिया का ग्रामदान : १ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१९-१२-'५८

प्रिय आशा बहन,

श्रम-शाला के माध्यम से आसपास के देहातो से जो सम्पर्क बढा था, उसका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। गॉव मे छोटे-मोटे बॉध से ही सही, जब सामूहिक पुरुषार्थ का श्रीगणेश हुआ, तो उन्हे आत्म-प्रत्यय का कुछ भान होने लगा। बच्चो की मार्फत उनके परिवारो मे परस्पर सहयोग की भावना भी बढने लगी। लकडा गॉव मे एक लडके का खेत घर पर आत्मशक्ति के अभाव के कारण कई साल से आबाद नहीं हो सका था, लेकिन इस साल सब बच्चो ने मिलकर उसका खेत आबाद कर दिया। बच्चों के साथ शिक्षक भी शामिल थे। इन तमाम कारणो से लोगो मे अच्छी जाग्रति हुई। अब तक यद्यपि हमारा व्यवहार यहॉ के मजदूरो के साथ भाईचारे का था, फिर भी उन्हे यह प्रत्यय नहीं था कि हम लोग उनकी वास्तविक सेवा के लिए आये हुए है। आम तौर पर जो बडी-बडी शिक्षण-संस्थाएँ बनती है, हमारी संस्था भी कुछ वैसी ही संस्था है, ऐसा वे मानते थे। लेकिन इस प्रकार गॉव के लोगो के साथ घुल मिलकर उनके ही काम मे साथ देने से उनकी भावनाओं मे कुछ परिवर्तन होने लगा। कई गॉवो मे गॉवभर के लोग रात को बैठक करने लगे और गॉव की उन्नति की बातें सोचने लगे। इन बैठको मे वे हम लोगो को भी न्योता देने लगे। चर्चा के दौरान मे ग्रामदान की चर्चा भी होती थी।

खादीग्राम से चार मील की दूरी पर बेला पहाड की तराई पर जगलो के बीच सथालो की कई बस्तियॉ हैं। उनमे बदरोठ नाम का एक छोटा-सा गॉव है। उस गॉव के लडके और लडकियॉ काफी तादाद मे

श्रमशाला मे पढने आते थे। इस कारण खादीग्राम के भाई-बहनो का बदरौठ मे आना-जाना काफी रहता था। बदरौठ मे पानी जमा करने की अच्छी गुजाइश थी, लेकिन बॉध के अभाव के कारण वे लोग लाचार रहते थे। हम लोगो ने वहॉ सामूहिक श्रम से बॉध बॉधने की योजना बनायी। खादीग्राम के नियमित कार्यक्रम के अनुसार हर शुक्रवार को हम स्त्री, पुरुष और बच्चे नियमपूर्वक उसे बॉधते थे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे बॉध ऊँचा होता गया, वैसे-वैसे गॉव के निवासियो का उल्लास बढता गया तथा सामूहिक शक्ति का भान होता गया। सथाल होने के कारण उनकी श्रम-शक्ति अद्‌भुत है। आधुनिक सभ्यता के आक्रमण के बावजूद उनमें सहकार-वृत्ति मौजूद है। इसलिए हम लोगो के चले आने के बाद भी वे मिलकर बॉध बॉधा करते थे। यहॉ के भाई-बहन कभी कभी रात को भी टिक जाते थे और उन लोगों से चर्चा किया करते थे। मिलकर काम करने पर उनकी तरक्की हो सकती है, इसका दर्शन भी उन्हे मिल चुका था। इन तमाम भावनाओ के साथ हम लोग ग्रामदान का विचार भी बनाया करते थे। आखिर हमारे साथियो ने उनसे ग्रामदान-पत्र भरवा ही लिया।

बदरौठ का ग्रामदान

ग्रामदान-पत्र भरने के दूसरे दिन वे मेरे पास आये और बडी खुशी के साथ ग्रामदान होने की खबर मुझे सुनायी। ग्रामदान की खबर सुनकर मुझे खुशी हुई। लेकिन मैने कहा कि "तुम लोगों ने जल्दी की, विचार खूब पक जाता, तब दान पत्र भरवाते, तो ठीक होता।" लेकिन साथियो मे उमग थी, इसलिए मैने उन्हे रोका नही। कारण, वे कहने लगे थे कि "हम लोगों ने अच्छी तरह से देख लिया है, वे अत्यन्त दृढ़ हैं।"

बदरौठ के ग्रामदान की खबर बिजली के समान चारों ओर फैल गयी। यह स्थान अत्यन्त प्रतिक्रियावादी इलाका है। इन लोगो ने खादीग्राम मे हमे जमने न देने के लिए जो सगठित चेष्टा की थी, उसका

विवरण में तुम्हें लिख ही चुका हूँ। वटरौट के ग्रामदान की खबर से आसपास के बड़े भूमिवान, महाजन और सरकारी कर्मचारी—सबके कान खड़े हो गये। वे समझने लगे कि यदि आदिवासियों में ग्रामदान की हवा वह गयी तो आज तक जिस तरह उनका शोषण हो रहा है, वह सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए चारों तरफ से सब लोग इसी कोशिश में लगे कि वे ग्रामदान वापस ले लें। उन्हें बहकाने के लिए उन्होंने अपने अनुगृहीत आदिवासियों को ही इस्तेमाल करना शुरू किया। वे वहाँ जाते थे और उनसे नाना प्रकार की गप करते थे। कुछ फुसलाते थे, कुछ धमकाते थे। कहते थे कि तुमने विनोबा के नाम दान-पत्र लिखकर अपनी उँगली कटा ली। अब खादीग्रामवाले तुम्हारी सब जमीन पर अपना दखल कर लेंगे। कोई उनसे कहता था कि खादीग्रामवाले तुम लोगों को ईसाई बना देंगे। खादीग्राम में अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विवाह होते हैं, उसकी भी चर्चा इस क्षेत्र में काफी थी। उस चर्चा से मेल मिलाकर लोग उनसे यह भी कहते थे कि खादीग्रामवाले तुम्हारी लड़कियों को ले जायेंगे और शादी कर देंगे। कुछ लोग यह भी कहते थे कि तुम्हारे गाँव में जो बाँध बँध रहा है, उसके लिए इन्हें सरकार से बहुत-सा रुपया मिला है, लेकिन वे तुमसे मुफ्त में काम करा लेते हैं। ग्रामदान ठहर न सके, इसके लिए सरकारी कर्मचारी भी भरपूर कोशिश करते थे। खास तौर से विकास-योजना के लोग। बदरौठवाले यह तय कर चुके थे कि श्रम-दान से कुँआ खोदेंगे, उन्होंने खोदना शुरू भी कर दिया था। श्रम शाला के छात्रों को ईंट पाथना भी सिखाया गया और वे कुँआ बाँधने के लिए यहाँ से बालू ढोकर ले जाते थे और अपने गाँव में ईंट पाथते थे। हमारे पास भू-दान समिति का कोयला रखा हुआ था, उसमें से कोयला देने की भी बात कही गयी थी। लोगों ने उन्हें समझाया कि वे बेकार मेहनत कर रहे हैं। बंगाल डेवलपमेंट अफसर वैसे ही कुँआ बनवा देगा। एकाध कुँए की स्वीकृति भी दे दी गयी।

प्रतिक्रियावादियों की चेष्टा

लेकिन इतनी कोशिश के बावजूद बदरौठवाले काफी दृढ रहे। आखिर में सबने मिलकर बिरादरीवालों पर जोर डाला कि वे ग्रामदान वापस कर ले। अन्त में वे सफल हो गये। हम लोगों ने भी उनके कहने पर दान-पत्र वापस कर दिया।

बदरौठ का ग्रामदान-पत्र तो वापस हुआ, लेकिन उस ग्रामदान को लेकर इस इलाके में इतनी चर्चा हुई कि क्षेत्र-भर मे ग्रामदान का विचार काफी आगे बढ़ा। अब तक हम लोग थोडी-बहुत विरोध का सुफल चर्चा कर लेते थे, लेकिन बदरौठ के ग्रामदान के विरोध मे जो आन्दोलन खडा हुआ, उससे लोगो की जिज्ञासा बढी और वे अधिक दिलचस्पी के साथ इसके विभिन्न पहलुओं के बारे में पूछताछ करने लगे। अब वे समझने लगे थे कि ग्राम दान केवल हवाई बात नहीं है, वह साकार भी हो सकती है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो विरोधियों का विरोध आन्दोलन के लिए वरदान ही साबित हुआ। शायद क्रान्ति का यह स्वधर्म भी है कि विरोध से उसकी वृद्धि होती है।

बिहार से विनोबाजी के चले जाने के बाद बिहार की भूदान समितियों ने भूमि-वितरण के काम मे अपना ध्यान लगाया और सन् '५५-'५६ में काफी जमीन वितरित हुई। हम लोगो ने पाडा गाँव में भी लक्ष्मीपुर थाना और आसपास के इलाको में मिली भूमि की आबादी भूमि का वितरण किया। बदरौठ जाने के रास्ते में तीन मील तक 'परती' जमीन पडी हुई है। उसीमें से करीब डेढ सौ एकड़ जमीन भूदान में प्राप्त हुई थी। उसे हम लोगो ने पडोस के गाँव पाड़ा के २५ मुसहर-परिवारों में बॉट दिया था। बॉट तो दिया था, लेकिन वे अब तक जमीन पर नहीं गये थे। सालभर से ऊपर हो जाने पर भी उन्होंने उसे आबाद करने की कोशिश नहीं की। बदरौठ के कारण जब भू-दान की चर्चा फिर से चली, तो हम लोगो ने पाडा के मुसहरों से भी कहा कि अगर वे जमीन नहीं जोतेंगे, तो उसे हम दूसरों को

दे देंगे। हवा म चर्चा थी ही, इसलिए हमारी बात पर व विचार करने लगे। इसका एक दूसरा कारण भी रहा होगा।

इस इलाके मे भूमिहीन खेतिहर मजदूर मुख्यत मुसहर ही ह। साल्भर से बिहारभर मे भूमि-वितरण के फलस्वरूप कई जगहों के मुसहरो ने अच्छी खेती कर ली थी। इन जातियो मे बिरादरी की खबर बहुत जल्दी पहुँच जाती है। इसलिए प्रान्त के मुसहरो को इसकी सूचना मिल ही गयी थी। शुरू-शुरु मे जब उन्हे जमीन दी जाती थी, तो वे प्रमाण पत्र तो ले लेते थे, पर मन मे आश्वस्त नहीं होते थे कि जमीन उन्हाको मिल गयी, क्योकि हजारो वर्षो से शोपित और निर्दलित रहने के कारण वे इस बात की कल्पना भी नही कर सकते थे कि उनकी भी कुछ हैसियत हो सकती है। जब उन्हे मालूम हुआ कि विनोबा की बदोलत उन्हे जो जमीन मिल रही है, वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है, तो प्राप्त जमीन को आबाद करने मे उन्हे दिलचस्पी हुई। इसी बीच हम लोग भी पहुँचे, तो उनको अधिक होश आया और उन्होंने जमीन तोडने की बात सोची। वे जब जमीन तोडते थे, तब हम लोग भी उनके साथ जाकर श्रम मे मदद करते थे।

डेढ सौ एकट जमीन मे से सा एकड पाडो के मुसहरो का दी गयी थी, बाकी भूमि जमीन से सटे हुए आदिवासी गॉव खिरियावाले को दी गयी। खिरिया गॉव बदरोठ से सटा हुआ ही है। खिरिया के खिरियावाले मुसहरो के समान नही थे, उन्होंने उसी ग्रालीणों पर अन्नर वर्ष कुछ जमीन तोडकर आबाद कर ली थी। वस्तुत खिरियावाले द्वारा जमीन को आबाद होते देखकर भी पाडा के मुसहरो का कुछ हौसला बढा था।

मुसहरो को आबाद करने के साथ साथ हम लोगो ने खिरिया की ओर ध्यान दिया और वहॉवालो को सामूहिक पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करने की कोशिश की। यह तो तुम्हे मालूम ही है कि सथाली जाति बडी साहसी और परिश्रमी होती है। इसीलिए ये लोग खूब मेहनत करके

जमीन तोडते थे। अगर दो साल अकाल न पडा होता, तो वे काफी जमीन तोड लेते। वे जमीन तोड तो लेते थे, लेकिन पानी के अभाव मे पैदावार का बहुत भरोसा नही होता था। बदरौठ के समान यहाँ भी पानी की आमद बहुत है और रोकने पर चाहे जितना खजाना रखा जा सकता है। मैंने देखा कि इनके बीच किसी कार्यकर्ता को रहना चाहिए, ताकि वह उनका उचित मार्ग-दर्शन कर सके। खादीग्राम के रामेश्वर भाई को गाधी-निधि की ग्राम-सेवक टोली मे शामिल करके इधर के गॉवो मे काम करने को लगा दिया। उनसे कह दिया कि शुरू मे वे जमीन को आबाद कराने मे ही अपनी शक्ति केन्द्रित करे। खिरिया और दूसरे आदिवासी गॉवो मे धर्म-गोला की योजना भी बनायी गयी।

यह एक सूखा इलाका है। यहाँ प्रायः अकाल पडता है। इसलिए हमारी यह कोशिश चल रही थी कि खिरियावाले भी पानी के लिए कोई बॉध बॉधे। एक दिन रामेश्वर भाई ने मुझसे कहा कि "खिरिया के लोग बॉध बॉधने को तैयार है। आप चलकर जगह बता दीजिये !" मैं वहाँ गया, मैने जगह देखी और रात को भी उसी गॉव मे टिक गया।

दूसरे दिन सुबह गॉववालो के साथ फिर घूमा और कई जगहे देखी। गॉववालो ने जो प्रस्ताव रखा, उससे पानी का खजाना कम होता था। अन्त मे मुझे एक जगह पसन्द आयी, लेकिन उसे बॉधना एक विराट् काम था, जिसे पूरा करना गॉववालो के वश का नहीं था।

बदरौठ और खिरिया के बीच एक बहुत बडा नाला बहता है। बरसात में वह नाला एक छोटी नदी का रूप धारण कर लेता है। मैंने उन लोगो से कहा कि वे उसीको बॉधे। रामेश्वर भाई और गॉववाले कुछ घबडाये। मैने उनसे कहा कि "भगवान् रामचन्द्र के साथ बन्दरों ने समुद्र बॉध डाला और तुम लोग गाधी के साथ एक छोटा-सा नाला नही बॉध सकोगे ?" मैने उनसे यह भी कहा कि गॉव के सब लोग सुबह जलखई (नाश्ता) के वक्त तक बॉध बॉधें, उसके बाद जगल

नाले पर बॉध का प्रस्ताव

मे पत्ते, लकडी आदि का काम करने के लिए निकल। सप्ताह मे एक दिन दिनभर काम करने के बजाय यह प्रस्ताव उन्हें ज्यादा पसन्द आया और दूसरे ही दिन बडे तडके ही उठकर वे बॉध बॉधने के काम मे लग गये।

खिरियावालो ने मेरे कहने से हिम्मत तो बहुत की लेकिन काम पूरा होगा, इसका पूरा भरोसा नहीं था। वहाँ के निवासियो ने इतना बडा नाला बॉधने का काम शुरू किया है, यह सुनकर आसपास के लोग उसे देखने आते थे। जो देखते थे, वे हँसते थे और कहते थे कि टिड्डी चली है समुद्र उलीचने। खादीग्राम मे जो कार्यकर्ता आते थे, वे भी कभी-कभी यही कहा करते थे कि धीरेन्द्र भाई को हमेशा उलटी ही बातें सूझती है। मैंने रामेश्वर भाई से अनुरोध किया कि वे एक साथी के साथ उसी गॉव मे टिक जायॅ और प्रतिदिन सबको बटोरकर उनके साथ मेहनत करें।

काम चलता रहा, कुछ प्रगति भी हुई। हम लोग भी शुक्रवार का श्रम उसी बॉध पर करने लगे। देखते-देखते कुछ दिनो मे काफी ऊँचा बॉध बँध गया। फिर आसपास के लोगो के दिमाग मे ऐसा भान होने लगा कि शायद ये लोग बॉध बॉध ही लेगे।

मैंने जब देखा कि अब गॉववालो को कुछ विश्वास होने लगा है और उनमे नियमित रूप से कुछ सामूहिक पुरुषार्थ भी चालू हो गया है, तो उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि लोग तैयार सामूहिक पुरुषार्थ हों, तो मै बाहर से पैसा लाकर आठ आना चोका (१०० वर्गफीट) की दर से भोजन का कुछ इन्तजाम कर सकता हूँ, बशर्ते कि वे रोज दिनभर काम करने को तैयार हों। (सौ सौ फुट मिट्टी काटने की स्थानीय मजदूरी सवा रुपया थी और ढुलाई लेकर डेढ रुपया होती थी।) पानी की परेशानी थी, सामूहिक पुरुषार्थ जगा हुआ था और अपने ऊपर कुछ विश्वास पैदा हो गया था, इसलिए

उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया। बीस-पचीस दिनों के भीतर ही उन्होंने नाले का पेटा भर दिया।

उन दिनो स्थानीय एन० ई० एस० ब्लाक के ब्लाक डेवेलपमेण्ट अफसर बदल गये थे। नये सज्जन हमारे काम के साथ सहानुभूति रखते थे। पडोस के ललमटिया गॉव मे एक बॉध की मजूरी सरकारी सहायता भी दी थी। उनके कान पर भी खिरिया बॉध की कहानी पहुॅच चुकी थी। एक दिन अपने साथियो के साथ वे उसे देखने को चले गये। जितना काम हो चुका था, उसे देखकर वे बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे कि उनके पास साधन है। हम लोगों को उस साधन का लाभ उठाना चाहिए था। रामेश्वर भाई ने विनोद मे कहा कि "पहले तो आप लोग इस नाले को बॉधने की सम्भावना ही नही मानते और दूसरी बात यह है कि आपकी मजूरी के लिए जितना दौडना पडता, उससे कम शक्ति मे हम इसे सगठित कर लेते है।" ये बाते तो विनोद मे हुई, लेकिन रामेश्वर भाई ने उन्हे ग्राम-विकास का मूलतत्त्व समझाया। उन्होने कहा कि जब तक गॉववालो मे अपने विकास के लिए स्वयप्रेरणा नही निर्माण की जायगी और उसकी सिद्धि के लिए सामूहिक पुरुषार्थ नहीं जगाया जायगा, तब तक ऊपर से मजूरी देकर इनका विकास हो नही सकता है। इतने दिन सरकारी काम करने के बीच बी० डी० ओ० साहब को शायद ऐसा अनुभव कभी नही मिला था। सार्वजनिक कार्यकर्ता उनके पास जाते है, कुऑ, बॉध और तालाब आदि बनवाने के लिए अनुरोध करते है, फिर मजूरी होने पर ठेकेदार ठीक कर देते है। उन्हे कुछ ऐसा ही अनुभव था, लेकिन रामेश्वर भाई तथा रवीन्द्र भाई (जो यहॉ के ग्राम निर्माण-विभाग के सचालक है) से बात करके वे अत्यन्त प्रभावित हुए और तब से आज तक वे हमारे काम के एक मुख्य सहायक बने हुए है। उन्होने स्वय बॉध पूरा करने का एस्टीमेट (अनुमान) बनवाया और उसे मजूर किया।

सरकार की ग्राम-विकास-योजना का भी उद्देश्य यही है कि गॉववाले

अपना काम स्वय करे, काम के लिए पुरुषार्थ करे और सरकार उनकी मदद करे। लेकिन सिद्धान्त सही होने पर भी उसका अमल सम्भव नहीं हो पाता है। सरकार एक तन्त्र है। तन्त्र का स्वधर्म यन्त्रवत् चलने का होता है, उसमें मानवीय सम्बन्धो की गुजाइश कम रहती है। सामान्यत. हर तन्त्र की रुझान यन्त्र बनने की होती है, लेकिन उसका आकार जितना बडा होता है और वह जितने अधिक व्यापक रूप से फैला होता है, उतना ही उसका यन्त्रस्वरूप प्रखर होता जाता है और चेतनस्वरूप यानी मानवीय स्वरूप कम होता जाता है। यह प्रक्रिया बढते बढते जब सरकारी तन्त्र तक पहुँचती है, तो वह सम्पूर्ण चैतन्यहीन लौहयन्त्र का रूप ले लेता है।

क्योंकि तन्त्र का यह तथ्य केवल सरकारी सस्थाओ के लिए लागू होता है, ऐसी बात नहीं है। किसी भी तन्त्र का स्वधर्म ऐसा ही होता है। किसी भी गहरे और ऊँचे मन्त्र को जब रूप देना होता है, तो उसके लिए किसी न किसी प्रकार का तन्त्र खडा करना ही पडता है। 'चरखा अहिंसा का प्रतीक है' यह एक मन्त्र है, लेकिन इसे अमली रूप देने के लिए चरखा का सगठन आवश्यक था। 'सबै भूमि गोपाल की' यानी समाज की, यह एक मन्त्र है, यद्यपि विनोबा स्वय अकेले ही इसको रूप देने निकले थे, फिर भी कुछ दिनो मे सर्व-सेवा-सघ के तन्त्र का आश्रय लेना पडा। इसलिए जैसे आत्मा को रूप लेने के लिए शरीर का सहारा आवश्यक है और यह रूप शरीर धारण करते ही शरीर की मर्यादाएँ उस पर लागू हो जाती है, उसी तरह मन्त्र चाहे जितनी उच्चकोटि का हो, अगर उसे कोई रूप धारण करना है, तो उसे किसी-न-किसी तन्त्र का सहारा लेना ही होगा और जैसे ही वह किसी तन्त्र के साथ जुटेगा, वैसे ही उसे उस तन्त्र की मर्यादाओ को स्वीकार करना होगा। यानी उसके यान्त्रिक स्वरूप को वह छोड नहीं सकता।

गाधीजी ने स्वराज्य की माँग की। उन्होने बताया कि स्वराज्य का अर्थ है—अहिंसक समाज। उनका कहना था कि आज सरकार

के किसी भी देश मे स्वराज्य नहीं है, क्योकि आज सारे ससार का सचालन दण्ड शक्ति से होता है। दण्ड सचालित समाज चाहे जितने आदर्श लोक-तत्र के नाम से परिचित हो, उसे अहिंसक समाज नही कहा जा सकेगा। यही कारण है कि गाधीजी का कहना था कि अहिंसक समाज मे राज्य-सस्था का लोप होना चाहिए। आज विनोवा बापू के इस सूत्र के भाष्य में शासनमुक्त समाज का विवेचन कर रहे है

अहिंसक समाज और राज्य-संस्था

यह सही है कि पूर्ण स्वराज्य का अर्थ पूर्ण शासनमुक्त समाज है, लेकिन ससार मे किसी भी वस्तु का पूर्ण रूप आज दिखाई नहीं देता। चिन्तन करते-करते मनुष्य पूर्ण रूप की खोज मे जिस किसी वस्तु की कल्पना कर डालता है, उसका अन्त 'नेति' 'नेति' मे ही उसे करना पडता है। वहुत सोचने विचारने के वाद भगवान् के एक रूप का आविष्कार किया, जिसे 'पूर्ण' कहा जाता। लेकिन उसके भी रूप वर्णन की चेष्टा में निराश होकर निराकार रूप की सज्ञा देनी पडती है। यही कारण है कि बापू कहते थे कि पूर्ण स्वावलम्बन रेखा गणित की सख्या के बिन्दु की तरह है। यद्यपि उसका अस्तित्व है, फिर भी वह कभी दिखाई नहीं देगा। अतएव मानव की पूर्ण स्वराज्य की चेष्टा उसके निकटतम तक पहुँचने के लिए ही होगी।

इसलिए पूर्ण स्वराज्य के मत्र को यदि इहलोक मे फलीभूत करना है, तो उसे जिस तन्त्र मे बॉधना होगा, उसका सूक्ष्मतम या सौम्यतम स्वरूप क्या हो—इसकी तलाश ही स्वराज्य साधना की रूपरेखा होगी।

आज जब विनोवाजी अपने आन्दोलन के लिए सचित निधि-मुक्ति तथा तत्र-मुक्ति की बात करते हैं, तत्र-मुक्ति की प्रक्रिया मे बीच-बीच में निवेदक और दूसरे ऐसे ही प्रतिष्ठानो का गठन करते है और जब कहते हैं कि सर्व-सेवा-सघ सर्व-जन-आधारित हो जाय तथा वह जन-जन मे इतने व्यापक रूप से विलीन हो जाय कि अन्ततोगत्वा सघ का लोप होकर केवल सर्व-सेवा

मंत्र और तंत्र

ही रह जाय, तो समझना चाहिए कि वह स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग खोज रहे हैं। आखिर भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान या ग्राम-निर्माण आदि जितने कार्यक्रम हैं, वे सब अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य तो स्वराज्य है। वस्तुत: गाधीजी तो विदेशी राज्य की समाप्ति को भी स्वराज्य नहीं कहते थे। वे तो निरन्तर यही कहते रहते थे कि विदेशी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला कदम मात्र है। अतएव विदेशी राज्य को हटाने का कार्यक्रम, भूदान, ग्रामदान की प्राप्ति, खादी-ग्रामोद्योग तथा दूसरे ग्राम निर्माण के कार्यक्रम, सब स्वराज्यप्राप्ति के ध्येय मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड मात्र ही हैं।

इसलिए हमे जिस स्वराज्य का निर्माण करना होगा और अनिवार्य रूप मे जिस तत्र का निर्माण करना होगा, उसके ढॉचे को ऐसा बनाना होगा, जिसमे मानव-सम्पर्क अधिकतम हो और यान्त्रिकता न्यूनतम हो। मै खिरिया के गॉव के सिलसिले में जब सरकारी तत्र का वर्णन कर रहा था, तो मैने बताया था कि सरकार का भीमकाय तत्र किस प्रकार पूर्ण चेतनहीन यत्र बने रहने के कारण अत्यन्त उच्च सिद्धान्त और आदर्श के होते हुए भी किस तरह जड हो जाता है। निरालसता जडता का अन्तर्निहित तत्त्व है, इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है।

मै बता चुका हूँ कि सरकार की विकास योजना का मूल लक्ष्य भी जनता की स्वयप्रेरणा तथा सामूहिक पुरुषार्थ जगाकर ही उसका विकास करना है, फिर भी जड यत्र द्वारा सचालित होने के कारण वह फली-भूत नहीं हो रहा है। इस निष्फलता के कारणो पर और भी गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

सरकारी यंत्र की जड़ता

भीमकाय सरकारी यत्र की जडता तो सर्वसामान्य है ही, उसके अलावा जनता के साथ समरसहोने में शिक्षित वर्ग की अयोग्यता के कारण यह जड तत्त्व और कठोर हो जाता है। फलस्वरूप चेतन-हीनता के कारण सरकारी विभाग जनता मे प्रेरणा निर्माण नहीं कर सकता। प्रेरणा के अभाव

में सामूहिक पुरुषार्थ कैसे निखर सकेगा ? एतदर्थ राजकीय विभाग, विभागीय नियम से ही जनता में पुरुषार्थ पैदा करना चाहता है, परिणाम यह होता है कि वह पुरुषार्थ निखर नहीं पाता है। मान लीजिये कि एक पोखरा या बॉध के लिए विकास-विभाग से ५,००० रुपया खर्चे की स्वीकृति मिली, नियम से २५००) का काम जनता करेगी और २५००) की मदद सरकार देगी, लेकिन विभाग की ओर से उस काम का ठेका किसी एक ठेकेदार से होगा। स्पष्ट है कि ठेकेदार कुछ लाभ के लिए ही ठेका लेगा। ऐसी हालत में ठेकेदार जनता की मदद की अपेक्षा नहीं कर सकता, फलतः बॉध की असली कीमत २५००) में से ठेकेदार का मुनाफा तथा कठिनाइयो का कमीशन काटकर जितना बचता है, उतनी होगी। कुल मिलाकर स्थिति यह होती है कि शायद बॉध २०००) का बॅधा और सरकारी कागजो मे ५०००) दर्ज होता है। इस प्रकार पॉच सौ करोड रुपया खर्च करने की वास्तविक योजना मे अधिक से-अधिक दो सौ करोड़ का वास्तविक काम होता है।

यह हुआ आर्थिक पहलू। राष्ट्रीय विकास का यह अत्यन्त गौण पहलू होता है। जब तक राष्ट्र के चेतन पुरुष का विकास नहीं होगा, तब तक किसी भी प्रकार की योजना राष्ट्रीय विकास की योजना नहीं कही जा सकती। आज से १८ वर्ष पहले १९४१ मे आगरा सेण्ट्रल जेल से मैंने जो पत्र लिखे थे, उनमे ब्योरे से इस बात की चर्चा की थी। मैंने लिखा था कि आवश्यकता है पहले पचो को बनाने की। बिना पच बने पचायत नहीं बन सकती और पचायत बनाने के बाद ही पचायतघर बनाने की आवश्यकता होती है। मैंने लिखा था कि गॉव के आदमियों में अगर चेतना नहीं होगी, तो सडक का पुल हजार बार बनने पर भी टिकेगा नहीं, क्योंकि वैसी हालत मे लोग उस पुल की ईंटें निकालकर ले जायेंगे और घर का चूल्हा बनायेंगे। लेकिन यदि मनुष्य ठान ले, तो वे स्वय ही पुलिया बना लेंगे। फिर वह पुलिया स्थायी होगी। यही कारण है कि विनोबाजी कहते हैं कि ग्राम-दान के बिना सामूहिक विकास-योजना के

काम सभव नहीं है । क्योंकि समुदाय के अभाव मे सामुदायिक विकास किस तरह सधेगा ?

कहाँ से कहाँ भटक गया । मुझे कहना यह था कि खिरिया के विकास के काम मे जो सरकारी सहयोग मिला, उससे योजना की गति कुछ तेज हुई ।

खिरिया के बाँध ने इस इलाके को काफी प्रभावित किया और कई गाँवो को बाँध बाँधने की प्रेरणा दी । इसी प्रभाव ने पाडो के मुसहरो को भी वहाँ की सौ एकड जमीन को आबाद करने की प्रेरणा दी । जमीन तोडने का काम तो वे लोग शुरू कर चुके थे, जिसमें हम लोग भी श्रमदान करने जाते थे, लेकिन अब वे कुछ अधिक दिलचस्पी से काम करने लगे । सौ फुट के लिए आठ आने मदद देने की बात वहाँ भी की गयी, तो वे काफी तेजी से अपनी जमीन तोडने लगे । २५-२६ घर मुसहरो के बस जाने मे उसने एक छोटे-मोटे गाँव का रूप ले लिया था । हम लोगो ने सोचा कि इस बस्ती को कोई नाम देना चाहिए और उसका नाम 'भूदानपुरी' रख दिया । बाद मे केन्द्रीय सरकार से नयी बस्ती बसाने के लिए कुछ मदद मिलने पर वहाँ के काम की प्रगति खूब बढी । भूदानपुरी मे मुसहरो की प्रगति देखकर फिर एक बार प्रतिक्रियावादी वर्ग जाग उठा । बदरौठ के ग्रामदान को तोडने की योजना मे सफल हो जाने के कारण उसका साहस बढ गया था, अतएव उसने पाडो के मुसहरो को भी भटकाना शुरू किया । आदिवासियो की अपेक्षा मुसहर अधिक दबी हुई कौम है, इसलिए इनको डराना आसान था, लेकिन एक सुविधा यह थी कि इस बार विकास-विभाग के लोग उस वर्ग मे शामिल नहीं थे । दूसरी सुविधा यह थी कि आसपास के लोगो ने देख लिया था कि हम लोग वास्तव मे देहातियो को पुनर्निवास कराने के इच्छुक हैं और इस दिशा मे कुछ कर भी सकते है । पर ये मुसहर पुराने मालिको से कर्जा आदि के कारण इस तरह बँधे हुए थे कि उनके द्वारा डराना धमकाना और

बाँध से प्रेरणा

फुसलाना कामयाब हो जाता था। फिर भी रामेश्वर भाई के शान्तिपूर्वक काम करने तथा मुसहरो मे दो एक हिम्मतवाले आदमियों के होने के कारण धीरे-धीरे 'भूदानपुरी' मे बसने का निर्णय कर ही लिया।

बदरौठ के ग्रामदान ने ग्रामदान की सभावना के बारे मे काफी चर्चा चला दी थी, यह मैं पहले बता चुका हूँ। इस चर्चा मे भाग लेनेवालो मे

ललमटिया का ग्रामदान

खादी-ग्राम से सटा हुआ ललमटिया गॉव सबसे आगे रहा। पिछले दो साल से कुआँ और बॉध बनाने के सिलसिले से इस गॉव मे सामूहिक पुरुषार्थ काफी जाग चुका था। खादीग्राम से सटा होने के कारण श्रमशाला मे इस गॉव के काफी लडके दाखिल हुए थे और यहाँ के स्त्री-पुरुष अधिक सख्या मे खादीग्राम मे काम करते थे। इस कारण हमारा सम्पर्क इन लोगो से अधिक घनिष्ठता का था। अक्तूबर १९५६ से ही ललमटिया के निवासी ग्रामदान के विभिन्न पहलुओ पर हम लोगो से चर्चा करते थे और बीच-बीच मे ग्रामदान कर देने की भी बात करते थे। हम लोग उन्हे रोकते थे, कहते थे कि अच्छी तरह समझ-सोच लो, आपस मे सलाह कर लो, तब ग्रामदान की बात करना। आखिर जनवरी मे उन्होने फैसला कर ही लिया। रवीन्द्र भाई ने गॉव की बहनो को इकट्ठा किया और उनसे पूछा कि ये लोग इस तरह से ग्रामदान करना चाहते हैं, उनकी क्या राय है? बहनो ने सोत्साह सम्मति प्रकट की। तब उनका दानपत्र भरा गया और ललमटिया के ग्रामदान की घोषणा की गयी।

सन् '५७ की क्रान्ति-यात्रा का शुभारम्भ श्रमभारती से लगे हुए गॉव के ग्राँमदान से हुआ, यह देखकर खादीग्राम के साथी अत्यन्त उत्साहित हुए। जहाँ लाखो रुपयो की लागत से सस्था बनती है और आसपास के गॉवों के लोग जहाँ मजदूरी करते हैं, वहाँ से सटे हुए गॉवो के निवासी प्रायः सस्था के आलोचक और टीकाकार होते है। लेकिन जब खादीग्राम के पडोसी गॉव का ग्रामदान हुआ, तो साथियो को इस सफलता से बडी प्रसन्नता हुई और वे अत्यन्त उत्साह के साथ यात्रा की तैयारी करने लगे। ० ० ०

श्रमभारती-परिवार की पद-यात्रा : २ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१२-१०-'५८

सन् '५७ की क्रान्ति-यात्रा में श्रमभारती-परिवार के करीब-करीब सभी लोग शामिल हो, ऐसा ही सोचा गया था, लेकिन लखमटिया के ग्रामदान के कारण खादीग्राम के आसपास के देहातो मे जिस वातावरण का निर्माण हुआ, उसे जारी रखने के लिए और लखमटिया गॉव को उचित मार्ग-दर्शन देने के लिए, भाई रवीन्द्र उपाध्याय और रवीन्द्र सिंह को रोक लेना पडा। उन्हें ग्राम-निर्माण मे लगा दिया। आमतौर से ग्रामदान के बारे मे लोगो की टीका यह है कि ग्रामदान के बाद भूमि का पुनर्वितरण नहीं होता है। यदि होता भी है, तो समता के आधार पर नहीं हो पाता। इसलिए मैने रवीन्द्र भाई से कहा कि सबसे पहले जमीन के सम वितरण की आवश्यकता है।

इस प्रश्न पर खूब चर्चा हुई। ग्रामदान के सदर्भ मे जमीन के पुनर्वितरण तथा भविष्य मे खेती के प्रकार को लेकर देशभर में काफी चर्चा है। एक विचार यह है कि जमीन को पुनर्वितरित करने के बदले गॉवभर मिलकर सामूहिक खेती करे। दूसरा विचार यह है कि गॉव के परिवारो मे जमीन का वितरण समानता के आधार पर हो, लेकिन सामूहिक खेती न हो। अलग-अलग खेती करने मे एक दोप यह होता है कि जब तक ग्राम-विकास के लिए बॉध, कुऑ और तालाब आदि की सामूहिक प्रवृत्तियॉ चलती है, तब तक तो मिल-जुलकर सामुदायिक जीवन बनाये रखने का अवसर मिलता है, लेकिन जैसे ही इस प्रकार के सार्वजनिक निर्माण के कार्य समाप्त हो जाते है, वैसे ही सामुदायिक जीवन को कायम रखने के

भूमि का पुनर्वितरण

नये-नये अवसर मिलने बन्द हो जाते है। शुरु-शुरु मे गॉवभर के उत्पादन की योजना तो बनती है, लेकिन धीरे-धीरे व्यक्तिगत खेती के आधार पर अलग अलग जीवन-सघर्ष के कारण यह सामूहिक योजना बनाने की परिपाटी भी समाप्त हो जाती है। फलतः पुरानी व्यष्टिवादी जिन्दगी लौट आती है और गॉव की नैतिक तथा सास्कृतिक स्थिति पूर्व-वत् हो जाती है। अन्तर इतना ही होता है कि पहले लोगो के पास जमीन असमान थी, अब वह बॅटकर समान हो चुकी रहती है। दूसरा अन्तर यह पडता है कि अब लोग व्यक्तिगत रूप से मालिक नही रह जाते हैं, सारी जमीन ग्राम-समाज की मालकियत मे आ जाती है। लेकिन कुछ दिन में यह बात भी कानूनी रह जाती है और वस्तुतः 'मेरे' 'तेरे' की भावना पुनर्जीवित हो जाती है। इस प्रथा मे एक और बात होती है, जिससे जटिलता बढ जाती है। वह है परिवार-वृद्धि की समस्या। कोई परिवार ज्यादा बढता है, तो कोई कम। फिर पुनर्वितरण का प्रश्न आता है। 'मेरे' 'तेरे' की भावना के पुनर्जन्म के बाद इस प्रकार बार-बार का वितरण कठिन समस्या बन जाता है।

किचकिच और किचिन

गॉव के कुछ लोग विचार समझकर और कुछ लोग भावनावश ग्रामदान कर देते है, लेकिन ग्रामदान के सकल्प मात्र से गॉव के लोगों का चरित्र नहीं बदल जाता है। पुराना राग-द्वेष पूर्ववत् कायम रहता है। अन्तर यही होता है कि वे आगे बढने का सकल्प करते हैं, अर्थात् वे कुछ अधिक सचेतन हो जाते है। ऐसी हालत मे तुरन्त सामूहिक खेती से पारस्परिक सद्भावनाओ के बिगडने की अत्यधिक आशका रहती है। कहते हैं कि अग्नि के सारे प्रकारो मे से जठराग्नि सबसे प्रखर होती है और खेती इसी अग्नि की खुराक का साधन है। दुनिया मे जितने झगडे होते हैं, उनका यदि विश्लेषण किया जाय, तो कुछ ही मामलों को छोड़कर सभी भोजन की समस्या को लेकर होते है। तुम लोगो ने सस्थाओ मे तथा सम्मेलनों मे देखा है कि सबसे अधिक टीका-टिप्पणी और

असन्तोष भोजन को लेकर ही होता है। जेल में भी उच्च आदर्श तथा लक्ष्य को लेकर कष्ट सहने के लिए पहुँचनेवाले राजबन्दी भी भोजन की समस्या को लेकर निरन्तर झगड़ते रहते हैं। मैं तो अक्सर अपने साथियों से विनोद में कहता हूँ कि 'किचकिच' का Plural (बहुवचन) 'किचिन' (रसोई) होता है। देहाती भाषा में 'किचकिच' जब अधिक हो जाती है, तो उसे 'किचाइन' कहते हैं। शायद इसीसे 'किचिन' निकला हो!

मैं कहना यह चाहता था कि ग्रामदान होते ही सामूहिक खेती का निर्णय खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि प्रारम्भ में ही पूर्वचरित्र के कारण शान्ति से सामूहिकता को कायम रखना कठिन हो जाता है। दूसरी समस्या यह है कि सदियों से मजबूरी में ही काम करने के आदी होने के कारण सब लोग समान रूप से पुरुषार्थ नहीं करते। वस्तुतः काम की प्रेरणा कैसे मिले, समाजवाद के सामने यह प्रश्न एक प्रमुख समस्या ही है।

सामूहिक खेती का प्रश्न

भारत जैसे उत्तर-गुलामी के देश में तो इस समस्या का और अधिक होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप सारा काम गाँव के दो-चार उत्साही तथा जिम्मेवार व्यक्तियों के कन्धों पर ही पड़ जाता है और कालान्तर में इन्हीं लोगों का वर्ग बन जाता है, जो 'व्यवस्थापक' कहलाता है। फिर 'अधिकारवाद' का निर्माण होने लगता है। इस प्रकार सार्वजनिक प्रेरणा के तथा सामूहिक पुरुषार्थ के अभाव के कारण अधिकांश क्षेत्रों में उत्पादन में कमी आ जाती है। ग्रामदान के परिमाण में आर्थिक स्थिति नीचे उतरने पर वह ग्रामदान अधिक दिन नहीं टिकेगा, क्योंकि आर्थिक अवनति के होते हुए सामाजिक तथा नैतिक भावनाओं को टिकाना कुछ आदर्शवादी मनुष्यों के लिए सम्भव है, लेकिन आम जनता उस पर टिक नहीं सकती। इसलिए ग्रामदान के संदर्भ में खेती कैसी हो तथा पुनर्वितरण का ढाँचा क्या हो, इसका निर्णय करना एक कठिन प्रश्न है।

हमारे सामने भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ। संयोग से नलमटिया

गॉव मे बॉध आदि के निर्माण के सिलसिले मे सामुदायिक पुरुषार्थ का सगठन हो चुका था। फिर भी मैंने शुरू मे सामूहिक खेती की सलाह नहीं दी। यही परामर्श दिया कि समानता के आधार पर पुनर्वितरण कर दो और कुछ जमीन सबको मिलकर खेती करने के लिए अलग निकाल लो। सलाह देते समय मैंने रवीन्द्र भाई से कहा कि अभी तो अलग-अलग खेती करो, लेकिन मिलकर खेती करने की चर्चा निरन्तर करते रहो। सब लोग मिलकर गॉवभर की खेती की योजना बनाये, इसके लिए भी प्रायः बैठके करते रहो। जब व्यक्तिगत खेती के आधार पर योजना बनाने का प्रयास होगा, तो उन्हे पग-पग पर अडचने दिखाई देगी। जब-जब अडचनो के प्रसग आये, तब-तब सामूहिक खेती के विचार समझाना। इस तरह धीरे-धीरे जब उन्हीमे सामूहिकता की मॉग पैदा हो, तभी सामूहिक खेती की योजना बनानी चाहिए। यही नीति इलाके के सब क्षेत्रो मे अपनायी गयी। यह नीति बाद को लभेद गॉव मे कैसे कामयाब हुई, उसकी कहानी आगे कहूँगा।

देश के सभी गॉवो मे सामान्यतः तीन प्रकार की भूमि होती है, एक पानी के पास की, दूसरी धान की नीची जमीन और तीसरी वह, जो ऊँची है, जहॉ पानी की कोई व्यवस्था नहीं है। इधर

ललमटिया की भूमि का वितरण

ऐसी जमीन को 'टॉण' कहते है। ललमटिया की जमीन को भी इन तीन भागो मे बॉटा गया। हर किस्म की जमीन हर परिवार को परिवार की सख्या के अनुसार पुनर्वितरित कर दी गयी और चार-पॉच एकड जमीन सामूहिक खेती के लिए रखी गयी।

ग्रामदान होते ही गॉव मे कुछ चहल-पहल का होना स्वाभाविक था। तब से उस गॉव के लोग प्रतिदिन बैठते और आगे का कार्यक्रम सोचते। सबसे पहले उन्होने अबर चरखा लाने का तय किया। धीरे-धीरे सभी परिवारो मे अबर चरखे पहुँच गये। परन्तु खादीग्राम से निर्माण के काम मे मजदूरी मिलने के कारण वह नियमित नही चल सका। इलाके

में पानी के अभाव के कारण खेती में ज्यादा दिन लगे नहीं रह सकते। हम लोगों ने पिछले तीस साल से यही प्रचार किया है कि खेती से जो अवकाश मिले, उसमें गाँव के लोग ग्रामोद्योग चलाने में लगायें, तो देश में बेकारी नहीं रहेगी। लखमटिया के ग्रामदान को लेकर इस प्रचार के अनुसार प्रयोग करने का अवसर मिला। जब हम ग्रामोद्योगों की योजना बनाने बैठे, तब हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि पूरे गाँव को काम देने लायक उद्योग नहीं हैं। इसका मुख्य कारण है—मिल-उद्योग की प्रतिस्पर्धा। इसके लिए मैं दस-बारह वर्ष से मिल-उद्योग-बहिष्कार की बात करता आ रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि अगर भारत की बेकारी का अन्त करना है, तो कम-से-कम अन्न-वस्त्रादि दैनिक आवश्यकताओं की चीजों के लिए केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार अनिवार्य है। आश्चर्य की बात यह है कि जो लोग बहिष्कार की बात नहीं मानते, वे सरकार की टीका करते हैं कि सरकार अमुक-अमुक उद्योगों में मिल को बन्द क्यों नहीं करती? अगर हम यह मानते हैं कि सरकारी कानून से ही मिल-उद्योगों को बन्द कराना जरूरी है, तो भू-समस्या भी सरकारी कानून से ही हल होगी, ऐसा माननेवालों के विचारों में कहाँ गलती है? जिन चीजों को समाज के लिए अवांछनीय मानते हैं, उनको हटाने के लिए सरकारी कानून अगर आवश्यक होता है, तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम सब उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विधान-सभा में प्रवेश करने की कोशिश करें? वस्तुतः बेकारी-निवारण के लिए केन्द्रित उद्योग बहिष्कार का राष्ट्रीय संकल्प के सिवा दूसरा कोई अहिंसक उपाय है ही नहीं। लेकिन मेरा विचार कुछ भी हो, आज तो केन्द्रित उद्योग केवल चल ही रहा है बल्कि बढ़ भी रहा है। इसलिए लखमटिया को बहुत-से उद्योग देकर बेकारी-निवारण करने की चेष्टा बहुत आगे नहीं बढ़ी।

इस बीच में खादी-ग्रामोद्योग कमीशन के सघन-क्षेत्र के संचालक झवेर भाई मिले। उनसे मैंने इस समस्या की चर्चा की। उन्होंने कहा कि आपने योजना ठीक से नहीं बनायी है, ग्रामोद्योगों से पूरा काम मिल

सकता है। साथ ही अपने दो-एक केन्द्रों का नाम बताया, जहाँ ऐसा हो चुका है। मैंने ऐसे कुछ केन्द्रों का विवरण देखने की

झवेर भाई से चर्चा

कोशिश की। उसमे दो बातें मालूम हुई। पहली बात यह कि वहाँ सिंचाई का प्रबन्ध भरपूर है और लोग पैसे की खेती करते हैं। इससे वहाँ के लोगो का अधिकाश समय खेती के काम मे लग जाता है। फिर ऐसे बहुत-से ग्रामोद्योग वहाँ चल रहे है, जिनका प्रत्येक गाँव मे प्रचलन करने पर न उतना कच्चा माल मिलेगा, न बाजार ही मिलेगा। जैसे काफी तादाद मे साबुन बनाना और धुनाई मशीन से पूनियाँ बनाकर भडारो को सप्लाई करना।

इस तरह विचार करते हुए मुझे यही लगा कि यद्यपि यह जरूरी है कि ग्रामोद्योगो के लिए राष्ट्रीय सकल्प अवश्य हो, लेकिन इस देश की जमीन की जो हालत है, यानी सिंचाई व्यवस्था का

राष्ट्रीय संकल्प जरूरी

जिस प्रकार अभाव है, उसके रहते केवल ग्रामोद्योग न तो देश की बेकारी को दूर कर सकता है और न सारी जनता के जीवन-मान को ऊपर उठा सकता है। बेकारी निवारण तथा जीवन-मान उन्नयन, दोनो के लिए आवश्यक है कि खेती की प्रक्रियाओ मे वृद्धि हो और समुचित सिंचाई का प्रबन्ध हो। इसलिए हम लोगो ने अपनी सारी शक्ति इन देहातों मे पानी का खजाना जमा करने मे ही लगायी। दुर्भाग्य से इस इलाके के भूगर्भ में पानी नही है। पानी के सर्वे विभागवालों ने भी कहा कि यहाँ ट्यूबवेल खोदने पर भी पानी नही मिलेगा। ऐसी हालत मे एकमात्र उपाय यही था कि इश्वर की वर्षा का एक बूँदभर भी पानी नदी मे न जाने दिया जाय और जगह-जगह तालाब खोदकर तथा बाँध बाँधकर उसे जमा किया जाय। इसी बीच एलवाल में देश के करीब-करीब सभी पक्षो के उच्च कोटि के नेताओ ने एकत्र होकर विनोबाजी के आन्दोलन का स्वागत किया और कहा कि जनता तथा सरकार दोनो को इस काम मे मदद करनी चाहिए। सरकार ने भी अपनी विकास-योजना के तमाम विभागो को यह हिदायत

कर दी कि वे ग्रामदानी गाँवों के निर्माण में भरपूर मदद करें। वर्तमान ब्लाक डेवलपमेण्ट अफसर पहले से ही अनुकूल थे। सरकारी हिदायतों के कारण वे अधिक उत्साह से इस काम में मदद करने लगे।

कुल मिलाकर तीन बॉध और दो कुएँ बने। इनके बनने से सामूहिक पुरुषार्थ का भी निर्माण हुआ। मैं बता चुका हूँ कि सरकारी विकास योजनाओं का उद्देश्य गाँववालों में सामुदायिक भावनाओं को जगाकर ही ग्राम-विकास का काम करना है। इसलिए यह नियम बनाया गया कि आधा खर्च गाँव के लोग दें। लेकिन किस तरह ठेकेदारी के कारण कुल योजना का आधा भी मिल नहीं पाता है, इसकी भी चर्चा कर चुका हूँ। विनोबाजी जो कहते हैं कि सामुदायिक विकास भी ग्रामदान से ही चरितार्थ हो सकेगा, उसका वर्णन ललमटिया, खिरिया आदि ग्रामदानी गाँवों के कामों से होता है। गाँव के लोगों ने यह निर्णय किया कि वे सप्ताह के छह दिन अपने व्यक्तिगत काम में लगायेंगे और एक दिन गाँव की किसी सामुदायिक योजना के लिए श्रमदान करेंगे। इस संकल्प के कारण वर्ष-भर के अन्दर विकास-योजनाओं की मदद का ललमटिया ने इस पूर्णता के साथ इस्तेमाल किया कि इन कामों का आकार तथा खर्च देखकर प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के विकास-विभाग के जितने अफसर आते हैं, सबके सब आश्चर्य प्रकट करते हैं।

ललमटिया के ग्रामदान से इलाके में ग्रामदान की हवा बनी, यह बात मैं लिख चुका हूँ। ग्रामदान की घोषणा सुनते ही कई गाँवों के लोग इसके विषय में जानकारी लेने के लिए हमारे पास लभेत पर अक्सर आते रहे और थोड़े ही दिन बाद पास के लभेत गाँव-वालों के ४० परिवारों ने ग्रामदान करने की इच्छा प्रकट की। वे चाहते थे कि श्रमभारती परिवार की क्रान्ति यात्रा की विदाई भेंट में अपने ग्रामदान की घोषणा करें। तैयारी होने लगी और यात्रा शुरू होने के दिन २२ फरवरी १९५७ को लभेत के कुछ राजपूतों और कुछ मुसहरों ने मिलकर ग्रामदान की घोषणा की। यद्यपि ललमटिया

सकता है। साथ ही अपने दो-एक केन्द्रों का नाम बताया, जहाँ ऐसा हो चुका है। मैंने ऐसे कुछ केन्द्रो का विवरण देखने की कोशिश की। उसमे दो बातें मालूम हुईं। पहली बात यह कि वहाँ सिचाई का प्रबन्ध भरपूर है और लोग पैसे की खेती करते हैं। इससे वहाँ के लोगो का अधिकांश समय खेती के काम मे लग जाता है। फिर ऐसे बहुत-से ग्रामोद्योग वहाँ चल रहे हैं, जिनका प्रत्येक गाँव मे प्रचलन करने पर न उतना कच्चा माल मिलेगा, न बाजार ही मिलेगा। जैसे काफी तादाद मे साबुन बनाना और धुनाई मशीन से पूनियाँ बनाकर भडारो को सप्लाई करना।

झवेर भाई से चर्चा

इस तरह विचार करते हुए मुझे यही लगा कि यद्यपि यह जरूरी है कि ग्रामोद्योगो के लिए राष्ट्रीय सकल्प अवश्य हो, लेकिन इस देश की जमीन की जो हालत है, यानी सिचाई व्यवस्था का जिस प्रकार अभाव है, उसके रहते केवल ग्रामोद्योग न तो देश की बेकारी को दूर कर सकता है और न सारी जनता के जीवन-मान को ऊपर उठा सकता है। बेकारी निवारण तथा जीवन-मान उन्नयन, दोनो के लिए आवश्यक है कि खेती की प्रक्रियाओ मे वृद्धि हो और समुचित सिचाई का प्रबन्ध हो। इसलिए हम लोगों ने अपनी सारी शक्ति इन देहातो मे पानी का खजाना जमा करने मे ही लगायी। दुर्भाग्य से इस इलाके के भूगर्भ में पानी नही है। पानी के सर्वे विभागवालो ने भी कहा कि यहाँ ट्यूबवेल खोदने पर भी पानी नही मिलेगा। ऐसी हालत मे एकमात्र उपाय यही था कि इश्वर की वर्षा का एक बूँदभर भी पानी नदी मे न जाने दिया जाय और जगह-जगह तालाब खोदकर तथा बाँध बाँधकर उसे जमा किया जाय। इसी बीच एलवाल मे देश के करीब-करीब सभी पक्षो के उच्च कोटि के नेताओ ने एकत्र होकर विनोबाजी के आन्दोलन का स्वागत किया और कहा कि जनता तथा सरकार दोनो को इस काम मे मदद करनी चाहिए। सरकार ने भी अपनी विकास-योजना के तमाम विभागों को यह हिदायत

राष्ट्रीय संकल्प जरूरी

कर दी कि वे ग्रामदानी गॉवो के निर्माण मे भरपूर मदद करें। वर्तमान ब्लाक डेवलपमेण्ट अफसर पहले से ही अनुकूल थे। सरकारी हिदायतो के कारण वे अधिक उत्साह से इस काम मे मदद करने लगे।

कुल मिलाकर तीन बॉव और दो कुएँ बने। इनके बनने से सामूहिक पुरुषार्थ का भी निर्माण हुआ। मैं बता चुका हूँ कि सरकारी विकास-योजनाओं का उद्देश्य गॉववालो मे सामुदायिक भावनाओं को जगाकर ही ग्राम-विकास का काम करना है। इसलिए यह नियम बनाया गया कि आधा खर्च गॉव के लोग दे। लेकिन किस तरह ठेकेदारी के कारण कुल योजना का आधा भी मिल नहीं पाता है, इसकी भी चर्चा कर चुका हूँ। विनोबाजी जो कहते है कि सामुदायिक विकास भी ग्रामदान से ही चरितार्थ हो सकेगा, उसका वर्णन ललमटिया, खिरिया आदि ग्रामदानी गॉवो के कामों से होता है। गॉव के लोगो ने यह निर्णय किया कि वे सप्ताह के छह दिन अपने व्यक्तिगत काम मे लगायेगे और एक दिन गॉव की किसी सामुदायिक योजना के लिए श्रमदान करेंगे। इस सकल्प के कारण वर्ष-भर के अन्दर विकास-योजनाओ की मदद का ललमटिया ने इस पूर्णता के साथ इस्तेमाल किया कि इन कामो का आकार तथा खर्च देखकर प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के विकास-विभाग के जितने अफसर आते हैं, सबके सब आश्चर्य प्रकट करते है।

ललमटिया के ग्रामदान से इलाके मे ग्रामदान की हवा बनी, यह बात मैं लिख चुका हूँ। ग्रामदान की घोषणा सुनते ही कई गॉवो के लोग इसके विषय मे जानकारी लेने के लिए हमारे पास आते रहे और थोडे ही दिन बाद पास के लमेत गॉववालो के ४० परिवारो ने ग्रामदान करने की इच्छा प्रकट की। वे चाहते थे कि श्रमभारती परिवार की क्रान्ति-यात्रा की बिदाई भेट मे अपने ग्रामदान की घोषणा करे। तैयारी होने लगी और यात्रा शुरू होने के दिन २२ फरवरी १९५७ को लमेत के कुछ राजपूतो और कुछ मुसहरो ने मिलकर ग्रामदान की घोषणा की। यद्यपि ललमटिया

लमेत पर असर

के समान यह ग्रामदान न तो सम्पूर्ण था, और न परिभाषा के अनुसार उसे 'ग्रामदान' ही कहा जा सकता था; फिर भी मुसहर और राजपूत मिलाकर ४० परिवारो का यह सकल्प ग्रामदान आन्दोलन के संदर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। ललमटिया अपने हाथ से खेती करनेवालों की एक ही जाति के निवासियो का गॉव था, वहॉ आर्थिक विषमता भी विशेष नहीं थी। लेकिन लभेत में तो आर्थिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार की विषमता भरपूर थी। ऐसी हालत में जब दोनो जाति के लोगों ने साथ मिलकर सकल्प किया, तो हम लोगो को एक नया सदर्भ मिल गया। इससे राजपूत जैसी उच्च जाति और मुसहर जैसी पददलित जाति, दोनो का आपसी सहकार साधने के लिए दिलचस्प प्रयोग का अवसर मिला। भाई रवीन्द्र सिंह का प्रभाव उस गॉव पर था, इसलिए हम लोगो ने उस गॉव के विकास का भार उन्हीं पर डाला।

पिछले दो वर्षों से हम लोग खादीग्राम का वार्षिकोत्सव अत्यन्त धूम-धाम से मनाते आये हैं। वस्तुतः जिला, प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय सम्पर्क के लिए इस उत्सव को हम लोगों ने मुख्य साधन माना है। दोनो साल तात्कालिक समस्याओं को लेकर विशिष्ट सम्मेलन का आयोजन इसी अवसर पर कर चुके थे। पिछले साल ग्राम राज सम्मेलन किया था, तो इस साल ग्राम-प्रवेश सम्मेलन करने की सूझी। हमने ऐसा माना था कि पद-यात्रा के निर्णय से श्रमभारती परिवार की सीमा बढी। कम-से-कम एक जिले को अपने परिवार का अग मानने की कोशिश की जाय, ऐसा हमने सोचा। इस विचार से जिले के किसी केन्द्रीय स्थल पर श्रमभारती के वार्षिकोत्सव का अनुष्ठान करने का निर्णय किया गया।

जिला निवेदक रामनारायण बाबू की व्यवस्था मे वरियारपुर का स्थान निश्चित किया गया। इस बार हम लोगो ने उडीसा के भाई नव-कृष्ण चौधरी को पौरोहित्य के लिए बुलाया। हमने नवबाबू का नाम इसलिए चुना कि उन्होने उडीसा मे ग्रामदान का जो दर्शन कराया,

वह क्रान्ति के इतिहास में अद्वितीय था। हमारे साथी उनके आशीर्वाद से यात्रा का प्रारम्भ करें, यह सबकी आकांक्षा थी।

२२ फरवरी सन् १९५७, शुक्रवार। बापू के महाप्रयाण का दिन। २२ फरवरी माता कस्तूरबा का भी प्रयाण दिवस है। हमने क्रान्ति-यात्रा के प्रयाण के लिए वही दिन अत्यन्त शुभ माना। अत यद्यपि वार्षिकोत्सव २४ फरवरी को होना था, फिर भी खादीग्राम परिवार की विदाई २२ फरवरी को ही ठीक समझी। शुक्रवार के दिन खादीग्राम में सूत्र-यज्ञ और सामूहिक प्रार्थना होती है। मुझे कभी कोई विशेष बात कहनी होती है, तो उस दिन प्रार्थना के पश्चात् थोडा प्रवचन कर देता हूँ। यह शुक्रवार तो विशेष बात कहने का था ही।

प्रार्थना-प्रवचन

प्रार्थना के बाद मैंने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा

सन् '५७ का सकल्प पूरा करने के लिए श्रमभारती परिवार के जो लोग बाहर जा रहे हैं, उनका इस साल के लिए यह अन्तिम शुक्रवार है। शुक्रवार ससार का एक महान् पुण्य-दिवस है। बापू का सकल्प था कि सभी सम्प्रदाय मिल जायँ। उनके महाप्रयाण का दिन भी शुक्रवार ही रहा, जो ईसा और मुहम्मद के अनुयायियों के लिए पुण्य-दिवस रहा है। तो आज आपके लिए एक सौभाग्य का दिन है।

ध्यान रहे कि आज के दिन इस युग की महान् क्रान्ति में आप लोग एक विशेष कदम उठा रहे हैं। सभी भाई-बहन और बच्चे भी सोचेंगे कि यह क्या है? यह तो आप सब जानते ही हैं कि क्रान्तिकारियों को महान् शारीरिक कष्ट की ही सौगात मिलती है। यहाँ कुछ भाई बहन पूछते थे कि यात्रा में बच्चों को दूध मिलेगा क्या? मालूम होता है कि आप लोग क्रान्ति का इतिहास पढकर भी भूल जाते हैं। पुराने-जमाने में हिंसात्मक क्रान्तियाँ हुआ करती थीं। उन दिनों क्रान्तिकारी को सपरिवार जगलों में भटकना पडता था। आप लोग तो गाँव-गाँव फिरेंगे। गाँव के लोग आपका स्वागत करेंगे और अपने घरों में

आपको टिकायेंगे। आप जगलों मे भटकेंगे नहीं। फिर भी यदि आपके दिल के एक भी कोने में घबराहट हो, तो आपकी क्रान्तिदेवी का क्या हाल होगा? अगर क्रान्तिकारी के मन मे अपने इष्ट के प्रति दुविधा हो या वे तकलीफो से घबराये, तो वे जडवत् होकर हार जायँगे। मै अकसर कहा करता हूँ कि मनुष्य को दो मे से एक स्थिति को चुनना होगा। या तो वह दिल्ली के वादशाह को सलाम करे या अपने वच्चे के हाथ से घास की रोटी भी विल्ली को ले जाते हुए देखता रहे। आप दूध के वारे मे पूछते हैं। दूध नहीं, गेहूँ की रोटी नहीं, ज्वार, वाजरा और मकई की रोटी भी नही। क्रान्ति के दौरान मे आपके वच्चो के मुँह से घास की रोटी भी छिनने की नौवत आ सकती है। इसका ध्यान आपको निरन्तर रहे। अगर इन वातो से घवडाते है, तो अच्छा यही होगा कि हम सव चलकर दिल्ली के वादशाह को सलाम करे, यानी समाज की पुरानी मान्यताओ को स्वीकार करे। लेकिन हमने सकल्पपूर्वक उस रास्ते को छोड दिया है।

आप सवने क्रान्ति की राह पर आगे वढने का सकल्प किया है। क्रान्ति के वारे मे आपकी दृष्टि साफ होनी चाहिए। पहले लोग समझते थे कि गर्दन काटने से क्रान्ति होती है। आज भी आम मान्यता यही है, लेकिन अव लोग समझ रहे हैं कि गर्दन काटने से क्रान्ति नहीं होती। कम्युनिस्ट लोग भी अव धीरे-धीरे इस वात को समझ रहे हैं। विनोवाजी की पद-यात्रा के कारण सर्वोदय विचारवाले सेवको मे एक दूसरी वात फैल गयी है कि चक्कर काटने से क्रान्ति होती है। अगर चक्कर काटने से क्रान्ति होती, तो देश मे साठ लाख क्रान्तिकारी मौजूद ही हैं। तो हम अधिक क्या करेगे? चक्कर काटनेवाले यहाँ तक समझ वैठते है कि दफ्तर मे वैठकर काम करनेवाले या दूसरे रचनात्मक काम करनेवाले क्रान्तिकारी नही हैं। दफ्तर तथा दूसरे स्थायी कार्यक्रम चलानेवालो के मन मे भी रह-रहकर यह ग्लानि होती है कि वे क्रान्ति नहीं कर रहे है। वस्तुतः क्रान्ति किसी कर्मकाण्ड मे छिपी हुई नहीं है। क्रान्ति तो जीवन-दर्शन, मानसिक वृत्ति तथा कार्य-शैली है।

अतएव जो भाई बहन यात्रा मे जा रहे है और जो लोग श्रम-भारती के अहाते मे बैठकर काम करनेवाले है, उन्हे सोचना होगा कि क्रान्ति आपकी वृत्ति तथा शैली मे है। यात्रा करनेवालो की शैली अगर निष्प्राण हो, तो उनकी यात्रा द्वारा क्रान्ति नही होगी और दफ्तर मे बैठकर काम करनेवालो की वृत्ति तथा कार्यक्रम अगर क्रान्ति के अनुकूल होगा, तो उनके कामो से भी क्रान्ति हो जायगी। जो लोग देहातो मे घूमेगे, उनके रहन-सहन, रङ्ग-ढङ्ग तथा बातचीत से क्रान्ति-दर्शन निकलेगा, तो जनता को भी आप अपने रग मे रॅग सकेगे। आप जनता के घरों में मेहमान होगे, उसके सुख दु ख मे शामिल होगे, वे लोग औकातभर जो कुछ प्रसाद देगे उससे आपको सुखी रहना होगा। अपने दूसरे खर्चो के लिए न सचित निधि से लेना है और न किसीसे मॉगना ही है। उसे अपने श्रम से पैदा करना है। काचन मुक्त समाज के लिए क्रान्ति करने-वाला काचन-दान पर आधारित नहीं रह सकता। आपको मेहनत से कमाने के लिए दो रास्ते है। साहित्य बिक्री का कमीशन तथा किसानो के खेतो की कटनी का, मजदूरी करने का काम। खर्च सामूहिक होगा। मजदूरी करने की कमाई भी सामूहिक रहेगी।

दफ्तरवालो को भी सोचना होगा कि सन् '५७ मे उनके ऊपर क्या जिम्मेदारी है। आपकी जिम्मेदारी बढती है। श्रमभारती के इतने लोग बाहर जा रहे है। उनका सारा काम आपको सॅभालना है। खाली उनका ही काम नहीं, देशभर मे औरो के घूमने के कारण आपका काम बढ़ेगा। इसलिए आपको दूना काम करना है। चार घटे शरीर-श्रम करने के बाद जो बीस घण्टे बचते है, वे सब दफ्तर के लिए हैं। हो सकता है कि सोने के लिए कम समय मिले। ऐसे मौके क्रान्ति के इतिहास मे बहुत आते हैं। सन् '३० की बात याद आ रही है। गाधी आश्रम मेरठ के अधिकाश कार्यकर्ता जेल चले गये थे। बाकी लोग मस्ती के साथ कुल काम चलाते थे। कई मौके याद आ रहे हैं कि काम करते-करते रात गुजर गयी और प्रार्थना की घटी बज गयी। अगर आपमे क्रान्ति की

मस्ती है, तो ऐसे मौके पर भी आप मस्त रहेंगे। रामचन्द्र के अनुसरण मे लक्ष्मण के दिल मे आग थी, तो चौदह वर्ष जागरण पर भी उनकी शक्ति का क्षय नहीं हुआ।

आप बडे-छोटे सब जा रहे है। मुझे भरोसा है कि सत्तावन के अन्त तक आप सब डटे रहेंगे। ज्यादा छोटे बच्चो को तो मैं बीच में वापस बुला लूँगा, लेकिन आप सब भाई-बहन और बडे बच्चे निरन्तर आगे बढते रहेगे। अगर किसीकी हिम्मत टूटती है, तो घायल सैनिक को जैसे अस्पताल मे लाते हैं, वैसे ही आपको वापस लाऊँगा। आपको मालूम है न कि हिंसक क्रान्ति मे सेना की जब लाश गिरती है, तो उसे मोटर पर उठाकर लाया जाता है। हिंसात्मक सिपाही का शरीर मरता है, लेकिन अहिंसात्मक सिपाही का दिल मरता है। मैं यही कामना करता रहूँगा कि आपका दिल हमेशा जिन्दा रहे और आगे बढ़ता रहे तथा मुझे किसीकी लाश (दिल) को उठाकर लाना नहीं पड़ेगा। आज के पुण्य-दिन का आशीर्वाद लेकर आप जा रहे है। ईश्वर आप सबको शक्ति दे।

दूसरे दिन सुबह श्रमभारती-परिवार लभेत के ग्रामदान-यज्ञ का प्रसाद लेकर बरियारपुर के लिए रवाना हुआ।

लभेत गॉव मे कुछ छोटे किसानो और कुछ छोटे मालिको तथा गैर-मालिको ने मिलकर ग्रामदान का सकल्प किया था, यह मैं बता चुका हूँ। आज गॉव मे इसकी भेट का समारोह था। हम लोग सपरिवार जब लभेत पहुँचे, तब गॉव के सारे लोग स्वागतार्थ उत्सुक खडे थे। स्वागत के बाद हम सब बैठ गये। यद्यपि थोडे छोटे किसानो ने ही सकल्प किया था, फिर भी गॉव के सब लोग—स्त्री-पुरुष—अत्यन्त उत्सुकता के साथ सभा मे उपस्थित थे। गॉव के मुखिया ने स्वागत में कहा : "हम लोगों मे से अधिकाश भाई जो छोटे-छोटे किसान हैं, अपने भूमिहीन भाइयों के साथ अपनी जमीन बॉट लेने को तैयार हैं, यद्यपि हमारी जमीन बहुत कम है।" उनका यह अनुपम उदाहरण देखकर गॉव के अल्पसख्यक 'बडो'

ने कहा "हम इसके खिलाफ नहीं है, पर ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए हमारी हिम्मत नही होती। हम यह सारा प्रयोग सहानुभूति से देखेंगे और जब हमे उसकी सफलता पर विश्वास हो जायगा, तब हम भी सबमे शामिल होंगे।" मुखिया ने अन्त मे कहा : "छोटे-बडे, गरीब-अमीर आपका आशीर्वाद चाहते है और प्रभु से प्रार्थना करते है कि वह हमे दृढ रहने तथा जो अभी अलग है, उनको सम्मिलित होने के लिए बल दे।"

क्रान्ति-सम्मेलन

२४ फरवरी को बरियारपुर मे खादीग्राम का वार्षिकोत्सव समारोह था। इस बार के उत्सव ने क्रांति-सम्मेलन का रूप ले लिया था। दूसरे दिन बरियारपुर की पोलिंग मे आम चुनाव का वोट पडनेवाला था। एतदर्थ पार्टियाँ और आम जनता उसीमे मशगूल थी, फिर भी सम्मेलन में अपार भीड थी। लोगो मे उत्सुकता और जोश था। सभी पार्टियो के लोग हमारा साथ देना चाहते थे। लेकिन उस दिन उन लोगो के भविष्य का निर्णय होनेवाला था, इसलिए वे सभी विवश थे। फिर भी सभा मे काफी मात्रा मे लोग उपस्थित हुए। कांग्रेस कमेटी के मंत्री ने कहा : "चुनाव के कारण यद्यपि हम कुछ दिन तक आपका साथ नही दे सकेंगे, इसका हमें दुःख और लज्जा भी है, फिर भी हम विश्वास दिलाते है कि चुनाव के उपरान्त १९५७ को पूरे वर्ष हम आपके क्रान्ति-दल का साथ देंगे।"

सभा के अन्त मे भूदान-समिति के संयोजक भाई नारायणजी ने मुझसे कहा कि आप क्रान्ति-पथिकों को आशीर्वाद दे।

क्रान्ति-यात्रियों को आशीर्वाद

मैंने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा "भाई रामनारायणजी ने मुझसे आशीर्वाद देने के लिए कहा है। मैं क्या आशीर्वाद दूँ? मैं तो अपने परिवार के लिए आप सब भाई बहनों का ही आशीर्वाद माँगने आया हूँ। श्रमभारती का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष के समान खादीग्राम मे न करके जिले के दूसरे किसी गाँव मे मनाने की बात इसलिए सोची कि अब हम

जिलेभर के अपने विशाल परिवार के बीच पहुँच जायँ और पूरे परिवार का आशीर्वाद लेकर '५७ की क्रान्ति-यात्रा प्रारम्भ करे। हमारी यह यात्रा जैसा कि मेरे साथी आचार्य राममूर्ति ने बताया, अपने परिवार के लोगों से मिलने की यात्रा है। लेकिन हमारा केवल मिलना ही नही होगा, हम अपने विचार भी बतायेंगे।

हम लोग खादीग्राम मे जिस श्रम और साम्य की साधना में लगे हुए हैं, वह इस युग के लिए कोई खास बात नहीं है। इतना ही है कि हमने वह पहले शुरू की है। वह काल पुरुष का यानी जमाने का सन्देश है। काल-प्रवाह किधर जा रहा है, उसका भान ससार के साधारण लोगो को नहीं होता है। विनोबा जैसा ही कोई व्यक्ति जन-जन को चेतावनी देने के लिए उठ खड़ा होता है। जब कभी भूकम्प शुरू होता है, तो प्रारम्भ मे हरएक को उसका भान नहीं होता। शुरू में जमीन थोडी-थोडी हिलती है, तब तक भी लोगो को भान नहीं होता है। लेकिन जब एक आदमी समझकर घर के बाहर निकल आता है और चिल्लाना शुरू करता है, तब बाद मे उसकी पुकार को सुनकर तथा भूकम्प को देखकर दूसरे लोग भी बाहर निकल आते हैं। जो व्यक्ति पहले बाहर आता है, उसे कोई त्यागी नहीं कहता। उसी तरह वर्ग-विषमता के कारण आज जिस तूफान के आसार दिखाई दे रहे हैं, उसे देखकर हम घर से बाहर निकल आये हैं, यह कोई हमारा त्याग नहीं है। केवल हमने समझदारी की बात की है।

आज हमने सालभर तक गॉव-गॉव के घर-घर मे घूमने का सकल्प किया है। वह केवल इस समझदारी को सब तक पहुँचाने के लिए है। हमारे भाई-बहन और बच्चे आपके यहाँ जायँगे और युग की मॉग आपके सामने रखेगे। गाधीजी ने देश को जो मत्र दिया है, जिसके अनुसार विनोबा आज देश में काम कर रहा है, वह मत्र सामाजिक विषमता,और शोषण के निराकरण का है। वह पूँजीवाद को समाप्त कर श्रमवाद को प्रतिष्ठित करने का मन्त्र है। सामाजिक जीवन को पूँजी के आधार पर से

उठाकर श्रम के आधार पर टिकाना है। इसलिए हमने अपने विश्वविद्यालय का नाम 'श्रमभारती' रखा है, क्योंकि विश्वविद्यालय का आधार पूँजी नहीं है, श्रम है। आज तो केवल श्रमभारती ही नहीं, हमारा सारा आन्दोलन ही सञ्चित निधि से मुक्त हो गया है। श्रमभारती तो इस आन्दोलन का छोटा-सा वाहन मात्र है। तब यह सवाल उठता है कि हम जो अपने को क्रान्ति का वाहन मानते हैं, उनका गुजारा कहाँ से हो। सम्पत्ति से या श्रम से? सम्पत्ति चाहे सरकार की हो, गाधी-निधि की हो या आप सबके घर-घर के बटुए और तिजोरी की हो, वह सचित निधि ही है, अर्थात् श्रमिक के श्रम से कमाया हुआ मुनाफा रूपी धन ही है। हम जो श्रम-प्रतिष्ठा की दीक्षा लेकर निकले हैं, क्या इसी सचित-निधि के आश्रित होकर जियेंगे? अगर ऐसा किया तो हमारी क्रान्ति टूटेगी। हम सब कमजोर मनुष्य है। हम भीष्म और द्रोण जैसे शक्तिशाली और सकल्पनिष्ठ नहीं है। भीष्म और द्रोण को आजीवन पाण्डुओं के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी दुर्योधन के आश्रित होने के कारण कुरुक्षेत्र मे कौरवो की ही ओर से लडना पडा था। तब हमारे जैसे कमजोर मनुष्य अगर पूँजी-आश्रित जीवन-यापन करते रहेंगे, तो बावजूद श्रम-प्रतिष्ठा की आकाक्षा के श्रम और पूँजी के कुरुक्षेत्र मे क्या हम श्रम के साथ रह सकेंगे? इसलिए हमने सोचा है कि हमारा परिवार इस यात्रा मे श्रम-आधारित ही रहे।

वैसे तो आप हमारे परिवार के लोग है और आपके घर टिकते समय हम सहज ही आपके साथ खाना खायेंगे, पर गुजारे मे भोजन ही तो एकमात्र मद नहीं है? दूसरी भी मदे है। उनके लिए हम आपसे न सम्पत्तिदान मॉगेंगे, न दूसरी ही किसी सचित-निधि से मदद मागेंगे। हम आपके खेतो में मजदूरी करना चाहेंगे। चैत का महीना आ रहा है। मजदूरों से आप अपनी रबी की फसल की कटनी कराते हैं। हमे विश्वास है कि आप हमे उस काम के लिए लगायेंगे और हमारे परिवार को मजदूरी देंगे। आपको हमसे प्रेम है, तो आपका श्रमदान भी हम ले लेंगे।

अर्थात् आप भी दो-तीन दिन हमारे साथ बैठकर कटनी मे हमारी मदद कर दे। यह मदद हमारे विचार के लिए मत-दान ही होगा।

अभी आप कल से राजनैतिक पक्षो के उम्मीदवारो को वोट देने निकलेंगे। हम कोई राजनैतिक पक्षवाले नहीं है। हमारा लोकनैतिक पक्ष है, क्योंकि हमारा काम राज से चलनेवाला नहीं है। लोगों से चलनेवाला है। इसलिए हम आपसे वोट मॉगने नही आते है। राजनैतिक पक्षो का चुनाव-आन्दोलन आज समाप्त होता है, तो हमारा लोकनैतिक पक्ष का चुनाव-आन्दोलन आज से आरम्भ होता है।

इस चुनाव मे मै निर्विरोध खडा हूँ। राजनैतिक चुनाव मे जो निर्विरोध खडा होता है, उसे एक भी वोटर पूछता नहीं। यानी कोई उसके लिए वोट देने नही जाता है। लेकिन इस चुनाव मे जो निर्विरोध खड़ा होता है, उसे हर वोटर वोट देने आता है। अतएव मै आज आपसे वोट की मॉग करना चाहता हूँ। साल मे खरीफ या रवी के अवसर पर आप हमे तीन दिन कटनी करके श्रमदान कर दे। तीन दिन का श्रमदान हमारे लिए एक वोट होता है।

हम जब कहते है कि हम खादीग्राम विश्वविद्यालय श्रमदान से चलाना चाहते हे, तो बहुत-से मित्र हमे पागल कहते है। वे कहते है कि इतना वडा काम आप श्रमदान से कैसे चलायेंगे? उसके लिए गाधी-निधि या सरकार से मदद लेनी चाहिए। आखिर श्रम की ताकत ही क्या है? मुझे ऐसे की बुद्धि पर तरस आता है!

आखिर सरकारी कोष और गाधी निधि क्या चीज है? श्रमिको के श्रम मे से कुछ मुनाफा आप लोगो की पेटी मे पहुँचता है और उसमे से कुछ टुकडे बटोरकर गाधी-निधि या सरकारी कोष वनता है। इस टुकडखोर सम्पत्ति में शक्ति है और सम्पत्ति के मूल स्रोत भूमि मे शक्ति नहीं है, ऐसा कहनेवाला पागल है या मैं पागल हूँ।

यह तो ऐसी ही वात हुई कि कोई व्यक्ति गमछा और कपडा लेकर नदी में स्नान करने के लिए जाता हो और दूसरा व्यक्ति उससे यह

कहता हो कि नदी मे काफी पानी नही है, आप चलिये, मेरे गुसलखाने मे। वहॉ चहबच्चा भरा हुआ है।

तो मै इस जिले के हर वोटर से वोट मॉगता हूँ। सब लोग साल मे तीन दिन कटनी करके हमे श्रमदान करे। राजनीति के वोटरो से हमारे वोटरों की सख्या अधिक है। २१ साल की उम्र से पहले उनके वोटर नहीं बन सकते। पर जब से हॅसिया पकडना सीखते है, तब से लोग हमारे वोटर होते है। अर्थात् सात साल से साठ साल की उम्र तक के सभी लोग हमारे वोटर हैं। इस जिले की जन-सख्या २८ लाख है। उसमे से २० लाख हमारे वोटर है। ये २० लाख वोटर जब हमे साल मे तीन दिन का समय देगे, तो खादीग्राम ही क्यो, मै आपके जिले के २७ थानो मे २७ श्रमभारती-केन्द्र बनाकर चला दूँगा।

श्रमभारती-परिवार के भाई बहन इस जिले के गॉव-गॉव और घर-घर वोट मॉगेगे। जिले के तीन हजार गॉवो मे हमारे बक्से रहेगे। हर गाँव के लिए एक-एक पोलिग एजेण्ट चाहिए, जो गॉवभर के मत संग्रह करके उन्हे पेटी मे डाले। हर गॉव मे हमारे जो प्रेमी भाई-बहन है, वे अपना नाम पोलिग एजेन्सी मे लिखाने की कृपा करे।

इसका मतलब यह नही कि हम आपसे सम्पत्तिदान नहीं मॉगेगे। मॉगेगे जरूर, लेकिन अपने लिए नही, बल्कि उन साधनहीन श्रमिको के लिए, जिन्हे आप जमीन दे रहे हैं। सदियो से हम लोग उनके श्रम से गुजारा करते आये है। उनकी अरबो-खरबो की सम्पत्ति हमने अलग-अलग रूपो से लेकर भोग ली है और भोग रहे है। सम्पत्तिदान-यज्ञ उन्हींके धन का थोडा हिस्सा उन्हे ही वापस देने की कोशिश मात्र है। अतः सम्पत्तिदान से साधनहीनो को सामान देने का कार्यक्रम चलेगा। मुझे विश्वास है कि इस जिले के भाई-बहन इस यज्ञ मे उत्साहपूर्वक आहुति देगे।

अब मै फिर से एक बार अपने परिवार की इस क्रातियात्रा के लिए आप सबका आशीर्वाद चाहता हूँ।"

सभा के बाद श्रम-भारती-परिवार के सब लोगों ने अपना-अपना सामान उठा लिया और सब लोग यात्रा पर निकल पड़े। उस समय का दृश्य देखने लायक था। सारी जनता के नेत्र आँसुओं से तर थे। अत्यन्त समारोह के साथ वहाँ की जनता ने पथिकों को विदा किया। नवबाबू के साथ हम लोग अगले पड़ाव तक गये, फिर वापस चले आये। इस प्रकार सन् '५७ का वर्ष पद-यात्रा का ही वर्ष रहा। ● ● ●

केन्द्रीय दफ्तर काशी में

श्रमभारती, खादीग्राम
२६-१२-'५८

सन् '५७ की पदयात्रा के कारण सर्व-सेवा-सघ का प्रधान दफ्तर खादीग्राम लाया गया, ऐसा दिखाई देता है, लेकिन खादीग्राम के निवासो का खाली होना दफ्तर लाने का विशेष कारण नहीं था, वह तो एक उपलक्ष्य मात्र था। वस्तुत· दफ्तर आन्दोलन की प्रवृत्तियो के बीच रहे, यह विचार १९५४ में बोधगया-सम्मेलन के समय मे ही होता आ रहा है। बिहार मे दफ्तर लाने के सुझाव का भी कारण यही था, ऐसा विनोबाजी ने बताया था। उन्होने कहा था कि आन्दोलन से अलिप्त और दूर रहकर दफ्तर की ओर से विशेष सेवा नहीं पहुँचायी जा सकेगी। दफ्तर को भी आन्दोलन का विचार तथा प्रेरणा नही मिल सकेगी। इसलिए दफ्तर बोधगया आये, ऐसा निर्णय हुआ था। बाद को यह तय हुआ कि मुख्य दफ्तर वर्धा ही रहे, आन्दोलन का दफ्तर 'गया' आ जाय। उसी सम्मेलन मे मेरे अध्यक्ष होने के कारण दफ्तर की जिम्मेदारी भी मुझ पर ही पडी।

केन्द्रीय दफ्तर का प्रश्न

सम्मेलन के बाद मैं खादीग्राम वापस आ गया। कुछ दिन बाद दफ्तर की रूपरेखा पर विचार करने के लिए सभी साथी खादीग्राम पहुँचे। दो दिन तक चर्चा चलती रही। चर्चा के मध्य मित्रो का यह परामर्श रहा कि वर्धा से दफ्तर इसलिए हटाया जा रहा है कि वह विचार तथा प्रवृत्तियो के साथ सम-रस हो सके, तो क्या यह ठीक नहीं होगा कि दफ्तर खादीग्राम मे ही रखा जाय। खादीग्राम का तो जन्म ही आन्दोलन के नक्षत्र के साथ जुडा हुआ है। यहाँ का जीवन तथा

वातावरण वैचारिक भूमिका की बुनियाद पर बने, ऐसी कोशिश हो रही है।

लेकिन उस समय मैंने इसे ठीक नहीं समझा। खादीग्राम में श्रम के आधार पर एक विशिष्ट जीवन-पद्धति का प्रयोग चल रहा था, वह समय प्रयोग के आरम्भ का ही था। थोडे लोग थे। किसी जीवन-पद्धति के प्रयोग के प्रारम्भ में ही दफ्तर-प्रवृत्ति को जोड देना इष्ट नहीं होगा, ऐसा मैं मानता था। दफ्तर का काम ऐसा है कि कई तरह के लोगों को उसमे शामिल करना पडता है। फिर हमारा दफ्तर, चरखा-सघ आदि सभी पुरानी सस्थाओ का सम्मिलित दफ्तर था। उसके कार्यकर्ता आन्दोलन का विचार तथा सन्दर्भ लेकर शामिल नहीं हुए थे। अतएव उनके जीवन मे पुराना सस्कार और पुरानी परिपाटी घर किये हुए थी। ऐसी हालत में दफ्तर-प्रवृत्ति और खादीग्राम का प्रयोग एक साथ मिला देने से शायद प्रयोग का काम आगे न बढ सके, ऐसी आशका थी। इसलिए मैंने साथियो से कहा कि फिलहाल खादीग्राम के प्रयोग को अलग रखो और दफ्तर गया मे ही रहने दो। बाद में यदि कभी ऐसी परिस्थिति आये, जिसमे दोनो को मिलाने से आगे बढने की सम्भावना हो, तो देखा जायगा।

सन् '५७ में जब ऐसा प्रसग आया, तो यद्यपि पुरानी बात के सिलसिले से निर्णय नहीं हुआ, फिर भी निर्णय वही हुआ, जो सब लोग पहले चाहते थे। दफ्तर खादीग्राम मे आ जाने से, काफी गया से खादीग्राम कार्यकर्ताओं के चले जाने के कारण शुरु में कठिनाइयाँ हुई लेकिन कुल मिलाकर लाभ ही हुआ। श्रम का अभ्यास हुआ, खादीग्राम के भीतरी वातावरण तथा आस-पास के गाँवो के श्रमदान, ग्राम निर्माण तथा ग्राम-सम्पर्क से उनके भीतर वैचारिक भूमिका बनी। जो नये आये, वे वहाँ के जीवन-क्रम तथा विचार के आधार पर ही शामिल हुए। धीरे-धीरे उत्पादक श्रम के लिए निष्ठा भी बढती दिखाई देने लगी। ऐसा लगा कि अब दोनों को मिलाकर चल सकेगा।

इसलिए मैने दफ्तर और श्रम-भारती को अलग न रखकर मिला दिया और खादीग्राम को सर्व-सेवा-सघ के प्रधान केन्द्र के रूप मे सगठित करने मे लग गया।

सर्व-सेवा-सघ का प्रधान केन्द्र खादीग्राम होने से दफ्तर मे आने-वाले पर भी अच्छा असर होता था। प्रधान केन्द्र मे शिक्षण तथा अन्य प्रवृत्तियो का चलना आस-पास के देहातो मे ग्रामदान तथा ग्राम-निर्माण के वातावरण का होना सघ की दृष्टि से लोगो के लिए एक अच्छा प्रभाव डालनेवाला हुआ। इससे तुम सबको काफी सन्तोष हुआ। लेकिन खादीग्राम को प्रधान केन्द्र बनाने से दिक्कतें भी काफी बढ गयी। डाक-तार की कोई व्यवस्था न होने से दुनिया से हमारा सम्पर्क नहीं के बराबर हो गया। कभी-कभी तार भी एक सप्ताह के बाद पहुँचता था। इस बीच ऐलवाल-सम्मेलन के कारण सरकारी विकास-योजना के साथ सहयोग का कार्य-क्रम भी चल निकला। इससे कठिनाई और भी ज्यादा बढ़ गयी। इससे साथियो को बहुत तकलीफ होने लगी। पत्रो के उत्तर बहुत देर से पहुँचने के कारण सब जगह असन्तोष बढने लगा। इन तमाम परेशानियो के कारण आखिर मे यही निर्णय हुआ कि दफ्तर किसी मध्यवर्ती स्थान मे रखा जाय। इस निर्णय के अनुसार अगस्त १९५८ मे दफ्तर काशी लाया गया।

खादीग्राम से काशी

सहूलियत की दृष्टि से दफ्तर को बनारस मे रखने का निर्णय तो किया, लेकिन मुझे इससे समाधान नही हुआ। मै मानता हूँ कि ऐसे क्रान्तिकारी आन्दोलन का दफ्तर पुराने ढग से केवल दफ्तर के रूप में नहीं रहना चाहिए। वस्तुत. जब सर्व-सेवा-सघ ने आन्दोलन के मार्गदर्शन की जिम्मेदारी अपने ऊपर उठायी, तो उसके प्रधान केन्द्र का स्वरूप ही आन्दोलन के लिए प्रेरणादायी होना चाहिए। बापू ने चरखा-सघ के बारे मे कहा था कि हमारे केन्द्र विचार के द्योतक होने चाहिए। उन्होने

अहिंसक वातावरण का प्रश्न

मुसोलिनी के घर का उदाहरण दिया था। उन्होंने कहा था कि वे जब विलायत गये थे, तब रास्ते मे मुसोलिनी से मिलने का उन्हें अवसर मिला था। उनके घर के फाटक से लेकर बैठक तक, जहाँ तक दृष्टि जाती थी, व्याघ्राम्बर और बन्दूक-तलवार आदि शस्त्रास्त्रो की ऐसी शृखला थी कि वहाँ प्रवेश करते ही लगता था कि यहाँ पर हिंसा का वातावरण है। बापू का कहना था कि उसी तरह हमारे केन्द्र का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिससे आगन्तुको के मन में हमारे विचार का उद्बोधन हो सके। खादीग्राम मे अगर प्रधान केन्द्र रह सकता था, तो सर्व-सेवा-सघ के प्रधान की हैसियत से हम बापू के उस कथन को चरितार्थ कर सकते थे। लेकिन हम ऐसा कर नहीं सके। इसे मैं अपनी असफलता मानता हूँ। सामान्य सहूलियत के कारण वैचारिक प्रयोगो को आसानी से छोड देना कमजोरी ही है। लेकिन हुआ ऐसा ही। सर्व सेवा-सघ में मैं अकेला ही व्यक्ति नही हूँ—ऐसे सघो मे सामूहिक निर्णय ही असली चीज हैं। यह भी सामूहिक निर्णय ही था और विनोबाजी की राय भी थी, इसलिए इसे अपनी असफलता मानते हुए भी मुझे असन्तोष नही हुआ। ● ● ●

पद-यात्रा की फलश्रुति

: ४ :

वाराणसी
१-१-'५९

सन् १९५७ मे हमारे साथी सालभर की पद-यात्रा के लिए सपरिवार निकल पडे। विदाई के समय मैने कहा था कि जिसका दिल भर जायगा, उसे मै वापस ले आऊँगा। मेरे इस कथन की साथियो को याद रही। वे जल्दी से दिल भरने का परिचय नहीं देना चाहते थे। लेकिन कुछ बहनो का स्वास्थ्य खराब होने लगा, तो उन्हे वापस बुलाना पडा। छोटे बच्चों के कारण पदयात्री-टोलियो को तथा गॉव मे प्रबन्ध करनेवालो को कठिनाई होने लगी, तो उन्हे भी वापस बुलाया। फिर बरसात के दिनो में सभी बहनो और बच्चो को वापस बुला लिया। वस्तुत. बरसात के दिनों मे देहात की पद-यात्रा अत्यन्त कठिन काम है। शायद इसीलिए पुराने जमाने मे परिव्राजकों ने चातुर्मास्य की परिपाटी चलायी होगी। वे बरसात के दिनो मे किसी एक स्थान पर ही रहते थे।

जो लोग यात्रा मे रहे वे जन आधारित हो, ऐसा तय किया गया था। फिर भी तेल-साबुन आदि की कुछ व्यवस्था सघ की ओर से थी।

पदयात्रा के अनुभव

लेकिन यात्रा मे और भी अनेक खर्च होते थे, जिनको स्थानीय जनता पूरा नही कर सकती थी। जनता मे शक्ति नहीं है, ऐसी बात नहीं, बल्कि स्थानीय कार्यकर्ताओ की कमी के कारण यह असमर्थता प्रकट होती थी। इस खर्चे को साहित्य-बिक्री के कमीशन तथा श्रम की कमाई की रकम से पूरा किया जाय, ऐसा सोचा गया। श्रम की कमाई के लिए विकास-योजना के बॉध, तालाब आदि मे काम करना ज्यादा सुविधाजनक था। इसलिए हमारे साथी बीच-बीच मे ऐसे काम भी उठा लेते थे।

इससे खर्च की रकम की कमाई तो अत्यन्त गौण थी। ऐसी योजनाओं को लेने का असली लाभ यह था कि श्रम-प्रतिष्ठा के विचार के साथ-साथ वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की प्रक्रिया दर्शाने का अवसर मिलता था। ऐसी योजनाओं मे स्थानीय लोग हमारे श्रम को मान्य करते थे और काफी तादाद मे शामिल भी होते थे। इस तरह श्रम-आधारित पदयात्रा का अनुभव लेते हुए हमारे साथी आगे बढते रहे।

बड़े परिवार में प्रवेश

यात्रा चलती रही। भाई राममूर्ति को समाज-विज्ञान का अच्छा अनुभव था, अच्छा अध्ययन था। तीन साल खादीग्राम मे रहकर जो अनुभव हुआ और आन्दोलन के बीच रहने से विचार की जो पुष्टि हुई, उससे उनमे विचार समझाने की अच्छी क्षमता आ गयी थी। फलतः पद-यात्रा के दौरान मे जनसभाओं मे जो भाषण करते थे, उनकी शोहरत दिन-दिन बढती गयी। ठीक चुनाव के दिनों में पद-यात्रा न हो, ऐसी सलाह बहुत-से मित्रों ने दी थी, लेकिन हमने मान लिया था कि चुनाव के कारण आरोहण की प्रक्रिया मे हेर-फेर करने का मतलब है कि चुनाव मे निरपेक्षता नही है। इसलिए हमने चुनाव के बावजूद पद-यात्रा जारी रखी। उससे लाभ ही हुआ। चुनाव की गन्दगी तथा उसकी होड द्वारा उत्पन्न परेशानियो के कारण जनता पक्षनिष्ठ सार्व-जनिक कार्यकर्ताओं से ऊबी हुई थी। उस समय चुनाव की स्मृतियाँ ताजी थीं। परेशानियाँ बनी हुई थीं। जब जनता यह देखती थी कि ये लोग किसी पक्ष मे नही हैं, किसीकी निन्दा नहीं करते, बल्कि एक रचना-त्मक विचार दे रहे है और साथ ही उसके लायक हलका कार्यक्रम भी बता रहे है, तो उसका आकर्षण हमारी ओर सहज ही बढ जाता था। खादीग्राम मे रहते श्रम के आधार पर हम जो कुछ सार्वजनिक सेवा करते थे, उसके बारे मे जिले के लोग कभी कभी सुना करते थे। सन् '५५ के अन्त मे जो ग्राम-राज-सम्मेलन हुआ था, उससे खादीग्राम की शोह-रत कुछ बढी थी। अब जब हमारे काम का ढग जनता ने देखा तथा

विचारो का विवेचन सुना, तो उसे बडा सन्तोष हुआ। हर पडाव पर दो दिन टिकने की परिपाटी रखने के कारण तथा घरो मे बॅटकर भोजन करने से लोगो से आत्मीयता भी बढी। इन तमाम कारणो से बरियारपुर-सम्मेलन की जन-सभा मे कही हमारी यह बात काफी हद तक सार्थक होती थी कि हम अब अपने बडे परिवारो मे प्रवेश कर रहे हैं।

पद-यात्रा से हमे एक और लाभ मिला। हम रचनात्मक कार्य-कर्ताओ से पक्ष-निरपेक्ष रहने के लिए कहते हैं। पक्ष-निरपेक्षता दो तरीको से सध सकती है—हरएक पक्ष को अलगाकर या अपना-कर। १९५५ मे एक माह मैने कलकत्ता में बिताया था, उसका विवरण लिख चुका हूॅ। उन दिनो मे सर्वोदय के कार्यकर्त्ताओ की बैठको मे जाता था, तो सुनता था कि वे अपने को निर्दलीय पक्ष का कहते थे। मैने उसी समय उन्हे बताया था कि सर्वोदय अगर सबका उदय यानी सबका शुद्धीकरण चाहता है, तो उसको निर्दलीय न बनाकर सर्वदलीय बनाया जाय। इस सदर्भ मे भी पद-यात्रा से हम लोगो को लाभ हुआ। दिसम्बर '५५ मे 'ग्राम-स्वराज्य-सम्मेलन' के अवसर पर खादीग्राम के एक ही मच पर जब सभी पक्षो के लोग समान कार्यक्रम पर सहमति प्रकट कर रहे थे, तब सामने बैठा हुआ, जिलेभर का विराट् जनसमूह सर्वोदय के सर्वदलीय स्वरूप को देखकर गद्गद हो रहा था। आज जब उसी सर्वोदय के मुट्ठीभर सेवक गॉव-गॉव में घूमकर सर्वोदय का विचार-प्रचार कर रहे थे, तब उन्हे हर पक्ष के लोगो का प्रेम मिल रहा था। वे सब उत्साह से सभाओ मे आते थे। भाई राममूर्ति से विचार-विनिमय करते थे और मतभेदो के रहते हुए भी काफी दूर तक सहमति जाहिर करते थे। इस प्रकार कुल मिलाकर पद-यात्रा ने मुगेर जिले मे सर्वोदय-विचार का गहरा प्रचार किया तथा व्यापक रूप से लोक सम्मति हासिल की। ग्रामीण जीवन तथा उनकी समस्याओ के साथ गहराई का सम्बन्ध और परिचय हुआ। वर्ष के अन्त मे जब सब लोग लौटे, तो उनके पास अनुभव और प्रेम की

पक्ष-निरपेक्षता

भरपूर पूँजी थी। इससे प्रत्येक साथी को आगे के जीवन के लिए यात्रा-पाथेय सग्रह करने का अवसर मिला।

सर्वोदयी मित्रों की संख्या मे वृद्धि

यात्रा की फलश्रुति मे दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह रहा कि जिलेभर सर्वोदय-प्रेमी मित्र तथा सेवक वने। हमने फरवरी '५८ मे ऐसे मित्र तथा सेवको का एक माह का शिविर करने का निर्णय किया था। यह समय किसानों की अत्यन्त व्यस्तता का था, क्योकि इन दिनो रवी की फसल कटने का मौसम शुरू हो जाता है। फिर भी शिविर मे १२५ भाई-वहनो ने भाग लिया था। शिविर मे प्रशिक्षित सेवक आगे चलकर जिले के काम की शक्ति सावित हुए।

साम्ययोगी परिवार की कठिनाइयाँ

खादीग्राम मे श्रम और साम्य का जो प्रयोग मै कर रहा था, उसका क्रम-विकास मै वता चुका हूँ। धीरे-धीरे नये लोग, नये कार्यकर्ता आने लगे और चालू परिपाटी के अनुसार साम्ययोगी-परिवार मे शामिल होने लगे। इनके शामिल होने मे परिवार के साथ पहले से किसी स्नेह-सम्वन्ध का आधार नही था। इसलिए जिस पारस्परिक स्नेह के आधार पर परिवार वना था, वह धीरे-धीरे हल्का होता गया और आखिर मे इसका रूप वहुत कुछ सस्थागत रिवाज जैसा हो गया। भावना ठीक थी, आचार भी शुद्ध रहता था, लेकिन शुरू में परिवार-भावना मे जो स्वाभाविकता थी, वह नही रही। सामूहिकता के भीतर कृत्रिमता की झलक दिखाई देने लगी, तो सहज ही मेरे मन मे यह शका पैदा हुई कि हम जो प्रयोग कर रहे है, वे वैचारिक दृष्टि से सही होने पर भी क्या सही उपादानो के द्वारा चल रहे हैं? तुम जानती ही हो कि मेरे मन मे जव कोई विचार उठता है, तो मै अपना सर्वस्व चिन्तन उसीमे लगा देता हूँ। तो उन दिनो मेरा सारा ध्यान परिवार-भावना, साम्य-योग, समवेतन आदि प्रश्नो पर जोरों से गया। क्या समविचार परिवार का आधार हो सकता है? अगर नहीं, तो कौन-से

तत्त्व पर परिवार बन सकता है? पुराने जमाने मे रक्तगत एकता के आधार पर परिवार बनता था, लेकिन रक्त का तत्त्व भी परिवार बनाने के लिए टिकाऊ नहीं साबित हुआ। फिर कौन-सा तत्त्व है, जिसके आधार पर परिवार बन सकता है? दूसरा सवाल यह खडा हुआ कि परिवार न सही, लेकिन सामूहिक जीवन तो बन सकता है। सहकार और सहभोग तो सामाजिक प्रक्रिया है, उसके लिए परिवार-भावना पैदा होना आवश्यक है क्या? परिवार-भावना का पैदा होना आवश्यक तो नहीं है, लेकिन सामाजिक सहकार तथा सहभोग के लिए भी किसी न किसी प्रकार के जुडाऊ तत्त्व की आवश्यकता तो है ही। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मेरे विचार को आलोडित करते थे। खादीग्राम के परिवार का विश्लेषण करने लगा, तो उसमे मुझे कई चीजे दिखाई पडी, जो परिवार बनाने के लिए अनुकूल नहीं थीं। पहली बात यह थी कि सब लोगो मे सम विचार नहीं था। साथी कार्यकर्ता समान आदर्श तथा विचार से प्रेरित होकर जीवन की पूर्व-परिस्थिति को छोडकर खादीग्राम मे एकत्र हुए थे। लेकिन उनके परिवार उस प्रकार के विचार और आदर्श के पीछे नहीं आये थे। परन्तु सामूहिक परिवार मे तो वे भी थे। किसी परिवार का मुख्य उपादान स्त्री होती है। खादीग्राम के परिवारो की स्त्रियों मे आदर्श तथा विचार की मान्यता न होना, एक बहुत बडी कमजोरी थी। दूसरी स्थिति यह थी कि एकआध को छोडकर बाकी सबके दो घर हो गये थे, एक खादीग्राम, दूसरा उनका पुराना घर, जहाँ से वे आये थे। लोग खादीग्राम के लिए एक दूसरे से बँधे हुए थे, लेकिन प्रत्येक की कमर पुराने घर के खूँटे से भी बँधी हुई थी। ऐसी स्थिति मे पूरे व्यक्तित्व पर खींचा-तानी की सी दशा कायम रहती थी। आदर्श और विचार उन्हे एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करते थे और कमरवाली रस्सी विपरीत दिशा की ओर खींचती थी। इस प्रकार के विभाजित व्यक्तित्व के कारण ही पारिवारिक स्वाभाविकता नहीं आ पाती थी। तीसरी बात यह थी कि खादीग्राम के जीवन मे सहकारी पुरुषार्थ की बुनियाद नहीं थी, हम

परिवारवाले अपनी जीविका के लिए परस्परावलम्बित नहीं थे। बाहर से उपभोग के लिए जो सामग्री आती थी, उसकी कोई स्वाभाविक मर्यादा नहीं थी। बाहरी सहायता से पली हुई जमात, स्वावलम्बी जमात की स्वाभाविक मर्यादा को समझ नहीं पाती है।

वस्तुतः इन तमाम परिस्थितियों के होते हुए भी हमने जो परिवार बनाने का साहस किया था, वह अत्यन्त कठिन प्रयोग था। फिर भी हमारे साथी जब उसे एक कामचलाऊ सफलता की तरह चलाने लगे, तो उससे मुझे काफी सतोष रहा। इससे देश के लोगों की प्रेरणा भी मिलती थी। पर मेरे मन को उससे पूरा समाधान नहीं था।

स्नेह और सामूहिक पुरुषार्थ

काफी सोचने पर मुझे लगता था कि कुटुम्ब-भावना के लिए कम-से-कम दो चीजे तो आवश्यक हैं। पहला स्नेह-तत्त्व, दूसरा सामूहिक पुरुषार्थ की बुनियाद, जो जीविका के साथ जुडी हो। प्रारम्भ मे खादीग्राम मे जो थोड़े लोग थे, उनमे दो मे से एक ही पर प्रमुख तत्त्व था। यानी उनमें परस्पर स्नेह था। यह स्नेह कुछ पूर्व-परिचय के कारण और कुछ साथ मिलकर शुरू मे कठिन जीवन बिताने के कारण बना था। बाद मे जब नये लोग बनी-बनायी सस्था की सहूलियत मे शामिल होने लगे, तो उनमें वह चीज पैदा नहीं हो सकी। मुझे ऐसा लगा कि शायद सस्था मे इन तत्त्वो का निर्माण करना सभव नही है। गॉव की स्थिति और सस्था की स्थिति मे अन्तर होगा ही। गॉव मे रहनेवालो के दो घर नहीं होते। आज की पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के बावजूद जीवन-सघर्ष के लिए काफी हद तक पराम्परावलम्बन की आवश्यकता है। वश-परम्परा से साथ रहने के कारण स्नेह सम्बन्ध निर्माण की काफी गुजाइश होती है। ग्रामदान होने पर जब सम-विचार और सम-आदर्श कायम हो जाता है, तो सामूहिक पुरुषार्थ मे उपर्युक्त अनुकूल परिस्थिति मिलकर कुटुम्ब-भावना का अवसर निर्माण कर देती है। ऐसा सस्थाओ मे नही होता।

यद्यपि उन दिनो मेरे दिमाग को इन उपर्युक्त विचारों ने आलोडित

कर रखा था, फिर भी खादीग्राम के प्रयोग को प्रेरणादायी मानकर चलाता था। लेकिन मन मे रह-रहकर यही विचार आता था कि इस प्रकार के सामाजिक प्रयोग गॉव की स्वाभाविक जलवायु मे ही सफल हो सकते है, इसलिए साथियो को खादीग्राम से निकलकर ग्रामीण जनता में विलीन होने के लिए कहता रहता था।

निराशा का वातावरण

पदयात्रा मे जो बहने और बच्चे थे, वे जुलाई मे खादीग्राम आ गये थे। यहॉ बच्चो के शिक्षण की व्यवस्था न होने के कारण यहॉ की लडकियो को महिला-आश्रम भेज दिया। बाहर के बच्चो को उनके घर भेज दिया। छोटे बच्चो के शिक्षण की व्यवस्था कर ली। बड़े लडकों को पदयात्रा में ही छोड दिया। यहॉ केवल बहने ही रह गयी थी। खादीग्राम के जीवन मे काफी ढिलाई आने लगी। साथियो की विचार-निष्ठा के कारण जो कृत्रिमता दबी रही थी, वह उनकी अनुपस्थिति मे उभडने लगी। गया से दफ्तर भी यहॉ आ जाने के कारण अधिकाश कार्यकर्ताओ मे भी वह विचार-निष्ठा नहीं रही। इस तरह खादीग्राम के परिवार मे विचार-निष्ठ कार्यकर्ताओ की पत्नियॉ और अनेक प्रकार की भावनाओवाले कार्यकर्ता रह गये। स्पष्ट है कि ऐसी जमात मे साम्य-योग, परिवार-भावना आदि की चेष्टा निष्फल होनी ही थी। परम्परा के कारण चीजे वे ही रहीं, लेकिन वे निर्जीव थीं। इसलिए १९५७ मे खादीग्राम के जीवन का नैतिक स्तर बहुत गिर गया, जो अन्त-अन्त तक बना रहा। बाहर से जो कोई आता, वह मेरे पास अपना असन्तोष प्रकट करता और सुझाव देता कि इसके लिए कुछ कीजिये। "हम लोग बहुत बड़ी प्रेरणा की आशा से आपके यहॉ आते है, लेकिन यहॉ की स्थिति देखकर हमे बहुत निराशा होती है।" मै उन्हे वस्तुस्थिति का भान कराता था, लेकिन इससे उन लोगो को कैसे समाधान होता ? ऐसी ही परिस्थितियो मे १९५७ का वर्ष समाप्त हो गया और सन् १९५८ की पहली जनवरी को क्रान्ति-यात्रा से लोग लौट आये।

० ० ०

सम-वेतन और साम्य-योग की साधना : ८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
१८-१-'५९

भूदान-आन्दोलन विषमता-निराकरण का आन्दोलन है। हम सब लोग इसका प्रचार करते हैं और देशभर मे गाधीजी के बताये कार्यक्रम को चलानेवाली रचनात्मक सस्थाओं मे काम करनेवाले लोग भी ऐसा ही कहते रहते हैं। लेकिन हमारे सारे समाज मे एक बडी विसगति है। हम जिन सस्थाओ मे रहते हैं, जहॉ काम करते हैं, जिनके माध्यम से विषमता निराकरण का सन्देश फैलाते हैं, उन्ही सस्थाओ मे इतनी अधिक विषमता का आधार बना रहता है कि जनसाधारण को भी वह दिखाई देता है। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि ये सस्थाऍ समता की क्रान्ति की कोख में से नहीं जनमी थीं, तो इनसे समता की अपेक्षा क्यों की जाय? यद्यपि इनकी स्थापना बापू की प्रेरणा से हुई थी, फिर भी इनका सगठन राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर हुआ था। सामन्त-वाद को माननेवाला या पूँजीवाद का समर्थक भी स्वातन्त्र्य-सग्राम का सैनिक बन सकता था, इसलिए स्वातन्त्र्य-सग्राम के लिए स्थापित संस्थाऍ यदि समता का आधार नहीं रखतीं, तो उसमे एतराज भी क्या हो सकता है? पिछले पचीस सालो मे सस्थाओ की विषमता पर किसीने कुछ टीका भी नहीं की है, क्योकि किसीको उसमे किसी भी प्रकार की कोई विसगति नहीं दिखाई देती थी। परन्तु जब से भूदान-आन्दोलन शुरू हुआ, विनोबा समता की वाणी लेकर देशभर मे घूमने लगे तथा पुरानी रचना-त्मक सस्थाऍ उस वाणी का वाहक बनने लगीं, तब से सस्थागत विषमता लोगों को खटकने लगी। सस्था के बाहर और भीतर असन्तोष भी बढने लगा।

गाधी-आश्रम, उत्तर-प्रदेश का वार्षिक सम्मेलन मेरठ मे हो रहा था। अपनी परिपाटी के अनुसार गाधी-आश्रम ने उत्तर-प्रदेश के सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओ को आमन्त्रित किया था। एक सदस्य के नाते मै भी वहाँ मौजूद था। काफी अरसे से बाहर रहने के कारण मै इन दिनो आश्रम के कामो से अलग हो गया था, लेकिन इस बार के सम्मेलन मे मुझे बोलना पडा। मैने देखा कि सम्मेलन मे आश्रम के कार्यकर्ता तथा बाहर के लोग वेतन-विषमता पर उत्कट टीका कर रहे हैं। वे आश्रम के सचालको को परेशान भी कर रहे थे। मैंने शिकायत करनेवालो से पूछा "आप आश्रम मे झाड़ू लगानेवाला रखते है, कुछ दूसरे मजदूर भी रखते हैं, शायद घर पर भी मजदूर रखते होगे, लेकिन अगर मै आपसे कहूँ कि आप क्यो नही उनके बराबर मजदूरी लेते, तो आप तुरन्त जवाब देगे कि आपकी योग्यता या कार्य-क्षमता उनसे अधिक है। आप कहेगे कि 'मै बौद्धिक काम करता हूँ, इसलिए मैं अधिक लेता हूँ', तो आपसे अधिक बुद्धि रखनेवाला या अधिक योग्यता रखनेवाला व्यक्ति अधिक लेता है, तो एतराज क्यो करते हैं ?" इतना कहकर मैंने उनके सामने समता और क्षमता की दो विचारधाराओ का जिक्र किया। मैने कहा कि पहले मनुष्य क्षमता का कायल था और आज भी आप उसीके कायल हैं, तो जब सस्थाएँ उसके अनुसार ही अपनी वेतन-मर्यादा रखती हैं, तो आपको एतराज नहीं होना चाहिए।

वेतन-विषमता का प्रश्न

सस्थाओ के स्वरूप तथा शिकायत करनेवालों की मनोभावनाओ के सन्दर्भ मे मैने जो कुछ कहा, सही कहा। लेकिन प्रश्न यह है कि पिछले पचीस-तीस साल से सस्थाओ के स्वरूप ऐसे ही होने पर भी लोगों मे असन्तोष नहीं था, पर आज क्यो हो रहा है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वह यह कि जमाना बदल गया है। इस जमाने मे मनुष्य विषमता बर्दाश्त नहीं कर सकता। भारत मे ही नहीं, सारी दुनिया में आज समता का नारा बुलन्द है। फिर जिन सस्थाओ का दावा यह है कि वे बापू के

स्वप्न के अनुसार अहिंसक समाज-रचना करने के लिए आगे बढ़ रही है, उनसे जनता को अगर विशिष्ट अपेक्षाएँ हों, तो उसमे आश्चर्य क्या है। इस युग मे जब विनोबा कहते है कि सारी उत्पत्ति की जननी भूमि का समान वितरण किया जाय और गॉव-गॉव मे यह सन्देश फैला रहे है, तो इसका मतलब है कि वे साधारण जनता को साम्यधर्म की दीक्षा दे रहे हैं। साधारण जनता के लिए जितना धर्माचरण अपेक्षित है, निःसन्देह उस धर्म के पुरोहित के लिए उससे ऊँचे आचरण का विधान होगा। तो यदि गाधीवादी रचनात्मक सस्थाएँ साम्यधर्म के पौरोहित्य का दावा करती है, तो उनके आचरणो का प्रकार क्या होगा, यह तुम समझ ही सकती हो। यही कारण है कि हमारी सस्थाओं के बारे मे आज देशभर को असन्तोष है।

विनोबा इस परिस्थिति को देख रहे थे। वे रह-रहकर कार्यकर्ताओ से कहते थे कि सस्थाओ मे साम्ययोग का कोई-न-कोई कदम उठाना चाहिए। तुम लोगो को मालूम ही है कि ये अपने द्वारा सस्थापित ग्राम-सेवा-मण्डल के लोगो को बार-बार समवेतन की नीति अपनाने को कहते थे, लेकिन दुर्भाग्य से अभी तक वहॉ कार्यान्वित नहीं हो सका। बिहार के लक्ष्मी बाबू अग्रगामी विचार के लिए हमेशा मुस्तैद रहते थे। सन् १९४५ मे जब बापू ने चरखा-सघ के नवसस्करण की बात की थी, तब लक्ष्मी बाबू ही, जो उस समय बिहार चरखा सघ के मन्त्री थे, सबसे पहले आगे बढ़े। सन् १९४८, ४९ मे जब मै केन्द्रित-उद्योग बहिष्कार की बात करता था और मेरे जैसे छोटे कार्यकर्ता की बात होने के कारण वह बोली मुँह से निकलते-निकलते ही सूख जाती थी, तो वह लक्ष्मी बाबू ही थे, जिन्होने बिहार मे उस आन्दोलन को अपनाया। १९५५ मे जब मैंने तन्त्रमुक्ति की बात शुरू की थी, तब बावजूद इसके कि हमारे सभी साथी उस विचार के खिलाफ थे, लक्ष्मी बाबू ने कहा कि यह बिल्कुल सही रास्ता है और सबसे पहले खुद तन्त्रमुक्त होकर आन्दोलन चलाने की बात की। आज लक्ष्मी बाबू नहीं हैं। उनकी बाते रह-रहकर याद आ

रही है। वे होते तो कम-से-कम बिहार में चालीसगाँव के प्रस्ताव से आन्दोलन को सर्वजन-आधारित बनाने का विचार चला, उसका रूप कुछ और होता। अब तक लक्ष्मी बाबू ने बिहारभर में तूफान मचा दिया होता। खादीग्राम के साथियों को सर्वजन-आधार पर सेवा करने का मार्ग निकालने में जो कठिनाई हो रही है, वह नहीं होती। लेकिन वे होते तो क्या होता, ऐसी बातें सोचने से क्या लाभ है? लाभ चाहे न हो, याद तो आती ही है।

बिहार खादी-संघ में सम-वेतन

लक्ष्मी बाबू बिहार खादी ग्रामोद्योग संघ के अध्यक्ष थे। वे अपनी संस्था में समवेतन का प्रस्ताव लाये। उनका प्रस्ताव किसीको भी मंजूर नहीं था। संस्था के मन्त्री ध्वजा भाई तथा संचालक-मण्डल के सभी अन्य सदस्य इसके खिलाफ थे। ध्वजा-भाई ने मेरी राय ली। मैंने भी खिलाफ राय दी।

तुम पूछोगी कि खादीग्राम में साम्ययोग में लगे रहने पर भी मैंने समवेतन के खिलाफ राय क्यों दी? तुम सबको मालूम है कि इस दुनिया में कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं है, हर वस्तु सापेक्ष है, यह मैं मानता हूँ। वस्तुतः मेरी इस मान्यता के कारण बहुत-से मेरे साथी परेशान रहते हैं। वे जब देखते हैं कि समान समस्या के लिए भी अलग-अलग साथियों को अलग-अलग राय देता हूँ, तो वे कभी-कभी घबड़ा भी जाते हैं। सम्भवतः कभी-कभी वे मेरी मति-स्थिरता पर भी सन्देह करने लगते हैं, लेकिन हर व्यक्ति, संस्था या राष्ट्र का अपना स्वभाव तथा स्वधर्म होता है, यह स्वधर्म और स्वभाव हरएक में अलग अलग होता है। अगर उनकी कार्य सूची इसके अनुसार न हो, तो निःसन्देह वह सफल नहीं होगा। खादी ग्रामोद्योग-संघ का भी एक स्वभाव और स्वधर्म था। राष्ट्रवादी आन्दोलन की कोख से जनमी हुई संस्था पचीस साल में प्रौढ़ हो चुकी थी। इसका स्वभाव और स्वधर्म राष्ट्रवादी होना ही स्वाभाविक था, साम्यवादी नहीं। यही कारण है कि मैंने समझा कि साम्य का विचार न पचा सकने के कारण खादी ग्रामोद्योग-संघ के कार्यकर्ता दिक्दारा

हो जायंगे। लेकिन लक्ष्मी बाबू का त्याग, उनकी तपस्या तथा संकल्प-निष्ठा असीम थी। उन्होंने अपने साथियों को समझाना शुरू किया। आखिर विनोबाजी की प्रेरणा तथा लक्ष्मी बाबू के संकल्प के फलस्वरूप खादी संघ के संचालक-मंडल ने मान लिया और वहाँ समवेतन का सिद्धान्त लागू हो गया।

समवेतन और साम्य-साधना

संस्थाओं में परिवार-भावना का निर्माण होना असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन है, यह बात मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन समाज में जब साम्य-प्रतिष्ठा की कोशिश की जा रही है, तो कोशिश करनेवाली संस्था में साम्य होना ही चाहिए, इतना मैं मानता था। अतएव यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से मैंने खिलाफ राय दी थी, फिर भी समवेतन के निर्णय से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। लेकिन समवेतन के निर्णय के साथ-साथ एक दूसरा विचार मेरे मन में उठने लगा। वह यह कि अगर संस्था में सबका समान वेतन हो जाय, तो क्या वह समाज में साम्य-स्थापना का द्योतक है? क्या उतने मात्र से हम कह सकते हैं कि हम साम्ययोग की साधना में लगे हुए हैं? किसी संस्था के लोग अगर यह निर्णय करें कि वे सबको ५००) मासिक वेतन देंगे, तो क्या इसे तुम साम्ययोग साधना मानोगी? अमेरिका में कोई संस्था अगर २०००) का समवेतन रखती है, तो उसे शायद साम्ययोग साधना कहा जा सकेगा, लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हो सकता है, तो केवल समवेतन से साम्ययोग सध नहीं सकता, यह साफ है। देश, काल तथा पात्र के अनुसार साम्ययोग का प्रकार अलग होगा। हम जिस साम्य की बात करते हैं, वह सामाजिक साम्य है न? तो कोई संस्था अगर साम्ययोग साधने का संकल्प करे, तो उसके लिए कोई वेतन-समता ही काफी नहीं है, बल्कि समवेतन का मान निर्धारित करते समय सामाजिक मान के संदर्भ को सामने रखना होगा। खादीग्राम से सटा हुआ लक्मटिया गाँव है। खादीग्राम के निर्माण के सिलसिले में वहाँ के स्त्री-पुरुष और बच्चों सबको

काम मिलता रहता है, फिर भी हम जब उस गाँव के आँकडे बटोरने लगे, तो देखा कि उस गाँव की आमदनी ३०)-४०) प्रति परिवार के बीच है। इस हिसाब से तुम उन देहातो की हालत का अन्दाज लगा सकती हो, जिसकी बगल मे कोई ऐसा निर्माण-कार्य नही हो रहा हो, जिससे गाँववालो को काफी मजदूरी मिल सके। बिहार, हिन्दुस्तान का एक गरीब प्रदेश है, यह तुम्हे मालूम है। अतएव इस प्रदेश मे अगर हम कार्यकर्ता १००) मासिक सम-वेतन का निर्णय करे, तो आज की सार्वजनिक सस्थाओ की जो स्थिति है, उसे देखते हुए विषमता-निराकरण की दिशा मे एक बडा कदम उठाना ऐसा माना जा सकता है, लेकिन अगर उसके आगे विचार न करे, तो हम साम्ययोग साधना की ओर कदम उठा रहे है, ऐसा नही कहा जा सकता। साम्ययोग साधना की ओर यात्रा है—ऐसा तभी माना जा सकेगा, जब हम कोई भी कदम उठाये वह सामाजिक परिस्थिति से अनुबन्धित हो, चाहे प्रारम्भ मे पैसे की दृष्टि से हम अधिक पैसे से शुरू करे।

सस्था का आन्तरिक विषमता-निराकरण अपनी जगह पर भारी महत्त्व रखता है। अगर देश की सभी रचनात्मक सस्थाएँ अपने अपने प्रतिष्ठान् के भीतर यह नियम बना ले, तो आज की विषमता से जर्जरित समाज के सामने एक बहुत बडा उदाहरण पेश हो सकेगा। इस कारण समाज मे जो प्रेरणा निर्माण होगी, उसकी परिणति से राज्य-सस्था पर भी असर हो सकता है। अगर वह भी वेतन समता की ओर कदम उठा सके, तो इसका देश मे बहुत व्यापक परिणाम होगा, उससे देशभर के सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोणो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। लेकिन सस्थागत विषमता-निराकरण एक चीज है और साम्य-योग साधना दूसरी चीज है। साम्य-योग साधना के लिए यह आवश्यक है कि साधक जिस समाज का नागरिक है, यानी सेवक है, उस समाज के साथ तद्रूप हो अर्थात् अपने को उसकी हैसियत मे शामिल करे या उसकी स्थिति को अपने बराबर कर सके।

बिहार खादी ग्रामोद्योग-संघ के लोगों ने समवेतन का निर्णय लेकर कार्यकर्ता सम्मेलन में बोलने के लिए मुझे निमन्त्रित किया, तो मैंने उनसे कहा : "आप लोगों ने जो निर्णय किया है, वह प्रशंसनीय है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। अगर आपकी संस्था विनोबा के आन्दोलन का वाहक बनना चाहती है, तो उसे आगे बढ़कर साम्ययोग-साधना में लगना होगा।" मैंने उनसे पूछा कि डाकुओं या चोरों के गिरोह डाके या चोरी से प्राप्त सामग्री को अपने में समान वितरित कर लेते हैं, तो क्या हम उन्हें साम्य-साधक कह सकेंगे? ऐसा नहीं कह सकेंगे। आज के बाजार भाव के अनुसार एक परिवार के लिए १००) बहुत अधिक नहीं है, इसलिए उन्हें उसे कम करने की कोशिश नहीं करनी है, वरन् अपने केन्द्र के आस-पास के देहातों की सेवा इस प्रकार करनी है, जिससे उनकी आमदनी भी प्रति परिवार १००) मासिक हो जाय। इसलिए उनकी जिम्मेदारी, केवल वस्त्रोद्योग से बेकारों को काम देना नहीं है बल्कि खेती आदि सभी धन्धों में उन्नति कर तथा सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर उनके जीवन-स्तर को ऊपर उठाना है।

जनता का स्तर उठाना जरूरी

खादीग्राम में भी जब वेतन-मान की चर्चा होती थी, तब तब मैं वहाँ कहता कि 'आप उतना ही वेतन ले सकते हैं, जितना पचीस तीस साल में आस-पास की जनता को ऊपर उठा सकते हैं। अगर उनको जहाँ तक पहुँचाने का भरोसा है, उतना ही आप आज से लेते हैं और उन्हें उठाने की प्राण-पण से कोशिश करने लग जाते हैं, तभी मैं कहूँगा कि आप साम्ययोग की साधना में लगे हुए हैं, क्योंकि आपकी दिशा सामाजिक साम्य प्रस्थापित करने की ओर है।"

जिस समय मेरे दिमाग में इन्हीं विचारों की उथल-पुथल मची हुई थी, उन्हीं दिनों खादीग्राम के साथी पदयात्रा के लिए निकले। इससे फिलहाल मेरा चिन्तन संस्था के संदर्भ से हटकर गाँव के संदर्भ में चला गया। इस चिन्तन ने साम्ययोग की साधना के बारे में भी मुझे नयी बात सुझायी, जिसका उल्लेख फिर कभी करूँगा। ○ ○ ○

लखमटिया में ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी : ६ :

असभाग्नी, खादीग्राम
२१-१-'५२

पिछले कई पत्रो मे मैने खादीग्राम के प्रयोगो की चर्चा की। आज भूदान-आन्दोलन की कुछ चर्चा करने का विचार है। १९५१ में अकेले विनोबा तेलगाना के विध्वसकारी ताण्डव को शमित करने के लिए उसी प्रकार निकल पडे, जिस प्रकार बापू नोआखाली की ओर अकेले चल पडे थे। विनोबा अकेले ही थे। सर्व-सेवा-सघ भी उस समय उनके साथ नही था। लेकिन इतिहास की आवश्यकता की पूर्ति तथा विनोबा की तपस्या फलीभूत होने लगी। विचार आगे बढने लगा और ज्यों-ज्यो विनोबा का कदम आगे बढता गया, त्यो त्यो देश में वायु के वेग मे वृद्धि होती गयी। सालभर के भीतर सेवापुरी सम्मेलन के अवसर पर उन हवा ने तूफान का रूप लेकर पूरे भारत को घेर लिया।

सारे भारत की दृष्टि तो इसने आकर्षित कर ली, लेकिन आकर्षण किसके लिए था, यह लोगो की समझ मे नहीं आया। लोग आश्चर्य-चकित होकर देखने लगे, क्योकि मामला अत्यन्त अभिनव था। जिस जमीन के लिए भाई-भाई मे फौजदारी हो जाती है, उसे लोग अपने-आप छोड रहे हैं, यह कल्पनातीत बात थी। जब बापू ने जेल मे बैठकर भाई प्यारेलालजी के प्रश्नो के उत्तर मे कहा था कि लोग खुशी से अपनी जमीन छोड देगे, तो बापू के अनेक वाक्यो की तरह इस पर भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया था। लेकिन वही चीज आज हो रही है। उस समय लोगों का जो आकर्षण था, वह न विचार के प्रति था और न आन्दोलन के व्यावहारिक स्वरूप के प्रति। वह था इसके नयेपन के प्रति। वह बुद्धिजनित न होकर, आश्चर्यजनित था।

फिर विनोवा धीरे-धीरे भूदान-यज्ञ के मूल विचार को समझाने लगे, तो लोगों की बुद्धि मे बात धॅसने लगी। कुछ लोग भारत मे बढते हुए ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, भ्रष्टाचार और अनेक प्रकार की अनैतिकता के बीच इस नये नैतिक आन्दोलन का स्वागत करने लगे, कुछ लोग इसे भूमि-समस्या के हल के रूप मे देखने लगे। कुछ लोग गरीबों के लिए एक स्थायी राहत समझकर इसकी ओर आकर्षित हुए। कुछ लोग भारतीय सस्कृति का पुनरुद्धार समझकर इसे आशीर्वाद देने लगे और कुछ लोग, तो इसे विषमता तथा शोषण-निराकरण का वाहन ही मानने लगे। इस प्रकार अपनी-अपनी भावना के अनुसार लोगो ने विभिन्न पहलुओ से उसका स्वागत किया और इस ओर आकर्षित हुए। देश मे बडी आशा निर्माण हुई। इसका दर्शन हमे १९५३ के चाडिल-सम्मेलन में हुआ। १९५३ मे भूदान ने एक निश्चित राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लिया। अनेक नये तरुण और तरुणियाँ इसमें शामिल हुईं। बिहार में लाखों एकड भूदान भी मिलने लगा। धीरे-धीरे आन्दोलन को अन्त-र्राष्ट्रीय ख्याति मिली। इस तरह '५३ का वर्ष अग्रगति का साल कहा जा सकता है। '५४ मे बोधगया के सम्मेलन के अवसर पर आशा का झरना इस तेजी से बहने लगा कि उसमें से जीवनदान का नया स्रोत निकला। जयप्रकाश बाबू का जीवनदान हुआ। देश में उत्साह बढा और आगे चलकर ग्रामदान का नया विचार निकला। इस प्रकार विनोबा एक के बाद दूसरे कदम पर विजय प्राप्त करते हुए आगे बढे और अन्त मे सन् '५७ की पूर्ण आहुति ऐलवाल सम्मेलन मे सबके आशीर्वाद से हुई। देशभर मे सेवको ने पदयात्रा करके इस विचार का व्यापक प्रचार किया। गॉव-गॉव मे लोग मानने लगे कि यह होकर रहेगा।

भूदान-यज्ञ का विकास

मैं जब यह सब देखता था, तो सोचता था कि देशभर मे आन्दोलन को व्यापक मान्यता मिल गयी, अब किस चीज का प्रचार किया जाय?

तो मैंने सोचा कि निराकार की आराधना हो गयी, अब साकार प्रतिमा गढने की आवश्यकता है। कुछ ज्ञानी मनुष्य निराकार देवता की बात करते हैं, साधारण मनुष्य ज्ञानी की 'हाँ' मे 'हाँ' मिलाकर उसे मान लेते है। मान तो लेते है, लेकिन जब प्रत्यक्ष आराधना करने बैठते है, तो अधकार दिखाई देता है। वे देवता के किसी साकार रूप की खोज शुरू करते है, जब तक दर्शन नहीं होता, तब तक तसल्ली नहीं हो पाती। मै सोचता था कि अब जब क्राति का विचार एक तरह से लोगो ने मान लिया है, तो आवश्यकता इस बात की है कि हम एक कोने मे बैठकर विचार की कुछ-न-कुछ प्रतिमा गढ ले। नहीं तो आम जनता की पुष्पाजलि नहीं चढेगी। ऐसा सोचकर '५७ के आखिर मे ही मने यह बात जाहिर करनी शुरु कर दी थी। अन्त मे १९५८ की जनवरी मे जब खादीग्राम के साथी पदयात्रा से लौट आये, तो उन्हे सम्बोधित करके मैने जो भाषण किया, उसमे काफी अरसे की अपनी भावना प्रकट की।

उस भाषण मे मैने कहा कि "पिछले दो वर्षों से मै कहता आया हूँ कि हम कार्यकर्ताओ का अज्ञातवास अवश्य हो। अगर किसी कारण से अज्ञातवास नहीं होता है, तो हमे योजना करके ऐसा करना चाहिए। रामचन्द्रजी को लकादहन के लिए अज्ञातवास करना आवश्यक था और पाण्डवो को कौरवो के अत्याचार-शमन के लिए यह आवश्यक था, तो उसके लिए अवसर का निर्माण किया गया। क्रान्ति मे भी किसी-न-किसी प्रकार के अज्ञातवास की घटना घटनी चाहिए। यदि अज्ञात-वास के बिना ही वह आगे बढता जायगा तो वह असफल होगा, क्योकि क्रान्ति के उफान के समय बहुत-सा कचरा जमा होता है। अत अज्ञात-वास से उसकी सफाई होनी चाहिए, जिससे वह जन-जीवन मे गहराई मे प्रवेश पा सके।

अज्ञातवास आवश्यक

कार्यकर्ताओ का जीवन भी आत्म-निरीक्षण और आत्म-साधना से शोधित होना चाहिए। कार्यकर्ताओं को जीवन-साधना के लिए

आवश्यक है कि वे जीवन को अन्तर्मुख बनाने के लिए अज्ञातवास करे। क्रान्ति-साधन के लिए यह आवश्यक है कि उसके जीवन मे मोटे रूप से भी विकार प्रवेश न करें। तूफानी हवा आने पर सारा वातावरण गन्दा हो जाता है। उसकी सफाई के लिए शान्ति की आवश्यकता होती है। उसी तरह क्रान्ति की तूफानी हवा में जो कूडा-कचरा जमा हो जाता है, उसे साफ करने के लिए अज्ञातवास की आवश्यकता हो जाती है, ताकि शुद्ध क्रान्तिकारी विचार आगे बढ सके। क्रान्ति के लिए यह जरूरी था कि एक बडा जन-आन्दोलन हो, सो वह हुआ। अब समय आया है कि हम अपने और क्रान्ति के लिए अन्तर्मुख हो पाये। क्रान्ति में मानसिक परिवर्तन या विचार के परिवर्तन की जो प्राप्ति हुई है, उसका सगठन करना जरूरी है। सिकन्दर देश जीतकर आगे बढता जाता था, परन्तु पीछे सगठन की कोई योजना नहीं बनाता था, जिससे जीतने पर भी उसके हाथ कुछ न लगा। हम विचार-प्रचार के लिए निकले। जितने लोग हमारे विचार को समझ पाये, वह हमारी प्राप्ति हुई। अब उन विचार समझनेवालो के लिए एक योजना होनी चाहिए और उसी आधार पर उनका सगठन भी बनना चाहिए। तन्त्रमुक्ति का मतलब सगठन-मुक्ति तो नहीं है। केवल हम नये विचार निकालते जायँ, पर उस विचार को जीवन मे उतारकर उसको माननेवालो का सगठन न बनायें, तो पिछले विचार खतम हो जायँगे। इसका नतीजा यह होगा कि क्रान्ति की दिशा उलट जायगी, इसे 'प्रतिक्रान्ति' कहते है। इसलिए अब हमे किसी-न किसी समय अज्ञातवास करना जरूरी है। हमे यदि क्रान्ति का वाहक बनना है और आस पास तथा देश मे अपनी क्रान्ति का दायरा बढाना है, तो ऐसा करना आवश्यक है।

इसमे खादीग्राम जैसी सस्था की जिम्मेदारी बहुत बढ जाती है। आज सर्वोदय आन्दोलन के विचार के वाहक के रूप मे सर्व-सेवा-सघ का प्रमुख स्थान है और श्रमभारती सर्व-सेवा-सघ का प्रधान केन्द्र है। इस दृष्टि मे श्रमभारती की क्या जिम्मेदारी है, यह भी सोचना चाहिए।

तालाब मे ढेला फेंकने पर जिस तरह छोटी लहर बडी लहर मे विलीन हो जाती है, उसी तरह खादीग्राम को छोटी लहर और ललमटिया ग्राम आदि को उसमे बडी लहर मानकर और सम्पूर्ण मुंगेर जिले को एक परिपूर्ण लहर मानकर उसमे काम करना है। इतना ही नहीं, प्रान्त और देश की जिम्मेदारी भी आपके ऊपर आनेवाली है। तो इसके लिए कौन-सा कार्यक्रम अपनाया जाय, यह सोचने की जरूरत है। अत हमारे आन्दोलन का सगठन मजबूत बनाना ही हमारा पहला काम होगा।

ग्रामभारती की जिम्मेदारी

वैचारिक क्षेत्र मे हमने जितना हासिल किया है, उसे ठोस बनाने के लिए सर्वप्रथम चरित्र-निर्माण की आवश्यकता है। यह पहला काम नयी तालीम से ही हो सकता है। याने हमारा सारा काम नयी तालीम की प्रक्रिया का होगा। वह काम चाहे जिले मे हो, चाहे खादीग्राम के अहाते मे, होगा सब नयी तालीम का ही। नयी तालीम के लिए आवश्यक है कि उद्योग के आधार पर समाज का सगठन हो। उसी उद्योग के माध्यम से गॉव के प्रत्येक व्यक्ति को नयी तालीम की शिक्षा दी जा सकेगी। अत. देखना होगा कि हमारे लिए कौन सा उद्योग सबसे जरूरी है। इस दृष्टि से कृषि ही हमारे देश के लिए जरूरी हो गयी है, क्योंकि किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास मे कृषि का सबसे बडा हाथ होता है।

नयी तालीम की प्रक्रिया

विनोबाजी ने भी कहा है कि हमारे देश के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ घटे खेती का काम करना चाहिए, फिर वह देश का प्रधान मत्री ही क्यों न हो! इस पर नेहरूजी ने कहा था कि यह विचार ठीक है। जो देश कृषि-कार्य को छोड देता है, वह थोडे ही समय मे समाप्त हो जाता है। कृपालानीजी ने भी उस दिन यहॉ कहा था कि जो खेती नहीं करता, वह देश का आदमी नहीं है। इसीसे विनोबाजी कह रहे हैं कि

कृषिमूलक ग्रामोद्योग

आन्दोलन कृषिमूलक ग्रामोद्योग प्रधान होना चाहिए। चाहे हम यहाँ काम करे या गाँवो मे, खेती हमे करनी ही होगी। हमारा काम नयी तालीम का काम होगा। कहीं हमारा खाद्य-केन्द्र होगा, कहीं बुनियादी शाला होगी और कही खाद का केन्द्र होगा। ये सब चीजे हमारे उत्तरोत्तर विकास का माध्यम होगी, लेकिन कृषि की दिलचस्पी मुख्य होगी। भूदान और ग्रामोद्योग के सन्दर्भ मे हमे कृषि और ग्रामोद्योग की साधना करनी होगी। इससे प्रेम तो बढेगा ही, सामाजिक चरित्र के विकास द्वारा कुटुम्ब का निर्माण भी हो सकेगा। इस तरह मानसिक और आध्यात्मिक विकास की जो प्रक्रिया है, वही सामाजिक साधना की भी प्रक्रिया है।

आज समाज दो वर्गों मे विभाजित है—उत्पादक और अनुत्पादक यानी व्यवस्थापक वर्ग। एक बुद्धिजीवी और दूसरा श्रमजीवी। नयी तालीम का काम होगा, दोनो वर्गों को मिलाने का। शुरू मे समाज के दो वर्ग दोनो के लिए अलग-अलग अभ्यास-क्रम होगे, परन्तु दोनो का समन्वय भी करना होगा। अलग अलग अभ्यास-क्रम वनाये विना समन्वय नही हो सकता। क्योकि दोनो के जीवन का क्षेत्र और स्तर भिन्न-भिन्न है। अतः इन दो स्थितियो के जीवन को शुरू से शिक्षा देकर अन्त तक पहुँचाना है। इसलिए नयी तालीम के दो 'पैटर्न' होगे। एक आदमी दार्जिलिग मे हो, दूसरा देहली मे और दोनो को कलकत्ता जाना हो, तो भी दोनो का रास्ता एक नहीं होगा। जो श्रमजीवी यानी उत्पादक वर्ग है, उसे भी श्रेणीहीन समाज का नागरिक वनाना है और जो बुद्धिजीवी है, शोषक है, उसे भी समाज के श्रमजीवी वर्ग मे परिणत कर समाज का सच्चा नागरिक वनाना है। इसलिए यह तय है कि दोनो के लिए दो रास्ते होगे, दो अभ्यासक्रम होगे और दो प्रक्रियाएँ होगी। एक के लिए बुनियादी, उत्तर बुनियादी और दूसरे के लिए ग्रामशाला होगी। ग्रामदान को सफल वनाने के लिए निर्माण आवश्यक है। यह काम ग्रामदानी गाँवो मे आसान है। जो

ग्रामदानी गॉव नहीं हैं, पर जहॉ सम्मतिदान मिला है, वहॉ भी तो ग्रामशाला हो सकती है। उस ग्रामशाला के विद्यार्थी पूरे गॉव के लोग होंगे, शिक्षक भी विद्यार्थी होगे। हमसे लोग पूछते है कि ग्रामशाला मे सारे लोग पढेगे, तो शिक्षक कौन होगा ? उसमे विज्ञान की पढाई कैसे होगी ? शुरू मे तो शिक्षक बाहर से आयेगे, पर बाद मे जो अधिक जान जायेंगे, वे कम जाननेवालो को बतायेगे। उनमे भी जो अधिक जानकार होंगे, वे बाहर ज्ञान लेने जायेंगे और यदि यही प्रक्रिया चली, तो अन्त मे एक दिन गॉव के लोग अणुवीक्षण यन्त्र से अपने खेतो के कीटाणुओ का अनुसन्धान भी करगे। हमे विश्वविद्यालय का रूप ग्रामशाला मे से निकालना होगा। दूसरे यह भी खोजना होगा कि मध्यम-वर्ग को किस तरह उत्पादक वर्ग में परिणत किया जाय। साथ साथ यह भी देखना पडेगा कि उससे उनका समाधान हो रहा है कि नहीं। आज शिक्षा से असमाधान है, तो उसी वर्ग को। इस तरह दोनो को दो रूप मे बनाना होगा। एक को बुद्धिजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक, दूसरे को श्रमजीवी से बुद्धिमान् श्रमिक। इस प्रकार एकवर्गीय समाज का निर्माण करना होगा। ग्रामशाला के परिणाम से जिले के दूसरे भागो का मार्गदर्शन करना होगा। हमारे दफ्तरो के काम भी शिक्षा के माध्यम होगे। गोपालन, कताई और ग्रामोद्योग की भॉति दफ्तर के काम के माध्यम से भी शिक्षा देनी होगी। इसके लिए निम्नलिखित आवश्यक काम करने होगे।

अनुकूल वातावरण आवश्यक

किसी भी शिक्षण सस्था की पहली आवश्यकता यह है कि वहॉ का वातावरण शिक्षा के अनुकूल हो। गाधीजी ने एक बार चरखा सघ की बैठक मे कहा था कि "एक बार मै मुसोलिनी से मिलने गया, तो वहॉ का सारा वातावरण हिंसा का देखा, हर जगह हिंसक जीवो के भयानक-भयानक चित्र टॅगे थे, उसी तरह हमारी शिक्षा-सस्था के भी जो जो स्थान हो, वे ऐसे लगे कि यहॉ अहिंसक समाज-निर्माण की शिक्षा दी जाती है।" हमारे सब स्थानो का वातावरण सफाई, प्रेम की साधना का ही हो। आज हम

दूसरो की पीठ-पीछे टीका करते है। इससे प्रेम की साधना नही होगी। इसी तरह सफाई-व्यवस्था आदि मे नियमितता होनी चाहिए।

आज हम सामाजिक प्राणी के रूप में नहीं रहते। इस घेरे के अदर जिस कार्यक्रम पर मजदूरी मिलती है, उसी पर हम ध्यान देते हैं और जिस पर मजदूरी नही मिलती, उस पर कोई ध्यान नहीं देते। उसे हम नियमित रूप से करते भी नहीं। जैसे प्रार्थना के लिए मजदूरी नही मिलती, तो उसमे इने-गिने लोग ही आते हैं। वही हाल सूत्र-यज्ञ का भी है। हम सामाजिक प्राणी हैं या मजदूर। आज हमे सोचना है कि हम लोगो को यदि उत्पादक नागरिक बनना है, तो जिस चीज के लिए हमे मजदूरी नही मिलती, उसके लिए भी चिन्तन करे। यों तो जो केवल मजदूर है और मजदूरी की चिन्ता करते है, वे भी नागरिक है और वोट देते है। लेकिन वे सामाजिक नागरिक नहीं हैं। गाधीजी ने स्वराज्य की परिभाषा मे कहा था कि "वोट वे ही दे सकते है, जिन्होने शरीर-श्रम से समाज की सेवा की हो। जो लोग शोषण करते है, वे नागरिक नहीं है। जिनका सामाजिक चरित्र नहीं है, वे भी नागरिक नहीं है। नागरिकता के लिए ये सब बाते आवश्यक है। इसलिए हम श्रम करके उत्पादन करे, चरित्र-निर्माण करे तथा अपने-आपको नागरिक सिद्ध करे। हम अपने-आप अपना नाम वोटर-लिस्ट मे लिखाये, यानी अपनी जिम्मेदारी के लिए सचेष्ट हो। नयी तालीम के वातावरण मे जो है, वे सबके सब गुरु है। इसलिए समाज मे जिस काम के लिए मजदूरी नही मिलती है, उस काम की जिम्मेदारी कितनी है, इसका भी हम ध्यान रखे। गुरु मे गुरुत्व तो होना चाहिए।"

इस भाषण मे मैने यह भी बता दिया कि १९५७ की फलश्रुति के फलस्वरूप '५८ से हमे किस दिशा मे जाना है तथा किस कार्यक्रम को अपनाना है। मेरे स्वभाव तथा विचार के अनुसार इस भाषण के बाद मुझे खादीग्राम से निकलकर कही दूसरी जगह जाना चाहिए था, क्योंकि मै मानता हूँ कि उस दिन मैने जितनी बाते कही थीं, उसके अलावा

और कुछ कहने को रह नहीं गया था। खादीग्राम के साथियों के लिए अगले ५-१० वर्ष की खुराक उसमें मौजूद है। लेकिन प्रधान केन्द्र खादीग्राम में होने के कारण स्वभावत. मेरा मुख्य स्थान यही रह गया। फिर उसके बाद के कार्यक्रम ने भी मुझे यहीं रोके रखा। श्रमभारती के साथी पदयात्रा के बाद लौटे। दफ्तर के साथी यहाँ थे ही। दोनों के स्वभाव, रुचि तथा दृष्टिकोणों में भिन्नता थी। भिन्नता में स्वाभाविक सामञ्जस्य प्रकृति का स्वभाव है। लेकिन दुर्भाग्य से मनुष्य सभ्यता के नाम पर प्रकृति के बाहर एक स्वतन्त्र जन्तु बन गया है। इसलिए भिन्नता में भी सामञ्जस्य उसका स्वभाव नहीं रह गया है। अतः भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में सामञ्जस्य संपादन के लिए प्रकृति पर छोडना संभव नहीं होता। किसीको बैठकर सामञ्जस्य के लिए कोशिश करनी पडती है। इसलिए भी मैं कुछ दिन के लिए खादीग्राम में बँध गया।

खादीग्राम का बन्धन

प्रतिवर्ष खादीग्राम का वार्षिकोत्सव २६ जनवरी को मनाया जाता है। सन् '५७ की सफलता के बाद इस वर्ष का सम्मेलन विशेष महत्त्व रखता था। केवल देशभर के आन्दोलन के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि खादीग्राम के साथी सालभर पद-यात्रा कर जिलेभर से प्रेम तथा सद्भावनाओं की जो पूँजी बटोरकर लाये थे, उस कारण भी इस उत्सव का विशेष महत्त्व था। राजेन्द्र बाबू ने खादीग्राम आने की इच्छा प्रकट की थी। इस अवसर पर वे आ जायँ, तो अपने नये अध्याय के लिए परिवार के सबसे बडे बुजुर्ग का आशीर्वाद मिल जायगा, ऐसा सोचकर मैंने उनसे प्रार्थना की। वे मान गये। सम्मेलन के महत्त्व का यह भी एक कारण था। सालभर घूमने के फलस्वरूप सर्वोदय के काम में समयदान करने के इच्छुक ढाई-तीन सौ नाम भाई राममूर्ति के पास जिलेभर से आये हुए थे। काम शुरू करने से पहले उनका एक माह का शिविर करना अच्छा होगा और यह शिविर सम्मेलन से पहले हो, ऐसा निश्चय

प्रदर्शनी करने का विचार

किया था। स्वभावतः सम्मेलन एक विशिष्ट रूप लेनेवाला था। कुल मिलाकर वार्षिकोत्सव अत्यन्त महत्त्व का होने के कारण मैंने यहाँ एक नयी बात करने की सोची और वह थी ग्राम-स्वराज्य-प्रदर्शनी।

सन् १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में विलायती माल बहिष्कार का कार्यक्रम मुख्य था। हम लोगों ने विदेशी वस्तु बहिष्कार का आन्दोलन काफी तेजी से चलाया था। गांधीजी के नेतृत्व के कारण स्वतन्त्रता-संग्राम के दो पहलू थे। एक पहलू अवांछनीय परिस्थिति तथा वस्तुओं का निराकरण, दूसरा पहलू वांछनीय के अधिष्ठान का। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के साथ जनता में स्वदेशी भावना का निर्माण तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रसार का कार्यक्रम जुड़ा हुआ था। इसी सिलसिले में जवाहरलालजी की प्रेरणा से इलाहाबाद में स्वदेशी लीग बनी थी और उन्हींके निवासस्थान आनन्द भवन में एक स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उस प्रदर्शनी में मैंने प्रमुख भाग लिया था। तभी से प्रदर्शनी के काम में मेरी रुचि बढ़ती गयी और क्रमशः उत्तर प्रदेश में लोग मुझे प्रदर्शनी विशेषज्ञ कहने लगे। इलाहाबाद स्वदेशी प्रदर्शनी में मैं प्रतिवर्ष भाग लेता रहा और बाद में उत्तर प्रदेश के कई जिलों में प्रदर्शनी का आयोजन होने पर हर जगह जाया करता था।

उन दिनों प्रदर्शनी का मतलब यह था—घेरे के अन्दर कुछ दूकान बनाना और उनमें तरह-तरह की स्वदेशी वस्तुओं की दूकानें लगवा देना, एक बड़े से हाल में तरह-तरह की स्वदेशी वस्तुओं के नमूने रख देना तथा लोगों को आकर्षित करने के लिए खेल-कूद तथा आतिशबाजी का आयोजन करना। प्रदर्शनी की यह तर्ज पुरानी है। हम लोग भी उसी तर्ज का अनुसरण करते रहे। मैं इस प्रकार की प्रदर्शनी के आयोजन में सम्मिलित तो रहता था, परन्तु मन को तसल्ली नहीं होती थी। सोचता था कि यह ठीक है कि हर प्रकार की स्वदेशी वस्तु एक जगह सजा देने से देश की जनता को प्रेरणा अवश्य मिलेगी। इतने स्वदेशी वस्तुओं

प्रदर्शनी की पुरानी पद्धति

का निर्माण हमारे देश मे होता है, यह जानकर लोगो के दिल मे राष्ट्र-गौरव की अनुभूति भी होगी। यह सब अपनी जगह पर महत्त्व रखता है, लेकिन प्रदर्शनी का उद्देश्य बाजार तो नहीं है। यद्यपि पूँजीवादी दृष्टि से बाजार का ही महत्त्व अधिक होता है, फिर भी जिस प्रदर्शनी को हम लोग सघटित करे, उसमे भी बाजार की ही दृष्टि रहे या और कुछ? इस प्रकार के प्रश्न रह-रहकर मेरे मन मे उठते थे और क्रमश. मै इस परिणाम पर पहुँचने लगा कि प्रदर्शन का लक्ष्य बाजार कतई न होकर उसका एकमात्र ध्येय शिक्षण का ही होना चाहिए। इसलिए बाद को लखनऊ आदि कई स्थानो की प्रदर्शनियो के सचालको के साथ म इस प्रश्न पर चर्चा करता रहा और जहाँ सम्भव होता था, शिक्षण की कुछ-न-कुछ बातें शामिल करा देता था। शिक्षण का जरिया मुख्यत पोस्टर ही होता था। पाँच-छह वर्ष तक इसी प्रकार चला।

सन् १९३६ मे लखनऊ मे काग्रेस का अधिवेशन था। काग्रेस के अधिवेशन के साथ प्रदर्शनी का सिलसिला चल पडा था। उत्तर प्रदेश मे काग्रेस होने के कारण प्रदर्शनी की खास जिम्मेदारी मुझ पर आ पडी। गाधी आश्रम के ही साथी गिरधारी भाई उसके मन्त्री थे। इसलिए भी मेरी जिम्मेदारी अधिक हो गयी थी। अपनी जिम्मेदारी होने के कारण मैने अपने विचार को सार्थक करने मे इसका भरपूर उपयोग किया।

लखनऊ की प्रदर्शनी

प्रदर्शनी का नक्शा ऐसा बनाया, जिससे लोगो को मालूम हो कि शिक्षण ही प्रदर्शनी का उद्देश्य है। दूकाने थीं, लेकिन उनका स्थान गौण रखा गया। शिक्षण के लिए देश मे जितने उद्योग चलते है, उन सबकी उत्पादन-प्रक्रियाओ का प्रदर्शन किया गया। सारी प्रदर्शनी को शिक्षण के चार्टों से भर दिया। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह की गयी कि प्रदर्शनी के एक मुख्य भाग मे शान्तिनिकेतन कला भवन के आचार्य नन्दलाल बाबू के नेतृत्व मे एक उच्चकोटि के कला-भवन का सगठन किया गया। प्रदर्शनी के फाटक तथा अन्य सजावट मे उन्हींकी देखरेख

मे भारतीय कला का भी प्रदर्शन हुआ। इस तरह लखनऊ काग्रेस की प्रदर्शनी मे देश के सामने लोक-शिक्षण का एक नया रूप आया। कुमारप्पाजी, दादा (कृपालानीजी) और दूसरे बुजुर्ग बहुत खुश हुए। जवाहरलालजी को भी प्रदर्शनी बहुत प्रसन्द आयी। उत्तर प्रदेश की विभिन्न प्रदर्शनियो को जवाहरलालजी का आशीर्वाद प्राप्त था। वे जब घूमकर सब कुछ देख चुके और इलाहाबाद स्वदेशी लीग के बुजुर्ग मन्त्री श्रीमोहनलाल नेहरू से अत्यन्त हर्ष के साथ पूछने लगे कि "कहो, कैसा है ?" तो उन्होने कहा "Well, this is the Real exibition." (हॉ, यह असली प्रदर्शनी है !) जवाहरलालजी ने भी उनकी बातो की ताईद की। उसके बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले मे जो प्रदर्शनियॉ होती थी, उनकी दिशा शिक्षण-प्रक्रिया की ओर ही बढी। तब से काग्रेस प्रदर्शनियो की भी यही दृष्टि रही है।

अनिलसेन गुप्त से चर्चा

श्री अनिलसेन गुप्त सर्व-सेवा सघ की ओर से प्रदर्शनियो का सचालन करते है। उनकी इच्छा थी कि खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर यहॉ भी एक प्रदर्शनी करे। उन्होने मुझसे इजाजत मॉगी। मैने उनसे कहा कि अब प्रदर्शनियॉ भीड़-भाड का उपकरण हो गयी है, इसलिए मुझे उनमे बहुत दिलचस्पी नही है। मेरी इस बात से अनिल-भाई और दूसरे साथियो को कुछ आश्चर्य हुआ। सबको मालूम था कि प्रदर्शनियो मे मेरी दिलचस्पी बहुत अधिक है। सर्व-सेवा सघ की ओर से प्रदर्शनियो का सगठन करने के लिए दिल्ली से अनिलभाई को मैने ही बुलाया था और फिर सर्वोदय-सम्मेलन के साथ अच्छी प्रदर्शनी हो, इसके लिए भी प्रोत्साहित किया था। अतः मैने जब ऐसी बात कही, तो उससे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। मैने ऐसा क्यो कहा, यह जानने की तुम्हे भी उत्सुकता होगी। इसलिए इस बारे में यहॉ चर्चा कर लेना अच्छा होगा।

खादी-ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना के बाद खादी जगत् के वयोवृद्ध

कार्यकर्ता श्री जेराजाणी भाई की प्रेरणा से दिल्ली मे एक विराट् प्रदर्शनी का आयोजन हुआ था। यद्यपि उस प्रदर्शनी ने हमारे राजकीय नेताओ को तथा ग्रामोद्योगी अर्थनीति को न माननेवाले देश के अनेक विद्वानो को प्रभावित किया था, फिर भी उसका आडम्बर ऐसा था कि मै मानता था कि दिल्ली के लोगो को प्रेरणा देने के लिए ऐसी प्रदर्शनी भले ही अनुकूल हो, लेकिन आम जनता इस प्रकार की भूलभूलैया में न कुछ सीख सकेगी, न कुछ प्रेरणा ले सकेगी। पूर्व सस्कार तथा शिक्षा के कारण अनिलभाई को भी ऐसे आडम्बर मे रुचि है, यह तुम लोगो को मालूम है। खादीग्राम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर हम जो वातावरण पैदा करना चाहते है, उसके साथ अनिलभाई की कल्पना की प्रदर्शनी का मेल नहीं बैठेगा, ऐसा मुझे लगता था। दूसरी बात यह थी कि इस ग्रामदान के युग मे प्रदर्शनियाँ बाजार के लिए तो नहीं ही हो, लेकिन केवल शिक्षण के लिए भी अलग से प्रदर्शन हो, उसका भी समय शायद समाप्त हो गया है, ऐसा मै मानता था। मेरा विचार था कि अब हम लोग जिस किसी प्रदर्शनी का आयोजन करे, वह शिक्षाप्रद तो हो ही, साथ-साथ मुख्य रूप से ग्राम-स्वराज्य के सदर्भ मे निर्माण की प्रदर्शनी हो। अतएव मैंने अनिलभाई से कहा कि अब तक जो घेरा डालकर अलग से प्रदर्शनी होती थी, उसके बदले ललमटिया गॉव को ही प्रदर्शनी मे परिणत कर सको, तो उसमे मुझे दिलचस्पी है। पिछले दो-तीन साल से मै कहता आया हूँ कि नयी तालीम सस्था के घेरे से निकालकर पूरे गॉव को ही शाला बनाये बिना, इसकी सिद्धि नही हो सकती है और आज जब मै कहने लगा कि प्रदर्शनियो को भी किसी घेरे मे न रखकर गॉव को ही प्रदर्शनी के रूप मे परिणत किया जाय, तो कुछ लोगो को शायद यह खयाल होगा कि इधर मेरे दिमाग मे गॉव का खब्त सवार हो गया है, पर बात ऐसी नहीं है।

अगर व्यष्टिवादी युग मे राजा, पुरोहित तथा गुरु व्यक्ति थे, और बाद को सस्थावादी युग मे राज्य, पुरोहित सस्था तथा सार्वजनिक शिक्षा-शालाओ की सस्थापना हुई, तो इस समाजवादी युग मे मनुष्य की

आकाक्षा, अगर राज्यसस्था का भी विलोपन है, तो साथ-साथ कल्याण-सस्था, शिक्षणसस्था आदि के विलोपन की भी आकाक्षा बनेगी न ? अतः यदि हम कहते है कि प्रदर्शनियाँ शिक्षण का माध्यम हैं, तो प्रदर्शनियो का प्रकार कैसा होना चाहिए, इसका तुम लोग सहज ही अनुमान कर सकती हो।

शुरू मे अनिलभाई को यह विचार समझने मे कठिन मालूम हो रहा था, लेकिन काफी चर्चा के बाद वे मान गये और धीरे-धीरे समझने भी लगे। और आखिर मे जब उन्होंने काम शुरू किया, तो इस प्रकार की प्रदर्शनियो की सभावनाओ को देखकर वे काफी प्रोत्साहित हुए। अनिल-भाई विचार तो समझ गये और उत्साह से काम पर लग भी गये, लेकिन उनकी आडम्बर-प्रियता रह-रहकर सामने आने लगी। यद्यपि मैंने उसे बहुत नियन्त्रित किया, फिर भी यह ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी काफी खर्चीली और आडम्बरपूर्ण रही। यह सब होते हुए भी देश के बडे बडे कार्य-कर्ताओ को प्रदर्शनी का आकर्षण था और नयी दिशा की सूचिका होने के कारण उन्हे उससे काफी सतोष रहा।

मैंने कहा कि प्रदर्शनी द्वारा हमे ग्राम-स्वराज्य का चित्र देने की कोशिश करनी चाहिए। जिस गॉव मे ग्राम स्वराज्य प्रदर्शनी करनी हो,

प्रदर्शनी में ग्राम-स्वराज्य का चित्र रहे

वहॉ कम-से-कम सालभर तैयारी करनी चाहिए। गॉव की सारी योजना आगे के लिए बननी चाहिए। पूरे गॉव की खेती की योजना क्या होगी, उसका नक्शा तैयार हो, उसके लिए गॉव के लोगो को तालीम दी जाय और वे स्वय योजना बना सके, ऐसी शक्ति निर्मित की जाय। गॉव मे अगर घर-घर मे अम्बर चरखा चलवाना हो, तो उसकी तालीम हर घर को दी जाय और चरखे की स्थापना हो। जितने गृहोद्योग तथा ग्रामोद्योग उस गॉव मे चलाने हो, उतने उद्योगो के लिए उसी गॉव के लोगो को प्रशिक्षित किया जाय। कुछ घरो को विशेष-विशेष उद्योगो के अनुकूल बनाया जाय। ग्रामोद्योग के लिए निर्दिष्ट

स्थान हो और उसमे काम करने के लिए गॉव के लोगो को तैयार किया जाय। स्पष्ट है कि भारत की अर्थनीति बहु-धन्धी परिवारमूलक ही होगी यानी परिवारो को खेती के साथ कोई-न-कोई एक उद्योग चलाना ही होगा। इसलिए प्रदर्शनी मे इसका दर्शन होना चाहिए कि गॉव के प्रत्येक घर मे कुछ-न-कुछ उद्योग चल रहा है। मैने अनिलभाई को बताया कि "तुम लोग प्रदर्शनियो मे हरएक उद्योग की प्रक्रिया दिखाते हो, उसके लिए एक-एक स्थायी 'शेड' तैयार करते हो और उसे एक पक्ति मे जमाते हो ताकि लोग एक तरफ से देख सके। वही बात घर घर मे करो न? लल्मटिया के लिए १५ वर्ष की एक योजना बना डालो। १५ वर्ष बाद खेती की योजना क्या होगी, घर-घर मे कौन-कौन-से उद्योग चलेगे, पूरे पारिवारिक उद्योग कौन-कौन से होगे और किस-किस घर मे वे चलेगे, ग्रामोद्योगो मे से कौन-कौन उद्योग चलेगे और उद्योग-केन्द्र का स्थान कहॉ होगा, शिक्षणो के लिए बालवाडी तथा ग्रामशाला किस स्थान पर होगी इत्यादि सभी बातो को निर्धारित कर लो। उन्ही स्थानों पर उन चीजो को जमा दो, तो यह तुम्हारी ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी हो गयी।"

लल्मटिया के ग्रामदान की घोषणा होने के बाद से ही हम लोगो ने उस गॉव के नौजवानो को विभिन्न उद्योगो की ट्रेनिग देना शुरू कर दिया था। उसमे से कुछ लोग कुम्हारी का काम, कुछ सरजाम बनाने के लिए लोहारी और बढई का काम, कुछ बुनाई का काम और कुछ लोग तेल पेरने का काम सीख रहे थे। अम्बर चरखे का परिश्रमालय चल ही रहा था। इस तरह ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी का काफी उपादान पहले से तैयार था। मैने कहा कि जिस-जिस घर के लडके जो-जो उद्योग सीख रहे है, उस-उस घर मे उसी-उसी चीज का प्रदर्शन किया जाय। अगर वे लोग अपनी-अपनी कला मे माहिर नही हो पाये है, तो प्रदर्शनी के लिए अच्छे कलाकार उन्हीं घरो मे बिठाकर सीखने वालो से उनके सहायक के रूप मे काम कराया जाय। जिन उद्योगो

लल्मटिया में प्रयोग

मे अभी तक कोई सीखनेवाला नहीं है, उनके लिए भी आगे सिखानेवालो को निश्चित किया जाय और उन-उन घरो मे उन-उन कलाओ का प्रदर्शन किया जाय। खेती के लिए भी दो प्लॉट चुने गये। उन्हीं प्लाटो को गॉव की पूरी जमीन मानकर आज जिस अनुपात मे खेती होती है, उसी अनुपात में विभाजित करके फसल उगायी गयी और दूसरे प्लॉट मे पॉच साल वाद की योजना के अनुसार फसल लगायी गयी, ताकि लोग मुकावला कर सके।

ललमटिया मे ४० घर हैं। चालीसो घरो में किसी-न-किसी उद्योग की प्रदर्शनी की योजना वनी। फिर सवाल यह था कि उद्योगो का प्रदर्शन करने के लिए घर कैसा वनाया जाय? हमने सोचा कि दस दिन के लिए स्टॉल वनाया जाय, फिर उसको उजाडा जाय, उसके वदले मे स्थायी घर वनाना चाहिए। हमने हिसाव जोड़कर देखा कि जितने पैसे में चटाई, वोरा आदि खरीदने, मजदूरी देकर स्टाल खडा करने, फिर उसे तोडने आदि में जो खर्च होता है, उतने ही पैसे से स्थायी घर की सामग्री खरीदी जा सकती है। हमने गॉववालो से कहा कि उन्हे सामग्री दे दी जायगी, वे अपने-अपने घर से सटाकर अपने पैसे तथा श्रम से स्टाल वना ले। उन्होने वैसा ही किया भी। इस तरह जो खर्च प्रदर्शनी-निर्माण मे होता, उसका स्थायी उपयोग गॉव के लिए हो गया। इसी प्रकार कई वाते हुई, जिनके कारण प्रदर्शनी से काफी लोग प्रभावित हुए। दिन-व-दिन उसकी ख्याति फैली और अन्त मे वार्षिकोत्सव के दिन तीस चालीस हजार आदमी इकट्ठे हो गये। इस जगल में इतने आदमियो का जमाव वस्तुत अपूर्व था।

अनोखे ढंग की प्रदर्शनी

प्रदर्शनी हुई और वह अपने ढग की अनोखी रही, फिर भी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। दूसरी प्रदर्शनियो की तुलना मे काफी सादगी थी, फिर भी मै जितनी सादगी चाहता था, उतनी सादगी से अभी हम दूर थे। प्रदर्शनी के वीच खादी ग्रामोद्योग के अध्यक्ष वैकुण्ठभाई की अध्यक्षता

मे कार्यकर्ताओ का एक सम्मेलन हुआ। उसमे मैंने कहा : "प्रदर्शनी के तरीके मे यह नया मोड बहुत अच्छा हुआ, मुझे इससे खुशी है, परन्तु कार्यकर्ताओ को समझना है कि ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी अगर इतनी खर्चीली होगी, तो वह ग्राम-स्वराज्य को बनाने की जगह बिगाड ही देगी। लेकिन पहले प्रयास के नाते यह अच्छी है।"

यह कहकर अम्बर चरखे के प्रयोग का उदाहरण बताते हुए मैंने कहा कि "चार साल पहले दिल्ली की प्रदर्शनी मे जो अम्बर चरखा दिखाया गया था, उसका दाम ५००) था। तमाम पुर्जे लोहे के थे। कृष्णदासभाई के नेतृत्व मे कार्यकर्ताओ ने उसे सादा बनाने का प्रयास किया और आज हम चालीस रुपया मे चरखा बनाने की परिस्थिति मे पहुँच गये है। आज अगर प्रदर्शनी मे पचास हजार खर्च होते है, तो चार या तीन हजार मे इतनी ही उपयोगी प्रदर्शनी करने तक इसे पहुँचना है।" इतना कहकर मैंने उन्हे ग्राम-स्वराज्य प्रदर्शनी की मूल कल्पना समझायी।

प्रदर्शनी का भला-बुरा असर

खादीग्राम का वार्षिकोत्सव तथा प्रदर्शनी समाप्त हुई। प्रान्त तथा जिले मे इसका काफी प्रभाव पडा, परन्तु ललमटिया पर इसका अच्छा प्रभाव नही पडा। प्रदर्शनी के सिलसिले मे उन्हे बाहर से इतना पैसा मिला कि उनके भीतर यह धारणा बन गयी कि उन्हे कुछ करना नही है, सारा काम खादीग्रामवाले करेगे। यहाँ तक हुआ कि जहाँ पहले गाँव के सारे लोग कही न-कही मजदूरी ढूँढकर गुजारा करते थे, वहाँ अब किसीके घर मे-एक लडका बेकार रहता था, तो वे शिकायत करते थे कि खादीग्रामवाले काम नही दे रहे है। ललमटिया पर ऐसी प्रक्रिया होगी, इसकी चेतावनी मै शुरू से ही साथियो को देता रहा, पर वे मानते नही थे। इसलिए मैंने समझा कि जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। एक गाँव के निर्माण-कार्य मे कठिनाई बढी, लेकिन उससे साथियो को बहुत बडा अनुभव मिला। वे समझ गये कि गाँव मे सामूहिक पुरुषार्थ का उद्बोधन किये बिना बाहरी मदद हानिकारक होती है। वे यह भी

समझ गये कि जो कुछ बाहरी मदद दी जाय, वह भी क्रमशः उनकी चेतना निर्माण के साथ साथ ही दी जाय। ल्लमटिया के खर्च ने जिस प्रकार देश को प्रदर्शनी के बारे मे नयी दिशा दी और कार्यकर्ताओ को ग्रामदानी गॉव के निर्माण-कार्य की सही नीति का दिग्दर्शन कराया, उसे देखते हुए यह सौदा महॅगा नहीं पडा। मुझे इससे तसल्ली ही हुई।

● ● ●

नयी तालीम की समस्या : ७ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२२-१-'५९

वार्षिकोत्सव के बाद हम सब सन् '५७ मे स्थगित किये हुए नयी तालीम के काम को फिर से चालू करने की पूर्व तैयारी मे लग गये, क्योकि मई से हमारे सत्र का आरम्भ होता है। कृषिमूलक शिक्षाक्रम मे मई से सत्र शुरू करना अनिवार्य हो जाता है।

सन् '५७ की पदयात्रा के बीच पुराने शिक्षको मे कुछ बीमार पड गये और कुछ चले गये। साथ ही पदयात्रा के सिलसिले से कुछ नये तरुण भी हमारे साथ शामिल हुए। इसलिए हमे फिर से एक-दो गिनना पडा। एतदर्थ दो माह का समय जो मिल गया, वह लाभकारी हुआ। इस बीच तुम लोगो ने तालीमी सघ का नया प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था।

नयी तालीम का समाधानकारी रूप आवश्यक

तुम्हे याद होगा कि उस प्रस्ताव के बाद मैने कहा था कि यद्यपि नयी तालीम के लिए आज के सन्दर्भ मे कोई दूसरा मार्ग नहीं है, फिर भी शिक्षण के बारे में देश मे जो निराशा फैली हुई है, उसे देखते हुए पुराने ढग की सस्थागत नयी तालीम का समाधानकारक रूप निकालने की आवश्यकता है। यह ठीक है कि गॉव के समग्र जीवन के माध्यम के बीच नयी तालीम का स्वरूप निखर नहीं सकता है। लेकिन आज की शिक्षित जनता इस विचार को तुरत ग्रहण नही कर सकती है। उसकी शिक्षा और दीक्षा इस ढग से हुई है कि भारतीय जनता के सदर्भ मे किसी बात को समझना उसके लिए कठिन है। उसमे से जितने लोग बुद्धि से विचार को समझते भी है, वे भी पूर्व सस्कार के कारण जब ग्रामशाला को देखेगे, तो उन्हे समाधान नहीं होगा। विचार को मान्य कर अगर वे उस ओर कदम भी रखना चाहेगे, तो भी वे आज जहॉ खडे है,

वही से चलना शुरू कर सकेगे। यानी उनका एक कदम आज जहाँ है, वही रहेगा। उनका कदम आगे बढेगा भी, तो उतना ही आगे बढेगा जितनी उनके पैर की लम्बाई है, अर्थात् जितनी दूर वे सोच सकते है, उतनी ही दूर कदम रख सकेंगे। पुराने ढग की सस्थागत नयी तालीम की पद्धति पुरानी तालीम से नयी तालीम की ओर बढने के लिए बीच का एक कदम है, ऐसा तुम लोगो को मानना ही पडेगा। यह भी सही है कि कारण कुछ भी हो, बीच के इस कदम का चित्र हम अब तक ऐसा नहीं बना पाये है, जिससे विकल्प के लिए अधीर होते हुए भी पुरानी तालीम के लोगो को समाधान दे सकें। इसलिए मैंने भाई राममूर्ति से कहा कि अब तुम लोगो को देश के शिक्षित मध्यम वर्ग को समाधान देने लायक नयी तालीम के पहले चित्र को निकालना है। खादीग्राम मे ऐसा चित्र निकल सकेगा, इसका मुझे भरोसा था, क्योकि सन् ५५, ५६ मे जो काम हुआ था, उससे मध्यम वर्ग के मित्रो को काफी समाधान था। इसलिए इस लक्ष्य की पूर्ति मे भाई राममूर्ति मे काफी शक्यता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

भाई राममूर्ति गॉव मे बैठने को उत्सुक

सन् '५७ की पदयात्रा के बीच भाई राममूर्ति का एक पत्र इस आशय का मिला कि अब वे अनुभव कर रहे है कि उनका स्थान खादी-ग्राम मे नहीं है। वे गॉव मे ही जमना चाहते थे। पदयात्रा के दरमियान गॉव का जो अनुभव हुआ, उससे ऐसा विचार आना स्वाभाविक था, क्योकि क्रान्ति के सन्दर्भ मे नयी तालीम का विचार करनेवालो के लिए ऐसे नतीजे पर पहुँचना अनिवार्य है। राममूर्ति भाई का इस प्रकार का सोचना अन्य कारण से भी हो सकता है। वे ऐसा भी सोचते होगे कि खादीग्राम मे प्रधान केन्द्र आने पर वे यहाँ नयी तालीम के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बना सकेंगे। कारण जो भी हो, गॉव मे ही काम करने का विचार सही था। राममूर्ति भाई के पत्र का मैंने स्वागत किया। मैं तो चाहता ही था कि मेरी इच्छा के

अनुसार साथियो को स्वय अनुभव से प्रेरणा मिले। इससे अच्छी बात क्या हो सकती है ?

लेकिन मैने पत्र को रख लिया और उसके अनुसार आगे नहीं बढा, क्योकि विचार करने पर ऐसा लगा कि अभी उसका समय नहीं आया है। इस प्रकार सोचने के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण यह था कि उनके पत्र से मुझे ऐसा लगा कि प्रधान केन्द्र आ जाने से शायद उन्हे लगता था कि भिन्न दृष्टि के लोगो के साथ वे सामञ्जस्य नहीं रख सकेगे। सर्वोदय-क्रान्ति के आरोहण मे ऐसा भय ठीक नहीं है, ऐसा मै मानता हूँ। नाना प्रकार की दृष्टियो तथा विचारो मे सामञ्जस्य साधना सर्वोदय की मूल साधना है, ऐसा मै मानता हूँ। इसलिए हर दृष्टि तथा स्वभाव के लोगो के खादीग्राम मे होते हुए भी एक टीम से काम चले, इस साधना मे मै पडना चाहता था। यद्यपि यह कारण महत्त्व का था, फिर भी यह मुख्य नहीं था। यह बात तो मेरे दिमाग मे क्षणिक ही थी। वास्तविक कारण यह था कि मैने देखा कि आज गाँव की परिस्थिति ऐसी नहीं है कि वह साथियो को पचा सके। ग्रामसेवा के लिए गाँव मे बैठने की शर्त यह होनी चाहिए कि सेवक वहाँ का नागरिक बनकर ग्रामवासियो मे विलीन हो जाय। जब से बापू ने चरखा-सघ के सामने यह प्रस्ताव रखा था, तबसे हजार कामो के बीच भी यह विचार सतत जाग्रत रहता था। दस साल पूर्व मैं स्वय ही उस तरह बैठना चाहता था। रणीवाँ से भगवती भाई को यही कहकर गाँव मे भेजा था और वे इस दिशा मे काफी सफल भी हुए थे। १९५६ मे खादीग्राम के साथियो के सन्मुख भी यही विचार रखा था कि वे निधिमुक्त होकर गाँव मे बैठे।

पिछले तीन साल से बिहार भीषण अकाल से पीडित हो रहा था। देशभर मे यह प्रदेश अत्यन्त चिन्ता का विषय हो गया था। लगातार तीन वर्ष अकालग्रस्त होने के कारण सन् '६७-'६८ की स्थिति अत्यन्त भयकर हो गयी थी। ऐसी हालत मे नये सिरे से कार्यकर्ता ग्राम-आधारित बनकर गाँव मे बैठे, यह प्रस्ताव

शाला का पुनर्गठन

हमे व्यावहारिक नहीं लगा। केन्द्रीय कोष के सहारे एक बार बैठ जाने से आगे चलकर गॉव का सहारा मिलेगा, यह मै नही मानता था। आज ही नही, बल्कि १९४५ मे बापू ने चरखा-सघ के सामने जब यह योजना रखी कि पहले साल चरखा-सघ कार्यकर्ताओ का पूरा खर्च देगा और हर साल २५ प्रतिशत कम करता जायगा, ताकि पॉच साल में वे पूर्णरूप से ग्रामाधारित हो जायॅ। उस समय भी मैने कहा था कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह व्यावहारिक नही है। मै मानता था कि गॉव गॉव मे हम यह विचार फैलाये और जो गॉव तैयार हो, वहॉ कार्यकर्ता शुरू से ही ग्रामाधारित होकर बैठें। यही कारण था कि जब मैं वर्धा से रणीवॉ लौटा, तो अपने साथियो से पूछा कि इस शर्त पर गॉव मे बैठने को कौन तैय्यार है। अकेले भगवती भाई के तैयार होने पर उसी शर्त पर एक ही कार्यकर्ता भेजना अच्छा समझा, बजाय इसके कि चरखा-सघ के प्रस्ताव के अनुसार हम ज्यादा कार्यकर्ता भेजते। मेरे इस विचार के कारण गाधी आश्रम के साथी मेरा काफी मजाक करते थे, लेकिन मुझे यही सही लगता था। यही मुख्य कारण था कि उस समय ग्रामाधारित नयी तालीम के प्रयोग की बात छोड दी और राममूर्ति भाई तथा उनके साथी खादीग्राम लौटकर नये सिरे से नयी तालीम शाला के पुनर्गठन मे लग गये।

इस बार के प्रयोग मे मै स्वय दिलचस्पी लेने लगा और गहराई से काम का निरीक्षण करता रहा। मै मानता हूॅ कि श्रमजीवी लोगो और बुद्धिजीवी लोगो के बच्चो के लिए दो प्रकार का शिक्षाक्रम होना चाहिए, ताकि दोनो अन्ततोगत्वा क्रमशः निकट आकर एक वर्ग मे विलीन हो सके, अर्थात् दोनो का वर्ग-परिवर्तन हो सके। लेकिन मैने सोचा कि पूर्व बुनियादी की उम्र के बच्चे नये है, उनके सस्कार पक्के नहीं है, इसलिए सम्मिलित तालीम की प्रक्रिया वहॉ से शुरू की जा सकती है। ऐसा सोचकर हमने बालमन्दिर खादीग्राम मे न रखकर ललमटिया मे रखने का निर्णय किया, ताकि ललमटिया के उत्पादक वर्ग के बच्चे और

खादीग्राम के बुद्धिजीवियों के बच्चे एक साथ तालीम पा सकें। यह निर्णय केवल बच्चो की दृष्टि से किया ऐसी बात नहीं, वरन् अपने प्रयोग के लिए भी किया था। दो वर्ग के लिए दो प्रकार चाहिए, इसे तो विचार से ही मानता था। श्रमशाला और बुनियादी-शाला को मिलाकर वह प्रयोग सही स्थिति मे प्रयोग है, ऐसा नही कहा जा सकता था, क्योंकि श्रमशाला के १०, १२, १३ वर्ष की आयु तक के लड़के पुरानी नयी किसी भी प्रकार की तालीम पाये हुए नहीं थे। हमारे यहाँ पहले से ही शिक्षा पाये हुए बच्चे थे। इसलिए अगर उन्हे एक साथ मिलाकर एक ही प्रकार के शिक्षण मे सफल नहीं हुए, तो उसे हम आखिरी प्रयोग नहीं कह सकते। अगर यह सफल हो जाय, तो तालीम के इतिहास में चार-पाँच साल की बचत हो सकेगी।

लेकिन कुछ दिन के अनुभव से मालूम हुआ कि मेरा सोचना गलत था। खादीग्राम के बच्चो को लाख कोशिश करने पर भी ललमटिया के बच्चों से मिलाने मे हम असमर्थ रहे। राममूर्ति भाई खुद जाकर समस्या का हल निकालने की कोशिश करते रहे, फिर भी सफलता नही मिली। हमारे बच्चे उन्हे पास आने ही नही देते थे। यदि वे आते भी, तो डॉटते थे। इन बातो को देखकर मै सोचता था कि अगर यह स्थिति है, तो जिस ग्रामदानी गॉव मे दोनो वर्ग रहते है, उनका शिक्षण कैसे होगा? ग्रामदान से भूमिवान तथा भूमिहीन समान हैसियत मे आ जाते है। ऐसी स्थिति मे अगर बाल-मन्दिर के प्रारम्भ से ही बच्चो को अलग रखा जाय, तो कुटुम्ब-भावना आदि की बाते निरी ढोग नहीं हो जायँगी? अगर शिक्षण-प्रक्रिया मे इस प्रकार भेदासुर को प्रवेश दे दिया जाय, तो क्या अनन्त काल तक वर्ग-निराकरण की सफलता की प्रतीक्षा नहीं करनी होगी? इन सवालो से उन दिनों मेरा मन आलोडित रहता था। अपने सामने ऐसा मिश्रित जनसख्यावाला कोई ग्रामदानी गॉव नहीं था, जहाँ चलकर प्रयोग कर सकता था।

प्रयोग की असफलता

इसी चिन्तन के सिलसिले मे मुझे अपना बचपन याद आया। हम भी बुद्धजीवी वर्ग के बच्चे थे। वह भी शहर के। और फिर बिहार मे बगाली परिवार के बच्चे ! तुम्हे शायद मालूम ही है कि हमारे बचपन मे बिहार के प्रवासी बगाली अपने को कुछ उत्कृष्ट जीव मानते थे। बिहारियो को वे नीची नजर से देखते थे, फिर भी हम लोग अपने बचपन मे अपने ही नौकरो के बच्चो के साथ खेलते थे। बडे चाहे जो हो, हम लोग तो दोस्त ही थे। तो क्या यह फर्क काल के फर्क के कारण है ? स्वराज्य के बाद देश की सामान्य हैसियत के लोगो को भी जब राज्याधिकार मिलने लगा, तो देश के वातावरण में रईसी वृत्ति का बोलबाला हो गया। दो सामान्य गृहस्थ साथी थे। उनमे से एक विधायक बन गये, शायद डिप्टी, मिनिस्टर आदि भी कुछ बन गये। एक दिन मे वे रईस हो गये, उनका आडम्बर बढ गया। उनके जो साथी थे, वे साथी नही रहे, ऐसा कैसे हो सकता है ? लेकिन साथी रहने के लिए यह आवश्यक था कि वे भी समान आडम्बर से रहे। इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेनेवाले साथी अग्रेजो के चले जाने पर उन्ही-के जामे मे अपने को प्रविष्ट करा लेने के कारण कुछ अचानक रईस हो गये और बाकी उनके साथी होने के नाते रईसी के आकाक्षी बने। इस तरह हमारे बचपन के दिनो मे और आज मे फर्क यह हुआ कि आज के बुद्धिजीवी साधारण गृहस्थ के रूप मे रहना पसन्द नहीं करते। सस्थाओ मे इस हवा का आना स्वाभाविक था। इस प्रकार का विचार बीच बीच मे आता था, लेकिन मन को तसल्ली नही होती थी। अपने से प्रश्न करता था कि क्या ललमटिया के बाल-मन्दिर के अनुभव की यही कैफियत है, या और कुछ ? इसके साथ-साथ आज जो सैकडो प्राइमरी स्कूलो की तादाद बढ रही है, उन पर भी दृष्टि जाती थी। आज मजदूर तथा खुद मेहनत करनेवाले छोटे किसानो के बच्चे बडी सख्या मे इन प्राइमरी स्कूलो मे भरती होते है। जब उन स्कूलो मे दोनो वर्ग के बच्चो को

पुरानी और नयी स्थिति

शान्ति से बैठकर पढते देखता हूँ, तो कैसे युग को दोषी कहूँ ? यह सही है कि इन प्राइमरी स्कूलों के मध्यमवर्गीय बच्चो मे वर्ग-चेतना है, लेकिन वहाँ वह चेतना उतने उत्कट रूप से प्रकट नहीं होती, जितने उत्कट रूप से ल्लमटिया मे होती थी। अगर प्राइमरी स्कूल के दोनों वर्गों के बच्चे, जिनकी आयु अधिक होने के कारण वर्ग-चेतना अधिक दृढ हो गयी है, शान्ति से साथ साथ पढ सकते है और आपस में मिल-कर खेल सकते है, तो मनोविज्ञान कहता है कि बाल-मन्दिर के छोटे बच्चो को तो और अधिक हिल-मिलकर रहना चाहिए। फिर भी यहाँ अगर भिन्न अनुभव आता है, तो यह मानना पड़ेगा कि हम लोगो के अन्दर ही कही दोष है।

स्वभावत. मै उस दोष के उद्गम को ढूँढने लगा। सोचते-सोचते हमे उसी स्थान पर पहुँचना पडता है, जहाँ हम परिवार-भावना-निर्माण के सदर्भ मे पहुँचते है, यानी हम सस्था के कार्यकर्ता कृत्रिमता के कारण एक विकृत मानव के नमूने है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि सस्था के कार्यकर्ता मानव-समाज के बाहर रहते है। सामाजिक सुख-दुःख उनकी चेतना को छूता नहीं। देश मे अकाल पडने पर उनके भोजनालय पूर्ववत् चलते है, केवल भोजनालय ही नहीं, बाकी सारे खर्चे भी वैसे ही चलते है, जैसे देश की खुशहाली के दिनो मे चलते थे। विभाजित व्यक्तित्व के कारण वे न घर के रहते हैं, न सस्था के। वे न नौकर है, न मालिक। सस्था के सम्बन्ध मे मालिक के समान चिन्ता नहीं और नौकर के जैसा डर नहीं। तुम्हे याद होगा कि १९४५ मे मै जब सेवाग्राम मे तुम्हारा मेहमान बनकर रहता था, तब अक्सर कहा करता था कि हम लोग देहातो मे सस्थाएँ बनाकर उसी ढग से रहते है, जिस ढग से अग्रेज हिन्दु-स्तान मे 'सिविल लाइन्स' बनाकर रहते है।

दोष का उद्गम कहाँ ?

फिर सोचता था कि इसका कुछ और भी कारण हो सकता है। खादीग्राम के साथी वर्ग परिवर्तन की क्रान्ति के विचार से प्रेरित होकर

आये। उनकी पत्नियाँ तो आयी नही, उन्हे आना पडा। विचारमान्य न होने पर भी पति के साथ पत्नी का आना लाजिमी था। हुजूर और मजूर का विचार विना माने ही इस जीवन मे आने की प्रतिकूल प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। इसलिए उन्हे इन विचारो से घृणा थी, जिसका असर भी इन बच्चो पर पडता था। साधारण सस्थाओ मे ऐसी परिस्थिति नही होगी। तुम्हे इस बात से आश्चर्य होगा अवश्य, लेकिन तुम खुद विचार के पीछे आयी हो, इसलिए सम्भवतः तुम्हे इनके मानस का अनुभव न हो। लेकिन शिक्षाशास्त्री होने के कारण इस बात को ठीक से समझ जाओगी, ऐसा मै मानता हूँ।

इन दोनो कारणो मे से कौन-सा कारण काम करता रहा है, यह कहना कठिन है। लेकिन शायद दोनो ही कारणो के मिलन से ललमटिया के बाल-मन्दिर की ऐसी स्थिति बनी, ऐसा मै मानने लगा। इसलिए ललमटिया के अनुभव ने मुझे परेशान नहीं किया, बल्कि सस्था के घेरे मे नयी तालीम की सफलता पर मेरी शका बढने लगी।

बुनियादी शाला फिर खोली

मध्यम वर्ग को समाधान हो तथा पुरानी तालीम से सिर्फ एक ही कदम आगे हो, ऐसी तालीम का प्रयोग होना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर खादीग्राम मे फिर से बुनियादी शाला को प्रारम्भ किया। इस बार केवल बुनियादी को ही आगे रखा। उत्तर बुनियादी शुरू नही की। इस काम को भी इस बार मैंने अधिक गहराई से देखना शुरू किया, तो कुछ बाते स्पष्ट दिखाई दीं। जैसे शिक्षको का श्रम तथा उद्योग की साधना काम शुरू करने से पहले होनी चाहिए। लोग पुरानी तालीम से पढकर आते है, उनको न श्रम का अभ्यास रहता है और न उद्योगो की जानकारी। विषयो मे भी एकआध विषय का ही अध्ययन रहता है, क्योकि पुरानी तालीम एकागी विचार को मानती है। सर्वाङ्गीण ज्ञान होना चाहिए, यह मान्यता अवश्य है, पर एक मनुष्य एक ही विषय मे दक्ष हो, ऐसा ही मानते हैं। इसलिए वे नयी तालीम के शिक्षक के

रूप में असफल होते है। समवाय-पद्धति से तालीम देने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षक को समाजोपयोगी सभी विज्ञानो का इतना बुनियादी ज्ञान रहे कि जिससे मौके पर अगर पूर्ण जानकारी न हो, तो पुस्तकालय मे अध्ययन करके उसे हासिल कर सके। मै जब इस प्रकार कहता हूँ, तो बहुत से शिक्षाशास्त्री प्रश्न करते है "क्या यह सभव है कि एक शिक्षक इतने विषयो की जानकारी रखे, उसके दिमाग मे इतनी जगह कहाँ से आयगी ?" उनका कहना है कि हर विषय के अलग-अलग शिक्षक रहे और बच्चो को अपना-अपना विषय सिखाये। मै जब उनसे पूछता हूँ कि "आप बच्चो को सभी विषय सिखाने के पक्ष मे है न ?" इस पर वे सहमति प्रकट करते है। मैने शास्त्र नही पढे है। लेकिन मेरी समझ मे यह शास्त्र नही आता है कि 'छोटे बच्चो के छोटे मस्तिष्क मे कुल विषय रखने का स्थान है और एक बडे शिक्षक के विकसित मस्तिष्क मे कुल विषयो के लिए जगह नही हो सकती।' यह तो कहा जा सकता है कि हर मनुष्य हर विषय का विशेषज्ञ नही हो सकता है। इसे मैं आसानी से मान सकता हूँ। लेकिन उसे हर विषय का कामचलाऊ ज्ञान भी नही हो सकता है, यह मानना मेरे लिए कठिन है। कोई कह सकता है कि हर मनुष्य इतना मेधावी नहीं हो सकता है, इसे भी मै मानने को तैयार हूँ। मै कहूँगा कि "हर मनुष्य शिक्षक भी नहीं हो सकता। जो गुरु होगा, उसमे गुरुत्व तो होना चाहिए ? जैसे मिठास के बिना शक्कर हो ही नहीं सकती, नमकीनपन के बिना नमक हो नहीं सकता, उसी प्रकार गुरुत्व के बिना गुरु हो नही सकता।"

शिक्षकों मे कमी

विषयो के बारे मे कम-से-कम इतना तो है कि शिक्षक एक-दो विषय की जानकारी रखते है। लेकिन उद्योग के बारे मे तो वे शून्य ही होते है। केवल शून्य ही होते है, ऐसा नहीं, अपितु जब उन्हे कहा जाता है कि वे पहले छह घण्टा खेती और कताई का अभ्यास करें, तो इसमे वे अपनी विद्वत्ता का अपमान देखते और कहते है कि हम तो तालीम देना चाहते

है, वह भी नयी तालीम की पद्धति से। वे अपने को विद्वान् मानते है और उस कारण बुद्धिमान् भी। वे यह भी मानते है कि नयी तालीम का मतलब है, उद्योग द्वारा शिक्षा। उद्योग द्वारा शिक्षण ही नयी तालीम है तथा उद्योग मे पूर्ण दक्षता प्राप्त करना अनावश्यक मानते हुए भी वे बुद्धिमान् और विद्वान् हैं, मनोविज्ञान के इस गूढ तत्त्व को समझना मेरे जैसे अनपढ आदमी के लिए कितना कठिन है, यह तुम समझ सकती हो। इस प्रकार हमने देखा कि नयी तालीम के शिक्षक तैयार करना एक अत्यन्त जटिल समस्या है। आज नयी तालीम की जो प्रगति नही हो रही है और हमारी चेष्टाएँ असफल हो रही हैं, उसका मुख्य कारण यही है। खादीग्राम मे नयी तालीम का काम चलता है। आजकल पढे-लिखे लोग भी मुझे 'तालीमवाला' मानने लगे हैं। इसलिए पिछले तीन साल मे बहुत-से पढे-लिखे लोग मेरे पास आये। लेकिन जब उन्हे मालूम हुआ कि श्रम का अभ्यास करना होगा, उद्योग सीखना होगा, सो वह भी ऐसे लोगो से जिन्हे मूर्ख की सजा दी जा सकती है, तो एक-एक करके सब चले गये।

मायावी संसार की लीला

मै जब साथियो से तथा दूसरे विद्वान् जनो से बात करता हूँ, तो वे कहते है कि नयी तालीम के सिद्धान्त तो तर्कशुद्ध तथा अत्यन्त वैज्ञानिक है, लेकिन कही उसे सफल करके दिखाइये, तो हम भी आये। अर्थात् देश के विद्वान् मानते हैं कि नयी तालीम शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से वैज्ञानिक है, आर्थिक दृष्टि से आवश्यक है और अनिवार्य रूप से इसकी सामाजिक प्रयोजनीयता है, लेकिन पहले मूर्खों को बटोरकर उनके द्वारा इस वैज्ञानिक प्रयोग को सफल कर ले, तब वे इसमे शामिल होगे। इतने पर भी वे विद्वान् ही रहेंगे। हम सब उन्हे ऐसा ही मानते भी है। इस मायावी ससार की यही लीला है। तमाशे की बात तो यह है कि अगर कही कदाचित् कोई अच्छा पढा-लिखा इस काम को अपनाता है, तो अपने बच्चो को पब्लिक स्कूल मे भरती कराकर दूसरो के

बच्चो को लेकर इस तालीम का प्रयोग करता है। वे इसलिए ऐसा करते हैं कि उन्हे नयी तालीम पर श्रद्धा है। श्रद्धा न होती, तो वे अपने को इस काम मे लगाते क्यो ?

बापू ने सम्भवत इस परिस्थिति को देखा था। बापू की तीक्ष्ण दृष्टि नि सन्देह इस स्थिति को समझ चुकी थी। इसीलिए उन्होने कहा था कि नयी तालीम के शिक्षक विश्वविद्यालय मे नही मिलेगे, बल्कि गॉव के लोहार, बढ़ई, बुनकर, दस्तकार और कलाकारो मे से नयी तालीम के शिक्षक प्राप्त करने होगे। परन्तु यहाँ दूसरी कठिनाई है। वह यह कि उन्हे विषयो की जानकारी नही है। दूसरे, नयी तालीम के पीछे जो सामाजिक मान्यता है, वह उन्हे मान्य नही है। आखिर नयी तालीम कोई कोरी शिक्षण-कला तो है नहीं, वह एक जीवन-दर्शन है, सामाजिक क्रान्ति का वाहन है। वर्ग निराकरण की प्रक्रिया के रूप मे ही नयी तालीम का स्थान है। यही कारण है कि बापू, विनोबा से लेकर हम सब लोग कहते है कि नयी तालीम द्वारा हम जहाँ शिक्षा मे अहिसक क्रान्ति करते है, वहाँ इससे समाज मे भी अहिसक क्रान्ति करना चाहते है। गॉव के कलाकारो की सामाजिक मान्यताऍ भिन्न है। उत्पादक श्रम का समाज मे छोटा स्थान है, ऐसा वे मानते है। वे भी अपनी लडकी के लिए जब वर ढूँढने निकलते है और कही अमीर घर मे वर पा लेते है, तो अपने साथी और रिश्तेदारो से खुश होकर कहते है कि हमने ऐसा अच्छा वर ठीक किया है, जिसके घर मेरी बेटी को एक गिलास पानी भी अपने हाथ से उठाकर नहीं पीना पडेगा। ऐसी मान्यताएँ रखनेवाले दस्तकार शिक्षक कैसे होगे ? रणीवॉ में और उसके बाद खादीग्राम मे मैने यह प्रयोग किया। लेकिन देखा कि पढ-लिखकर शिक्षक बन जाने से वे अपने हाथ से उतना भी काम करना नही चाहते, जितना मध्यम-वर्ग से आये हुए पढे-लिखे लोग करने को तैयार रहते है। इस कारण मैने गॉव के दस्तकारो को शिक्षक बनाने का प्रयास छोड दिया है। मै

शिक्षक कहॉ मिलेगे ?

मानता हूँ कि जब तक उच्च कोटि के पढे-लिखे मेधावी नवजवान विचार तथा सकल्पपूर्वक सालो तक श्रम की साधना नही करेगे तथा उद्योग का अभ्यास और जानकारी प्राप्त करने को तैयार नही होगे, तब तक नयी तालीम शिक्षा-क्षेत्र मे आकर्षक वस्तु के रूप मे रह जायगी। इसका सफल प्रयोग कही नही होगा।

अतएव नयी तालीम के शिक्षको मे काम शुरू करने से पहले निम्न-लिखित क्रम होना आवश्यक है :

तीन बातें आवश्यक

(१) नयी तालीम यानी अहिसक समाज-रचना के लिए वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया को मानकर ही क्षेत्र मे उतरें। पुरानी मान्यताओ को रखते हुए किसीको नयी तालीम के क्षेत्र मे आना ही नही चाहिए।

(२) कम-से-कम साल-दो साल तक उत्पादक श्रम का अभ्यास तथा कृषि और किसी-न-किसी एक उद्योग का गहरा ज्ञान प्राप्त करना।

(३) औद्योगिक ज्ञान-प्राप्ति के साथ मौके पर समवाय-पद्धति से सामान्य विज्ञान तथा समाज-विज्ञान का व्यापक अध्ययन करना।

ये तीन बाते हो जायॅ, तो नयी तालीम के शिक्षक तालीम के काम को सफलतापूर्वक कर सकेगे।

हॉ, एक बात और। विचार की मान्यता से भी पहले जरूरी यह है उसकी प्रकृति की ओर बच्चे आकर्षित हो, ऐसे स्वभाव का होना। कोई

शिक्षक का स्वभाव

कह सकता है कि अगर स्वभाव की शर्त लगायी जाय, तो वही हाल होगा कि 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।' लेकिन बात ऐसी नही है। अगर हम इस बात को समझ ले कि शिक्षण-कला, सगीत, नृत्य, चित्रकला आदि से अधिक बारीक ललित कला है, और देश मे जिस तरह सगीत सिखाने के लिए कण्ठ तथा ताल-बोधवाले लोग ढूँढे जाते है, उसी तरह शिक्षण, प्रशिक्षण के लिए शिक्षण, प्रकृति का मनुष्य ही खोजा जाय,

तो देश मे जितने शिक्षक चाहिए, उतनी सख्या मे उस प्रकृति के मनुष्य मिल जायँगे। आज तो इस प्रकृति के हजारो लोगो मे कोई मिनिस्टर है, कोई एम० एल० ए० है, कोई डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिस्पेलिटी का सदस्य है, कोई दूकानदार है और हजारो तो दफ्तरो के क्लर्क हैं और कुछ विकास-योजनाओ मे सेवक हे। ऐसा इसलिए है कि हमारे देश मे जो शिक्षाक्रम चल रहा है, उसमे किसी भी प्रकार का सयोजन नही है।

समवाय-शिक्षण की समस्या

इस बार बुनियादी शाला के निरीक्षण के सिलसिले मे मेरे सामने आयी—समवाय शिक्षण की समस्या। नयी तालीम का ही क्यो, शिक्षा-मनोविज्ञान का भी सिद्धान्त यह है कि कोई ज्ञान ऊपर से आरोपित न किया जाय, बल्कि बच्चो की जिज्ञासा के उत्तर मे ही ज्ञान-चर्चा हो। हम मानते हैं कि यह जिज्ञासा वास्तविक रूप से तभी पैदा हो सकती है, जब बच्चा उत्पादन की प्रक्रिया मे सृष्टि के आनन्द का अनुभव करे। साथ ही साथ वह उत्पादन उसकी जिन्दगी के लिए दिलचस्पी का विषय हो। इसी मनोवैज्ञानिक तत्त्व के कारण ही आज के शिक्षाशास्त्री बापू की नयी तालीम के प्रति इतने आकर्षित है। वे इसी एक पहलू को मानते है। नयी तालीम के आर्थिक तथा सामाजिक विचार को नहीं मानते। लेकिन जब हमने बुनियादी शाला के बच्चो को उत्पादन-पद्धति से ज्ञान देने का कार्यक्रम अपनाया, तो हमे कृत्रिम उपायो का अवलम्बन लेना पडा। बच्चे हमारे साथ काम करते थे। चूँकि हम लोग सब मेहनत से काम करते थे, इसलिए उनमे उत्साह था, परन्तु उत्पादन मे उन्हे दिलचस्पी नहीं थी, क्योकि उनके जीवन के पोषण आदि समस्याओ के समाधान के साथ खादीग्राम की खेती तथा उद्योग के उत्पादन का कोई समवाय नही है। बचो के खर्च के लिए उनके माता-पिता रकम भेजते थे और वे यहाँ पढते थे। काम मे विविधता के कारण बचो को जो दिलचस्पी थी, उसका प्रकार वही था, जो खेल-कूद का होता है।

अतएव खेती के सिलसिले मे पौधे की बाढ कुछ कम होती थी, धान के बयान मे वृद्धि रुकती थी या कहीं कोई कीडा लगता था, तो उन्हे परेशानी नही होती थी। परेशान हुए बिना कारण ढूँढने की प्रवृत्ति और इसके बिना जिज्ञासा का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसलिए हम लोग खेती-वारी मे काम करते थे और उसके समवाय के विभिन्न विपयो के ज्ञान का नोट तैयार करते थे, फिर बच्चो को बताते थे। पौधा ठीक से बढ नहीं रहा है, यह उसे दिखाते थे, कीडे लगने की बात बताते थे और उसका कारण भी बताते थे। इस तरह हमारी समवाय-प्रक्रिया चलती थी। इस प्रक्रिया को तुम सब लोग शायद समवाय कह सकोगे, लेकिन सहज जिज्ञासा-जनित न होने के कारण यह तरीका समवायी होने पर भी आरोपित ही है।

आरोपित उपाय

यद्यपि मुझे इस तरीके से सन्तोप नही था, फिर भी मै शिक्षको को इसके लिए प्रोत्साहित करता था। क्योकि मै मानता था कि जो आज स्कूलो मे किताब रटाकर पढा देते है, उससे तो यह अच्छा ही है। अधूरी होने पर भी इस प्रकार की बुनियादी शाला मे मुख्य दिलचस्पी इसलिए थी कि मै देखता था कि समवायी पद्धति से शिक्षको के ज्ञान का विकास हो रहा है। मेडिकल कॉलेज मे अधूरा सीखे हुए छात्रो को भी रोगी के इलाज का काम दिया जाता है। उसका उद्देश्य इलाज करना उतने महत्त्व का नही होता है, बल्कि चिकित्सा-प्रशिक्षण ही मुख्य उद्देश्य होता है। साथ-साथ रोगियो को भी कुछ लाभ हो जाता है।

इस प्रकार की समवाय-पद्धति को मै काफी महत्त्व देता हूँ और चाहता हूँ कि देश मे काफी तादाद मे इस प्रकार की बुनियादी शालाएँ हो। इससे तीन लाभ तो अवश्य ही होगे :

समवाय-पद्धति के लाभ

(१) पुरानी तालीम छोडकर नयी तालीम की ओर का एक समाधानकारक नमूना उपस्थित होगा।

(२) जो बच्चे इसमे से निकलेगे, उनको श्रम-

सम्बन्धी पुरानी मान्यताएँ छोडना आसान होगा, जिससे वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया को बल मिलेगा।

(३) शिक्षकों की तैयारी का एक आधार मिल जायगा।

इस प्रकार सस्थागत नयी तालीम के प्रयोग मे हम सब लग गये। इसीके दौरान मे अगस्त १९५८ मे सर्व-सेवा सघ ने चालीसगॉव की अपनी बैठक मे अपने काम को सर्वजन-आधारित करने का सकल्प किया। खादीग्राम सर्व-सेवा-सघ का प्रधान केन्द्र है, इसलिए इसका भविष्य क्या हो, यही मुख्य चिन्तन का विषय हो गया। इसके हल के लिए हम किस दिशा मे सोचते रहे और क्या करते रहे, यह बात अगले पत्र मे लिखूँगा।

○ ○ ○

हुजूर को मजूर बनाने का स्वप्न साकार : ८ :

श्रमभारती, खादीग्राम
२४-१-'५९

पिछले एकाध वर्ष से मै अनुभव करने लगा था कि सस्थाओ के स्वरूप मे सामूहिक परिवार का निर्माण होना सभव नही है। मै जब यह कहता हूॅ, तो बहुत से मित्र मुझसे कहते है कि यदि आप ऐसा मानते हैं कि सस्था के विभिन्न कार्यकर्ताओ का मिलकर एक कुटुम्ब नही बन सकता है, तो आप किस मुॅह से गॉव के परिवारो को मिलाकर एक कुटुम्ब बनाने की बात करते है? ऊपर से यह सवाल बहुत ठीक मालूम होता है। लेकिन थोडा गहराई से विचार करने पर समझ मे आ जायगा कि जिन परिस्थितियो के कारण सस्था मे परिवार-भावना निर्माण नही हो पाती है, गॉव की भूमिका मे वह परिस्थिति नही रहती। सबमे बडी चीज यह है कि देहात के लोगो के दो घर नही होते। जैसे सस्था के अधिकाश लोगो का दिल घर पर और शरीर तथा दिमाग संस्था मे रहता है, गॉव के लोगो का ऐसा नही होता। वे जनमते है उसी गॉव मे। जब से वे चलना सीखते हैं, तब से आपस मे दोस्ती करते है, खेलते-कूदते और मरते भी हैं, तो उसी गॉव मे। आजीवन साथ रहने से उनके स्नेह-सम्बन्ध सहज हो जाते हैं। कालक्रम मे यदि वह सबन्ध टूटता है, तो सिर्फ व्यक्तिगत सम्पतिवाद के चलते। अगर यह चीज हट जाय, तो जन्म से मृत्यु तक सहजीवन के कारण परिवार-भावना के लिए आवश्यक परस्पर स्नेह-सम्बन्ध सहज रूप से अपने-आप पैदा हो सकता है। सस्था मे इसका अवसर नही मिल पाता है। दूसरी बात यह है कि सस्था के लोगो की जीविका परस्पर अवलबित नहीं है, क्योकि वे अलग-अलग किसी सचित निधि के आश्रित होते है। कृषिप्रधान देश होने के नाते गॉव के लोग

उत्पादन प्रक्रिया मे एक-दूसरे का सहयोग करने के लिए विवश होते है। इसलिए भी पारस्परिक भावना निरन्तर जाग्रत रहती है। ये दो मुख्य परिस्थितियाँ ऐसी है, जिनके आधार पर गॉव मे परिवार भावना निर्माण करने की बात सोची जा सकती है। सस्था मे इन्हीं दोनो बुनियादी चीजो की कमी होने के कारण वहाँ ऐसा नही सोचा जा सकता।

समवेतन और साम्ययोग

मै लिख चुका हूँ कि बिहार खादी ग्रामोद्योग सघ ने जब समवेतन का प्रस्ताव स्वीकार किया, तो मेरा चिन्तन समवेतन और साम्ययोग के प्रश्नो पर तेजी से चलता रहा। मै ऐसा महसूस करने लगा कि खादीग्राम मे साम्ययोग का जो प्रयोग करते थे, वह साम्ययोग नही है। यद्यपि हम समान वेतन लेते थे, फिर भी उस वेतन का इलाके की जनता की आमदनी से कोई सम्बन्ध नहीं था और न निकट भविष्य मे उसका मान अपने समान करने का कोई भरोसा था। ऐसी हालत मे हमारे यहाँ का प्रकार भी समवेतन है, साम्ययोग नहीं, ऐसा मानने लगा था। अगर समवेतन ही है, तो मै यह सोचने लगा कि एक प्रदेश के भिन्न-भिन्न सर्वोदयी सस्थाओ मे अलग-अलग प्रकार क्यो हो ? बिहार मे खादी ग्रामोद्योग सघ सबसे बडी सस्था है, जिसमे तीन चार हजार कार्यकर्ता हैं। हमारे यहाँ सिर्फ २०-२२ कार्यकर्ता है। मुझे ऐसा उचित लगा कि हम भी अपने समवेतन का प्रकार वैसा ही कर दे, जैसा बिहार खादी-ग्रामोद्योग सघ मे है। जब कुटुम्ब-निर्माण सम्भव नहीं लगा और कृत्रिम रूप से वैसा करने की चेष्टा मे आरोहण के बजाय अवरोहण की सम्भावना दिखाई देने लगी, तो जीवन के विकास के लिए वैसा ही करना ठीक लगा। अतएव हमने खादीग्राम मे भी बिहार मे चालू समवेतन की प्रथा लागू कर दी। मैने अपने साथियो से कहा कि सस्थाओ मे परिवार बनाने की चेष्टा तो नहीं करनी है, लेकिन एक सभ्य समाज तो बनाना ही है। सास्कृतिक पडोसी-धर्म सभ्य समाज की पहली कसौटी है। एक-दूसरे के सुख-दु ख मे सहानुभूतिपूर्ण सहयोग

उसकी प्रक्रिया है। खादीग्राम के जीवन मे अब से कुटुम्ब-साधना के बजाय पडोसी-धर्म की साधना करनी होगी। मुझे खुशी है कि यहॉ के साथी अब धीरे-धीरे उस दिशा मे आगे बढने की कोशिश कर रहे है।

पिछले पत्र मे मैने चालीसगॉव के प्रस्ताव की प्रतिक्रिया बताने की बात लिखी थी। बीच मे सोचा कि खादीग्राम के जीवन मे इधर जो परिवर्तन हुआ, उसकी चर्चा पहले कर ले, तो अच्छा होगा।

चालीसगॉव के प्रस्ताव के अनुसार सर्व-सेवा सघ के सभी केन्द्र, सभी प्रवृत्तियॉ सर्वजन-आधार से चलनी चाहिए। जो न चल सके, उसे या तो बन्द कर देना चाहिए या दूसरी किसी स्थानीय सस्था

खादीग्राम की को दे देना चाहिए। चालीसगॉव की प्रबन्ध समिति

व्यवस्था का प्रश्न मे ही सवाल उठा कि सर्वजन-आधार से प्राप्त यानी

सर्वोदय-पात्र, सूताजलि, सूत्रदान तथा अन्य श्रमदान का जो छठा हिस्सा सर्व-सेवा-सघ को मिलेगा, उससे दफ्तर के खर्च के अतिरिक्त खादीग्राम जैसी विभिन्न प्रवृत्तियॉ भी चलायी जा सकेगी क्या ? उस बैठक मे बिहार के भाई बैजनाथ चौधरी भी शामिल थे। उन्होने कहा कि यह सभव नही होगा। फिलहाल अगर दफ्तर ही चल जाय, तो काफी मानना चाहिए। मैने उनसे कहा कि "फिर खादीग्राम चलाना आप लोगो के ही जिम्मे रहा।"

खादीग्राम लौटा। साथियो से कहा कि दो ही विकल्प है, पूरी श्रम-भारती को स्वावलम्बी बनाना या सर्वजन-आधारित कर देना। दोनो मे से एक भी न हो सका, तो किसी दूसरी सस्था को सौप देना। इस पर कई दिन तक कार्यकर्ताओ मे रोज चर्चा होती रही, लेकिन हम सब किसी निर्णय पर नही पहुँच सके। उमग स्वावलम्बन की थी, क्योकि हम जिस क्षेत्र मे बैठे है, वह अत्यन्त गरीब आदिवासियो का क्षेत्र है। अतः सर्वजन-आधार की कल्पना भी नही की जा सकती थी। इस पथरीली भूमि मे इतने बडे पैमाने के कार्यक्रम को स्वावलम्बी बनाना सम्भव नही दिखाई देता था। इस कारण चर्चा ही चलती थी, उसमे से कुछ निष्पत्ति

नही निकलती थी। उधर मै प्रान्त के सर्वोदयी नेताओ से भी सम्पर्क कर रहा था। बिहार मे सर्वोदय के कुल काम के मार्ग-दर्शन के लिए एक सर्वोदय-मडल बना हुआ है। मैने उसके मत्री श्यामबाबू को लिखा कि खादीग्राम के भविष्य के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कोई बैठक बुलाये। बिहार खादी-ग्रामोद्योग सघ के अध्यक्ष ध्वजाभाई को भी मिलने के लिए लिखा, क्योकि बिहार मे रचनात्मक काम के सबसे बडे चिन्तक वे ही है। श्यामबाबू मिले। सारी बातो पर चर्चा करने के बाद उनकी राय यही रही कि खादीग्राम को सर्वजन-आधारित बनाने की कोशिश सफल नही होगी। अत इसे खादी-ग्रामोद्योग सघ को सौप दिया जाय। ध्वजाभाई ने कहा कि खर्च भले ही ग्रामोद्योग सघ दे, नाम तो सर्व-सेवा-सघ का ही चलना चाहिए। इसका अखिल भारतीय रूप कायम रखने की उनकी इच्छा थी। लेकिन यह कैसे हो सकता था? खादी-ग्रामोद्योग सघ खर्च दे, तो सर्वजन आधारित कैसे हो जायगा? अगर सर्व-सेवा सघ के नाम से चलाना है, तो प्रस्ताव को तो अमल मे लाना ही होगा न? ऐसी अनेक चर्चाएँ चलती रही।

जिले के कार्यकर्ताओ से वार्ता

सन् १९५६ मे जब मैने अपने साथियो के सामने गॉव मे विलीन होने की परिकल्पना रखी थी, उसी समय से मै जिला के सर्वोदय-कार्यकर्ताओ से कहता आ रहा था कि उन्हे खादीग्राम की जिम्मेदारी को उठाने की तैयारी करनी चाहिए। जब वे कहते थे कि आचार्य होने के लिए आदमी कहॉ से मिलेगा, तो उनसे यही कहता था कि जिस जिले से एक ही साथ प्रदेश का मुख्यमन्त्री तथा कांग्रेस का अध्यक्ष मिल सकता है, उस जिले से एक शिक्षण केन्द्र का आचार्य नही मिल सकेगा क्या? सन् १९४६ मे जब मैने रणीवॉ से करणभाई और बाकी साथियो को सेवापुरी मे नये केन्द्र-स्थापना के लिए भेज दिया था, तो किस तरह रणीवॉ गॉव के ही युवको के हाथ उस केन्द्र को सौपा था, उसकी कहानी पहले लिख चुका हूॅ। आज भी वही गॉव है। लोग उसे

केवल चला ही नही रहे है, वल्कि कम-से-कम दसगुना वढा भी चुके है। अगर रणीवॉ को एक गॉव के लडके सॅभाल सकते हैं, तो खादीग्राम को एक जिले के लोग क्यो नही सॅभाल सकते ? मै तो मानता हूॅ कि जिला ही क्यो, अगर जन-शक्ति का उद्‌वोधन हो जाय, तो हर थाना खादीग्राम जैसे केन्द्र का भार उठा सकता है। सन् '५७ मे श्रमभारती परिवार की पद-यात्रा के प्रारम्भ मे वरियारपुर मे जो जन-सभा हुई थी, उसमे मैने कहा था कि जनता की श्रम-शक्ति यदि जम जाय, तो मै हर थाने मे एक खादीग्राम खोलने की जिम्मेवारी ले सकता हूॅ। यह वात तुम्हे याद होगी। मै तो अभी भी मानता हूॅ कि अगर चालीसगॉव के प्रस्ताव पर गम्भीरता पूर्वक अमल किया जाय, तो जिलेभर मे इतना सगठन जमाना कठिन नही है, जिससे खादीग्राम सर्वजन-आधारित हो सके।

इन्हीं विचारो से प्रेरित होकर मैने मुॅगेर जिला के निवेदक भाई रामनारायण वावू को लिखा कि वे यहॉ के भावी स्वरूप पर चर्चा करने के लिए जिले के सर्वोदय-मण्डल की वैठक बुला ले। उन्होने खास-खास कार्यकर्ताओ की एक वैठक खादीग्राम मे बुलायी। मैने उनके सामने अपना विचार रखा। लेकिन जिले के कार्यकर्ताओ को इतना वडा हाथी पचाने की हिम्मत नही हुई। लेकिन वे यह चाहते थे कि सघ के प्रस्ताव के अमल का कोई तरीका निकले। काफी चर्चा के वाद राम-नारायण वावू ने कहा कि अगर आप अपने काम को विकेन्द्रित कर जिले के विभिन्न हिस्सो मे वॉट दे, तो यह सम्भव है। मैने पूछा कि फिर खादीग्राम का क्या होगा ? तो सवकी राय यह रही कि इसे कृषि तथा उद्योग-शिक्षण केन्द्र के रूप मे परिणत किया जाय और खादी-ग्रामो-द्योग सघ को सौप दिया जाय। मुझे यह विचार पसन्द आया और मैने कहा कि मैं इस पर विचार करूॅगा।

चालीसगॉव का प्रस्ताव तथा रामनारायण वावू के सुझाव से मानो

मेरे हाथ चॉद लग गया। ऐसा लगा कि अब वर्षों के स्वप्न का कोई साकार रूप देखने को मिलेगा। तीस साल से समग्र शिक्षण-कार्य का ग्राम-सेवा की ओर की जो यात्रा चल रही है, उसकी विकेन्द्रीकरण भी शायद आखिरी मजिल मिले। वैसे दो साल से सोच ही रहा था, लेकिन निर्णय स्थगित करने का कुछ न-कुछ कारण हो जाता था। मैने निर्णय किया कि इस अवसर का पूरा लाभ उठाया जाय और ग्राम-केन्द्रित नयी तालीम का श्रीगणेश कर ही लिया जाय। ईश्वर जो कुछ कराता है, सब लाभकारी होता है। अगर हम 'पूर्वकल्पना के अनुसार '५७ मे ही निकलकर गॉव मे बैठते, तो शायद निराश होना पडता। अकालग्रस्त जनता हमारा क्या स्वागत करती? फिर भाई राममूर्ति और दूसरे साथी बाहर के होने के कारण जिले से परिचित नही थे, अत जिले की जनता को उनका आकर्षण नहीं होता। खादीग्राम का परिचय तो उन्हे था, पर वह परिचय दूर का था। वे खादीग्राम आते थे, यहॉ की व्यवस्था और विराट् स्वरूप देखकर आश्चर्यचकित होते थे। यहॉ की चीजो का उन्हे आकर्पण अवश्य था। हमारे लिए उनमे आदर भी था, लेकिन इन सबके पीछे राजसी सम्मान था, सात्त्विक स्नेह नहीं। खादीग्राम के भाई-बहन तथा बच्चो की पद-यात्रा से हमे देहाती जनता का भरपूर प्रेम और स्नेह मिला। मुझे ऐसा लग रहा है कि गॉव मे विलीन होने के लिए ईश्वर की ओर से यह पूर्वयोजना थी। '५७ मे बाहर निकलने की योजना न करके अब करने का एक दूसरा लाभ हुआ। उस समय वह हमारा अकेले का प्रयास होता। यह कदम विनोबा की प्रेरणा से तथा सर्व-सेवा सघ के प्रस्ताव के होने के कारण आज राष्ट्रीय योजना का अग बन गया। इसलिए देश-भर की शुभ कामनाओ की पूँजी हमारे साथ रहेगी। कल्याणकारी राज्य-वाद के युग मे अलग से जन-आधारित काम का विचार समझाना भी कठिन होता। आज सर्वोदय-पात्र के व्यापक प्रचार के कारण वह आसान हो गया। इस प्रकार कुल मिलाकर खादीग्राम के शिक्षण-कार्य

को विकेन्द्रित कर सर्वजन-आधारित करने का निर्णय समयानुकूल ही रहा। इस कारण इसकी सफलता मे मुझे सन्देह नही रहा।

सन् १९५६ की जनवरी मे जब गॉव मे जाने की योजना सुनायी थी, तो हमारे सामने सर्वजन-आधार का प्रस्ताव नही था। इसलिए उस समय की योजना धीरे-धीरे आगे बढने की थी। लेकिन अब तो ३० जनवरी से ही कदम उठाना है, अतः जल्दी से सपरिवार देहात के नागरिक बनकर बैठने का विचार स्थिर हुआ। यह किस तरह हो, उसकी प्रक्रिया क्या हो आदि बातो को सोचने लगा।

यह तो सम्भव नहीं होगा कि हम तुरन्त गॉव मे जाकर ग्रामशाला या ग्रामभारती का काम शुरू कर दे। कम-से-कम सालभर तो वातावरण बनाने मे ही लगेगा। उसके बाद जहॉ शुरू करेगे, वहॉ पूर्व-बुनियादी तथा अधिक-से-अधिक बुनियादी के एक या दो वर्ग बन सकेंगे। अतः अपने बडे बच्चो की चिन्ता हुई। खादीग्राम के करीब सभी कार्यकर्ताओ के चले जाने पर यहॉ बुनियादी शाला नही चल सकेगी। अपने बच्चो को गॉव की पुरानी तालीम की शाला मे नही भेज सकते हैं। अतः नयी तालीम ही चाहिए। इसलिए दूसरे प्रान्तो मे चालू व्यवस्था मे ही अपने बच्चो को भेजना है, ऐसा निर्णय किया। खादी-ग्रामोद्योग सघ के तथा बिहार के दूसरे लोगो के बच्चो को मुजफ्फरपुर नयी तालीम भवन मे भेज दिया। अपने लडको को सेवापुरी मे व्यवस्था करके वहॉ भेजने की बात सोची। यद्यपि तालीमी सघ के दिल्ली के प्रस्ताव तथा सर्व-सेवा-सघ के चालीसगॉव के प्रस्ताव के अनुसार कदम उठाने के कारण खादीग्राम की बुनियादी शाला बन्द करनी पडी, फिर भी इस प्रकार की शाला चलनी चाहिए, ऐसी बात मै हमेशा कहता रहता हूँ, इसलिए मैने सोचा कि जब सेवापुरी भी मेरे ही मार्गदर्शन मे चलता है, तो नयी तालीम के पहले ढॉचे का प्रयोग हम सेवापुरी मे ही करे। ऐसा सोचकर करणभाई को लिखा कि वे जल्दी ही

बडे बच्चो की व्यवस्था

वहाँ छात्रावास की व्यवस्था करे। यह भी लिखा कि भविष्य मे वहाँ के प्रयोग मे मैं खुद समय दूँगा। करणभाई ने मेरे प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत किया।

मैंने सेवापुरी जाकर वहाँ के काम की नये सिरे से पुनर्गठन की योजना बना दी, ताकि वे तदनुसार व्यवस्था कर सके। वहाँ से लौट-कर अपने बडे लडको को सेवापुरी भेज दिया। सेवापुरी मे किसी योग्य कार्यकर्त्री के न होने से लडकियो की व्यवस्था वहाँ न हो सकी। महिलाश्रम अपनी ही सस्था है। लेकिन वहाँ खेती का काम नही होता है। जिस युग मे युग पुरुष कहता है कि देश के प्रधानमत्री को भी अपने हाथ से कुछ समय खेती करनी चाहिए, उस युग मे नयी तालीम के नाम से चलनेवाली सस्था के शिक्षक तथा शिक्षार्थी अगर नियमित खेती न करे, तो उसे हम नयी तालीम कैसे कहे? यह सही है कि वहाँ कताई और बुनाई का अच्छा प्रबन्ध है। यह प्रबन्ध तो आज पुरानी तालीम की सभी कन्यापाठशालाओ मे हो रहा है। महिलाश्रम मे खेती का अभाव मुझे खटकता था। महिलाश्रम की देखभाल भाई राधाकृष्ण करते है। पहले से ही आश्रम की सचालिका रमादेवी तथा भाई राधाकृष्ण से खेती के लिए कहता रहा हूँ। इस बार और अधिक जोर देकर कहा। परन्तु उन्हे यह मान्य नही होता था। काफी चर्चा के बाद उन्होने इतना माना कि खेती की भीड के समय वे चार-पाँच घण्टे समय उसमे दे सकते हैं, जिससे सालभर का औसत एक घण्टा खेती के लिए हो जाय। पहले कदम के लिए इतने सुधार पर समझौता करके अपनी बडी लडकियो को वहाँ भेज दिया।

मुझे ऐसा समझौता करते देख मुझे जाननेवाले लोगो को कुछ आश्चर्य होगा, फिर भी मैने अपनी बडी चार लडकियो के लिए समझौता किया। तुम पूछ सकती हो कि ऐसा क्यो किया? जैसा कि मै हमेशा कहता हूँ कि ससार मे कोई भी वस्तु निरपेक्ष नही है। नयी तालीम के सर्वजन-आधार तथा सार्वजनिक स्वरूप की प्राप्ति मे सफलता के लिए

एक आवश्यक बुराई के रूप मे मैने इसे स्वीकार किया। लेकिन उनसे कुछ कम उम्र की लडकियो को भाषा की दिक्कत के बावजूद बगाल के बल्रामपुर मे भेज दिया, क्योकि वहाँ कृषि तथा कताई मूल उद्योग माना जाता है।

बडे बच्चो की व्यवस्था करने के बाद हम लोगो ने अपना पूरा ध्यान गॉव मे बसने की ओर लगाया। भगवान् परोक्ष मे हमारे इस कदम की तैयारी कर रहा था। '५८ के मार्च मे खादीग्राम के पुराने कार्यकर्ता भाई सुरेन्द्रसिंह का मेरे पास एक पत्र आया कि उनके गॉव भागलपुर जिला स्थित चटमाडीह ने ग्रामदान का सकल्प किया है और अधिकाश परिवार दान-पत्र भर चुके है। यह गॉव मुँगेर जिले की सरहद पर है। पत्र मे उनका आग्रह था कि गॉववालो का मार्गदर्शन मै करूँ।

चटमाडीह का ग्रामदान का संकल्प

चटमाडीह का ग्रामदान बिहार के लिए एक महत्त्व का विषय था। यह गॉव कुलीन राजपूतो का है। मध्यम-वर्ग का गॉव है। विषमता भरपूर है। गॉव मे पढे-लिखे नौजवान काफी हैं। उनमे बहुत-से बाहर नौकरी करते है। कुछ लोग बी० ए०,बी० एस-सी०तथा एम० ए०, एम० एस-सी० पास है। काग्रेस तथा सोशलिस्ट पार्टी के चोटी के नेता उस गॉव के निवासी हैं। एक भाई जिला बोर्ड के अध्यक्ष रह चुके है। आज कौसिल के मेम्बर है। इलाका अत्यन्त रूढिग्रस्त होने के कारण जाति-पॉति, पर्दा प्रथा आदि का कडाई से पालन होता है। राजपूत होने के नाते गरीब लोग भी अपने हाथ से काम करने को नफरत की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे गॉव के लोग ग्रामदान का विचार मान्य करते है, यह बात आन्दोलन की बहुत बडी सफलता है। यह काम लक्ष्मीबाबू जैसे सन्त और तपस्वी द्वारा ही सम्भव था।

भाई सुरन्द्र के पत्र के बाद गॉव के दस-बारह नौजवान मुझसे खादीग्राम मिलने आये। तीन दिन रहकर सारी योजना के बारे मे गहराई

से चर्चा की। उन्होने जो योजना बनायी थी, उसे देखकर लगता था कि यह भारत सरकार की ही योजना है। अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी होने के कारण खर्चे का अन्दाज-पत्रक लाख-डेढ लाख रुपया हो गया था। मैने उन्हे समझाया कि न कही से यह पैसा मिलेगा और न मिलने पर वह उन्हे पचा सकेगे। तीन दिन तक ग्रामदान का मतलब समझाया। मैने कहा कि "केन्द्रवाद के निराकरण के लिए ही तो ग्राम-स्वराज्य का आन्दोलन है। जब तक आप लोग सामूहिक पुरुषार्थ का निर्माण नही करेगे और केन्द्रीय शासन के भरोसे अपना विकास करने की बात सोचेगे, तब तक आप लोगो को ग्राम-स्वराज्य की दिशा नही मिलेगी, परस्पर सद्भावना का भी निर्माण नही होगा, कुटुम्ब-भावना तो दूर की बात है।"

लाख-डेढ लाख की योजना

उन्होने दलील दी। ऐसी दलील करीब-करीब सभी साथी देते है। खादीग्राम के साथी तो इसी प्रश्न पर आये दिन मुझसे झगडते रहते है। उनकी दलील यह थी कि गॉव तो रिक्त हो गया है, इस समय अगर बाहर का साधन नही मिलेगा, तो वे अपना निर्माण कैसे करगे ? मैने कहा कि "सम्पत्ति से रिक्त हो गया, पर श्रम से नही। अगर वे सामूहिक श्रम का सगठन करे, तो उन्हे विशाल शक्ति का दर्शन होगा। शुरू मे बाहर के कुछ साधनो की शायद आवश्यकता हो, लेकिन उनसे मदद मिलेगी, उनका भरोसा नही होगा। भरोसा तो आत्मशक्ति का ही रखना होगा। मैने 'हिन्द-स्वराज्य' का उदाहरण दिया और बताया कि सैकडो वर्ष की गुलामी तथा शोषण के कारण भारत रिक्त हो गया है, कगाल हो गया है, फिर भी भारत को अपने विकास के लिए अपना ही भरोसा करना होगा, यदि अपनी स्वतन्त्रता कायम रखनी है तो।"

मैने उनसे कहा कि "जब कभी भारत सरकार के अधिकारी धन के लिए अमेरिका जाते है, तो आप भी तो उनकी टीका करते है कि वे देश को बेचने जा रहे है। भारत जैसे पिछडे देश को बाहर की मदद अवश्य चाहिए, लेकिन अगर उसी मदद के भरोसे देश का विकास होगा,

तो उस मदद के जरिये गुलामी की जंजीरें भी अवश्य पहुँचेंगी। अतः भारत को अपनी गरीबी के भीतर भी अपना ही भरोसा रखना होगा। ऊपर से थोड़ी मदद ली जा सकती है। इसके बिना हिन्द-स्वराज्य टिक नहीं सकता।"

मैंने यह भी कहा कि "आपके यहाँ तो अभी ग्राम-स्वराज्य हुआ ही नहीं, संकल्पमात्र है, उसे कायम करना है, फिर बाद को टिकाने का सवाल है। अतएव यद्यपि बाहर से दो-चार हजार रुपये की मदद ले सकते हैं, फिर भी आत्मशक्ति के भरोसे ही अपने काम की योजना बनाइये।" तीन दिन की चर्चा से वे मेरी बात समझे और मूल दृष्टि के कायल हुए।

इन युवकों की माँग के अनुसार अप्रैल में दो दिन के लिए मैं चटमा गया। चटमा के सभी लोगों से चर्चा की। ग्रामदान के विभिन्न पहलू मैंने उन्हें बताये। इस बीच गाँव के लोगों के उत्साह में भी कुछ स्थिरता आ गयी। वे दो दिन गम्भीरता-पूर्वक चर्चा करते रहे। कुछ लोग ग्रामदान के बारे में पुनर्विचार भी करते रहे। चर्चा से बहुत-से लोगों में जो गलतफहमियाँ थीं, वे दूर हुईं, शंकाओं का निराकरण हुआ। तसल्ली भी हुई। लेकिन स्थिरता से विचार करने के बाद कुछ लोगों ने दानपत्र वापस ले लिये। उन्होंने कहा कि "हमारी सद्भावना है, हमें यह विचार मान्य है, पर फिलहाल साहस नहीं हो रहा है।" मैंने उनकी इस भावना का स्वागत किया।

कुछ दानपत्र वापस

परिवार तथा समाज का मध्यबिन्दु स्त्री होती है। हमारे देश में उसे 'गृहलक्ष्मी' कहा गया है। वह 'चण्डी माई' भी कही जाती है यानी वह शक्ति होती है। जिस घर की स्त्री बनानेवाली होती है, वह घर गरीबी में भी बन जाता है। अगर स्त्री बिगाड़नेवाली होती है, तो लाख कमाई होने पर भी घर बर्बाद हो जाता है। यही कारण है कि पिछले ३५ साल से

बहनों का जागरण

राष्ट्र-निर्माण के काम मे स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री सुधार को मुख्य काम माना है। तुम्हे मालूम है कि मै इस काम मे विशेष रूप से लगा रहता हूँ। चटमा निवासियो ने मेरा दो दिन का व्यस्त कार्यक्रम रखा था, लेकिन वहाँ की बहनो से मिलने का कोई कार्यक्रम नही रखा था। दूसरे दिन शाम को मैंने कहा कि "गॉव की बहनों की एक बैठक होनी चाहिए, क्योंकि मैं उनसे बात करना चाहता हूँ।" मैने उनसे कहा कि "अगर आप स्त्रियो को अलग रखकर नयी समाज-रचना करना चाहेगे, तो पूर्ण रूप से असफल होगे। केवल पुरुष विचार कर सकते है, कमाई भी कर सकते है और अधिक से अधिक कुछ गुण-विकास कर सकते है, लेकिन वे समाज-निर्माण नहीं कर सकते। स्त्री-पुरुष दोनों से समाज बनता है। स्त्री उसका रचनात्मक अग है, क्योकि बच्चे की जिम्मेदारी उसी पर रहती है।"

मेरे कहने पर रात को नौ बजे उन्होने बहनो को बटोरा। मैने उनसे प्रश्न किया कि "बाबू लोगो ने ग्रामदान करते समय तुम लोगों से पूछा था क्या?" कुछ ने 'हॉ' कहा, कुछ ने 'ना' कहा। फिर मैने उनकी भाषा में ग्रामदान के बारे मे भिन्न-भिन्न पहलुओ पर प्रकाश डालते हुए उन्हें बताया कि उनका क्या कर्तव्य है। उस दिन तीसरे पहर की सार्वजनिक सभा मे मैने कहा था कि बाबू लोग आज काम नहीं करते है, उन्हे भी खेत मे जाकर काम करना होगा। नहीं तो वे आज की परिस्थिति मे भूखे मर जायॅगे। उस सभा मे कुछ बहने भी थीं। मैने उन्हे सभा का स्मरण कराते हुए पूछा कि "आप लोगो की खेत मे जाकर धान रोपने की तैयारी है क्या?" रात को घर की औरते खेत पर जाकर धान रोपें, यह बात सुनना भी इस देश के लोग पाप मानते हैं। इसलिए इस प्रस्ताव पर काफी खलबली मची। उसी गॉव के सुरेन्द्र भाई की पत्नी खादीग्राम मे रहकर धान रोप चुकी थी। मैंने उनसे पूछा—"उसने जो रोपाई की, उससे उनका क्या बिगडा?" कुछ ने 'हॉ' किया, लेकिन और सभी बहने तरह तरह की शकाएँ करने लगीं। बाहर निकलेगे, तो

लोग क्या कहेगे ? रिश्तेदारी में क्या स्थिति रहेगी ? लड़कियो की शादी कैसे होगी, आदि प्रश्न उठने लगे। आज से पचीस साल पहले राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो मे छुआछूत का सवाल लेकर ऐसे ही प्रश्न उठते थे। मैंने उनसे पूछा कि "जब गाधीजी ने छुआछूत के खिलाफ आन्दोलन चलाया था, और उस गॉव के जिन लोगो ने चमारो के हाथ का खाना खाया था, क्या वे आज समाज से बाहर निकाल दिये गये हैं ? क्या उनकी लडकियो की शादियॉ रुक रही हैं ? तो गाधी के शिष्य विनोबा अगर उनको खेत में जाकर काम करने को कहते है और वे करते हैं, तो उनका क्या बिगडेगा ? हर जमाने मे सन्त महापुरुष उस युग के लिए आवश्यक बात करने को कहते है, शुरू-शुरूमे लोग डरते हैं, पर कुछ लोग हिम्मत कर जाते हैं। चूँकि हिम्मत करनेवाले जमाने की मॉग के साथ होते है, इसलिए वे हमेशा आगे ही रहते है। तो अगर चटमा के लोगो ने ग्रामदान की हिम्मत की है, तो उन्हे हर बात के लिए आगे रहना चाहिए।" बहनो पर कुछ असर हुआ। मैंने उनसे कहा कि "तुम लोग सब-की-सब दस दिन की ट्रेनिङ्ग के लिए खादीग्राम चलो, तो मैं सबको पक्का कर दूंगा।"

खादीग्राम में बहनों की ट्रेनिंग

जुलाई मे धान-रोपाई के मौसम मे मैंने उन्हे खादीग्राम बुलाया। ४०-४५ बहने यहॉ आकर एक सप्ताह तक रहीं। प्रतिदिन उनसे वैचारिक चर्चा करता रहा। यहॉ के वातावरण से हिल मिलकर भी उन्होने बहुत कुछ समझा। खादीग्राम की बहनों और बच्चो के साथ उन्होने खेत मे खाद की ढुलाई की, मिट्टी खोदकर तथा ढोकर खेतो की मेड बनायी और धान की रोपाई की। ये सब काम उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ किये। चलते समय मैने उनसे पूछा कि "तुमने यहॉ तो ये सब काम किये, पर घर पर भी करेगी क्या ? मैं यहॉ के काम को कोई महत्त्व नही देता। जो लोग जगन्नाथपुरी मे जाकर सबका छुआ भात खा लेते है, वे गॉव मे नहीं खाते। खादीग्राम मे अगर यह काम

कर लिया, इसलिए अपने गॉव मे भी कर सकेगी, ऐसा भरोसा है क्या ?" मुझसे उन्होने वादा किया कि वे अपने गॉव मे भी करने की हिम्मत कर सकती हैं, लेकिन मुझसे वे एक शर्त चाहती थीं। उन्होने कहा कि "अगर मै वहॉ बैठ जाऊॅ, तो उनकी तैयारी हर काम को करने की है।" मैने उन्हे बताया कि "मुझे बुलाना आसान काम नही है, मैं तो हाथी हूॅ। हाथी पाल्नेवाले को उसकी खुराक जुटानी पडती है न।" उनमें से एक बहन बोली कि "हम सब मिलकर खुराक बटोर लेगी।" इस तरह वादा करके वे अपने गॉव को वापस गयीं। मैने उस गॉव की स्वराज्य समिति के मत्री भाई गुडेश्वर सिह से कहा कि "जिस समय धान-रोपाई शुरू हो जाय, वे सूचित करे, तो मैं गॉव मे आ जाऊॅगा।"

चालीसगॉव की बैठक चल रही थी। गुडेश्वर भाई का तार आया कि "१५ अगस्त के दिन वे रोपनी-समारोह करना चाहते है और चाहते है कि मै वहॉ पहुॅच जाऊॅ।" सम्मेल्न से सीधे १४ अगस्त की दोपहर को चटमा पहुॅचा। पहुॅचकर देखा कि गॉव मे तथा आस-पास काफी खलबली मची हुई थी। भाई गुडेश्वर तथा दूसरे भाइयों को बडी परेशानी थी। उनको विश्वास नही हो रहा था कि सातपटी गॉव के बीच मे चटमा की बहने निकलकर धान-रोपाई करेगी। गॉव के अधिकाश लोग इस चिन्ता मे भी थे कि यह काम होना भी चाहिए कि नहीं। इस प्रकार की डॉवाडोल मन स्थिति स्वाभाविक थी। ३० साल से आन्दोलन के सदर्भ मे उस बात का पूरा अनुभव हो गया था कि बडे-बडे हिम्मतवाले सिपाही, जो राष्ट्रीय आजादी की लडाई मे अपने को असीम खतरे के मुॅह में डाल चुके है, वे भी सामाजिक रूढियॉ तोडने के समय घबराते रहे हैं और उनमें से अधिकाश रूढियो के आगे नतमस्तक हो जाते थे। हॅसते-हॅसते छाती पर गोली खानेवालो को भी इस मोर्चे पर हिम्मत हारनी पडती थी। अतः अगर चटमा के भाइयो को घबराहट थी, तो इसमे आश्चर्य की बात कुछ नहीं थी।

बहने निकलकर धान-रोपाई

बहनों से मिला। वे सब १५ अगस्त के झण्डोत्तोलन के समारोह मे शामिल हुईं। मेरे भाषण का असर हुआ। समारोह के बाद बहनों से रोपाई करने के लिए चलने को कहा, तो वे सब वहीं से जुलूस निकालकर खेत मे चली गयीं। कुछ के घरवालो ने जब मना किया, तो उन्होने जवाब दिया कि वे खादीग्राम मे वचनबद्ध हो चुकी हैं, इसलिए जायँगी। मै तबीयत खराब होने के कारण खेत से जल्दी ही लौट आया। बहनें दो खेतों को पूरा करके मेरे पास प्रणाम करने के लिए आयीं। मैंने उनसे कहा—"दिग्विजय करके आ गयीं न?" उन्होंने हँसकर उत्तर दिया-"हाँ"।

नौ दिन तक लगातार रोज सुबह बहने रोपाई करती रहीं। धीरे-धीरे दूसरी पट्टी के लोग खेतो के चारों तरफ भीड लगाकर भूदान के गीत गाती हुई बहनो को देखने लगे। कुछ राजपूत तो खेत मे जाकर खुद भी रोपनी करने लगे।

बारह वर्ष का स्वप्न साकार

इस प्रकार १५ अगस्त १९५८ को देश मे एक बडी क्रान्ति की बुनियाद पडी। ग्राम-स्वराज्य का सकल्प हुआ। पिछले बारह साल से देशभर में 'हुजूर' और 'मजूर' की परिस्थिति समझाते हुए मैं यह आवाज बुलन्द करता रहा कि हुजूरों को मजूर बनना है। आज उस प्रक्रिया के प्रत्यक्ष श्रीगणेश से मुझे अत्यधिक आनन्द हुआ। दो साल पहले खादीग्राम के पास लमेत गॉव मे राजपूत बहनों ने जो रोपनी की थी, उसमे से कुछ अधिक निष्पत्ति नहीं निकल सकी थी। अत्यन्त गरीब होने के कारण उनके पुरुष लोग दूसरी जगह मजदूरी करने जाते थे। उनके निकलने से समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पडा। गरीब होने के कारण उनके मन मे भी विशेष उत्साह नहीं था। भीतर से उन्हे लगता था कि मानो गरीब होने के नाते इस काम के लिए मजबूरी है। इसलिए थोडी देर काम करके वे चली जाती थीं। उन बहनो से बात करने पर ऐसा नहीं लगता था कि उन्हें नया

काम करने का गर्व है। इसलिए यद्यपि उनका निकलना भी हिम्मत का काम था, फिर भी इलाके मे कुछ खास असर नहीं हुआ था। चटमा की बहनो के निकलने से इलाकेभर पर बहुत अधिक प्रभाव पडा। केवल इलाके मे ही नहीं, अपितु जिला और प्रदेश में भी उसकी शोहरत हुई। वस्तुत: रणीवॉ से प्रारम्भ कर खादीग्राम तक श्रम-साधना की जो चेष्टा चल रही थी, उनसे मे गुण-विकास तो हो रहा था, कार्यकर्ताओं का मानस भी बन रहा था। लेकिन उसका असर जगन्नाथ क्षेत्र मे छुआछूत निवारण जैसा ही था। सामाजिक सदर्भ मे होने के कारण चटमा के काम को मैने अपने जीवन का श्रीगणेश ही माना।

नौ दिन बाद चटमा से लौटते समय सब बहनो को एक साथ बुलाया, उनसे कहा कि धान कटनी के समय फिर आऊँगा। उस समय वे और अधिक सख्या मे तैय्यार रहे, ऐसा भी मैंने उनसे आग्रह किया। चार महीने बाद उसी इलाके के तीन थानो में श्रमदान-यात्रा का आयोजन रखा। दो टोलियो की यात्रा चली। एक टोली मेरे साथ,

सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार

दूसरी भाई राममूर्ति के साथ। इस बार इलाके में मानो धूम मची हुई थी। गॉव-गॉव मे पचासो और सैकडो की तादाद मे हजारो वर्षों की रूढि तोडकर औरते हाथ मे हॅसिया लेकर धान काटने को निकल रही थीं। नौगॉई गॉव मे तो अजीब दृश्य था। वहॉ के नौजवानो ने ही रूढि तोडने की प्रक्रिया के खिलाफ सगठन किया। बहनो की तैयारी थी। बहने एक तरफ से निकलती थीं और नवयुवक उन्हे रोकते थे, फिर बहने दूसरी ओर से निकलने की कोशिश करतीं, वे उधर से रोकते थे। मानो गोरिल्ला लडाई चल रही थी। अतएव इन तमाम रोक-थाम के बावजूद ३५ बहनो ने जाकर धान-कटनी की। उनमे कई नौजवान 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा लगानेवाले थे। सब समाजवाद को ही माननेवाले थे। तुम देख सकती हो कि जमाना कितना बदल रहा है, पर्दे के भीतर क्रान्ति की आवाज से दूर रहनेवाली बहनो को किसने चेतना

दी। जिले के दूसरे इलाकों के कार्यकर्ता इसे देखने आते थे और दंग रह जाते थे। वे पूछते थे कि "भाईजी, ऐसा हुआ कैसे?" मैं उन्हे जवाब देता था कि "जमाने की आवश्यकता करा रही है, हम लोग निमित्त-मात्र हैं।"

एक भाई ने पूछा "अगर जमाने की आवश्यकता करवा रही है, तो दूसरे क्षेत्रो मे ऐसी बाते क्यो नहीं होती हैं?" इसका मैंने यह उत्तर दिया कि "दूसरे क्षेत्रो मे भी ऐसा होगा, आवश्यकता इस बात की है कि कोई निमित्त बने, कार्यकर्ता इसे शुरू करे। दिक्कत यह है कि कार्यकर्ता स्वय ही रूढि-ग्रस्त है। चाहे वे सर्वोदय के प्रचारक हो या समाज-वाद के। उनकी मान्यताएँ तो पुरानी ही हैं। यह पुरानापन केवल पिछले जमाने का ही नहीं, बल्कि पिछले से पहले का है। क्योकि उनकी मान्य-ताएँ केवल पूँजीवादी समाज की ही नहीं, बल्कि काफी अश मे सामन्त-वादी समाज की भी है। इसलिए सामाजिक क्रान्ति के लिए कदम बढ़ाने का उन्हे स्वय ही साहस नहीं होता है, दूसरों को प्रेरणा तो क्या दे! दूसरी सामाजिक मान्यताओ को छोड दीजिये, केवल श्रम की ही बात लीजिये। मै बारह साल से 'हुजूर' और 'मजूर' का नारा लगा रहा हूँ। विनोबा वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया के लिए पिछले पाँच साल से यहाँ तक कह रहे है कि देश के प्रधान मत्री को भी भूमि पर जाकर शरीर-श्रम करना चाहिए। बापूने पिछले चालीस साल से, साबरमती आश्रम की स्थापना के समय से वाणी और कर्म द्वारा कार्यकर्ताओ को दीक्षा दी थी, फिर भी आज कितने भूदान-कार्यकर्ता नियमित शरीर-श्रम करते हैं! वे गॉव मे रहते हैं, उनके सामने गॉव के किसान खेत मे जाते है, लेकिन उनके साथ जाने मे शायद शर्म आती होगी। इसी बार मैंने देखा कि हमारे कुछ कार्यकर्ताओ ने ही अपनी पत्नी को कटनी के लिए नही भेजा।" इस तरह की चर्चा कई कार्यकर्ताओ से हुई।

कार्यकर्ताओं का दोष

आज भूदान के कार्यकर्ताओ मे कई लोग निराशा का अनुभव करते

है। कहते है कि भू-क्रांति ठंडी पड गयी है। लेकिन वे देखते नहीं है कि आज गॉव-गॉव मे जरा-सी पुकार पर लोग किस तरह क्रान्ति की राह पर आगे बढते है। वे देखते नहीं कि गॉव-गॉव के लोगो की मान्यताएँ किस प्रकार बदल गयी है। लोग सोचते हैं कि यह होकर रहेगा, वे देखते नहीं कि देश के राजनीतिक जीवन की मायूसी के बावजूद सर्वोदय की सभाओं मे हजारो की तादाद मे लोग जुटते है। लोग कहते हैं कि १९५२ मे क्रान्ति का जोर था। क्या १९५३ मे गॉव-गॉव के लोगों मे यह आकर्षण था? क्या हमारी बातो को इतनी अनुभूति मिली थी? क्या उन दिनो सामाजिक क्रान्ति के आह्वान पर लोग इस तरह निकलते? मैं मानता हूँ कि ऐसा नहीं होता, क्योकि उन दिनो भी मै कमर में दर्द के होते हुए भी देहातो मे घूमता था। बात यह है कि उस समय कार्यकर्ताओ का दिल और दिमाग गर्म था, आज वही ठण्डा पड गया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनो मे भी कार्यकर्ताओ मे ऐसी ही चर्चाएँ चलती थीं। १९२४ मे काग्रेस के बडे-बडे नेता कहते थे कि गाधी का तरीका असफल रहा। बम फेंकने का काम करने की रुचि या हिम्मत नहीं थी, तो माडरेटवाला वैधानिक आन्दोलन कुछ अधिक गरम भाषा मे करने लगे। सन् १९३२ के बाद काग्रेस के जोशीले नौजवान गाधी मे क्रान्ति का अभाव देखकर समाजवाद मे क्रान्ति की खोज करने लगे। आज इस आन्दोलन के कार्यकर्ताओ को गाधी के शिष्य विनोबा के कार्यक्रम मे निष्पत्ति नहीं दिखाई दे रही है, तो उसमे आश्चर्य ही क्या है? आखिर नौजवान तो नौजवान ही है न? वह अधीर होता है, उसे तुरत कुछ दिखाई देना चाहिए। सो भी वह जहाँ है, वहीं बैठकर दिखाई देना चाहिए। देखने के लिए जनता के अन्दर उसे घुमने की आवश्यकता नहीं है। यह सही है कि जवानो की यह अधीरता प्रगति का लक्षण है, लेकिन उन्हे समझना चाहिए कि क्रान्ति कोई घटना नहीं है, वह आरोहण की प्रक्रिया है।

इस प्रकार कटनी-यात्रा ने इलाकेभर मे क्रान्ति की एक लहर

दौड गयी। भू-दान के लिए भी वे जागरूक हुए। गाँव-गाँव से प्रतिष्ठित

कटनी-यात्रा का सुफल

लोग मेरे पास आकर कहने लगे कि "हमे रास्ता बताइये। हम काम करने को तैयार हैं।" मैंने उन्हे आश्वासन दिया और कहा कि वे अपना काम करे और हमारे कार्यकर्ताओ को सर्वजन आधार मे पचा सके, तो खादी-ग्राम के भाई-बहन भी इलाके मे रह सकते हैं। उनके आग्रह पर अपने दो साथियों को मैंने उस क्षेत्र में भेज दिया।

तुम पूछोगी कि क्षेत्र मे भेजने की क्या प्रक्रिया है? चालीसगाँव के प्रस्ताव के बाद जो विकेन्द्रीकरण का निर्णय किया, उसकी योजना क्या है, इत्यादि। इस बारे मे तो अभी हमारा दिमाग जोरो से चल रहा है। कुछ कर भी रहे हैं। आगे के लिए दूर तक की योजना सोच रहा हूँ। मैंने कहा था कि आन्दोलन का यह समय अज्ञातवास का समय है और मै मानता हूँ कि यह समय कम-से-कम ५ साल तक रहेगा। मै स्पष्ट देख रहा हूँ कि १९६२ के आम चुनाव के अवसर पर दलगत राजनीति का जो दर्शन मिलेगा, उससे जनता परेशान होगी। वह रास्ता ढूँढने के लिए व्याकुल होगी। अज्ञातवास से तुम लोगो को उस अवसर के लिए अपनी तैयारी करनी है। पिछले साल मैंने खादीग्राम के साथियो से कहा था कि "क्रान्ति के आरोहण में अज्ञातवास की आवश्यकता होती है और उसका सयोजन करना पडता है। वैसे भी स्वाभाविक रूप से अज्ञातवास होता है। नेतृत्व की सिफत इसीमें है कि वह उसे सयोजित बनाये, नहीं तो अज्ञातवास का उत्कट निराशावाद मे परिणत होने का खतरा है।"

इस अज्ञातवास के सयोजन के लिए मैं क्या-क्या सोच रहा हूँ, फिर कभी लिखूँगा।

●

देहातो की सेवा का प्रमाण-पत्र आसानी से नहीं मिलता। वहाँ हमे रात-दिन अतन्द्रित रहकर काम करना होगा।

जब हम देहात मे जायँगे, तो हमारे सामने एक विराट् जगत् खुलेगा। अनेक स्त्री-पुरुषो से सम्पर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणो की तरफ ही जाना चाहिए। दोषों की तरफ प्रवृत्ति हरगिज न होनी चाहिए।

सेवको को सभी वादों और पक्षों से अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे संसार मे दो ही पक्ष है—एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी। हमे स्वामी की सेवा से ही सन्तोष मानना है। यही सेवक का धर्म है। सेवक को दलबन्दियों से क्या मतलब? उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए।

ग्राम-सेवक को प्रतिदिन कुछ समय—सम्भव हो, तो आधा समय उद्योग के लिए देना चाहिए। उसे ग्राम-सेवा का अंग ही समझना चाहिए।

—विनोबा